
MIMANSA DARSHAN

(Hindi)

अनुक्रम

भाष्यकार का निवेदन

६

प्रथम अध्याय

प्रथमः पादः	२३
द्वितीयः पादः	५७
तृतीयः पादः	११४
चतुर्थः पादः	१५६

द्वितीय अध्याय

प्रथमः पादः	१६७
द्वितीयः पादः	२४४
तृतीयः पादः	२६०
चतुर्थः पादः	३२३

तृतीय अध्याय

प्रथमः पादः	३५६
द्वितीयः पादः	३६०
तृतीयः पादः	४३४
चतुर्थः पादः	४८६
पञ्चमः पादः	५३५
षष्ठः पादः	५७८
सप्तमः पादः	६१६
अष्टमः पादः	६६३



आचार्य उदयवीरशास्त्री मीमांसा-दर्शन के तीन अध्यायों का ही भाष्य कर पाये। इसे पूरा करने के उद्देश्य से स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती कृत 'षड्दर्शनम्' से मीमांसा-दर्शन के शेष अध्यायों के सूत्र तथा हिन्दी अनुवाद इसमें सम्मिलित कर दिये हैं।

भाष्यकार का निवेदन

न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, वेदान्त, इन पाँच दर्शनों के भाष्य तथा सांख्य-दर्शन का इतिहास एवं वेदान्तदर्शन का इतिहास और सांख्यसिद्धान्त, इन ग्रन्थों के प्रकाशित हो जाने पर मीमांसादर्शन का भाष्य लिखने का अवसर आया। मीमांसादर्शन का कलेवर अन्य पाँच दर्शनों के मिश्रित कलेवर से भी ड्योढ़ा है। मेरा अनुमान था कि परिश्रमपूर्वक लिखते हुए और ऐसे कार्यों में जो अनेक प्रकार की विघ्न-बाधाएँ आती रहती हैं उनको लौघते हुए इस दर्शन का भाष्य लगभग आठ-नौ वर्ष ले लेगा। भविष्यत् का किसी को पता नहीं, फिर भी इस लम्बे और दुरूह कार्य को करने के लिए तत्पर हो गया।

प्रभु का ध्यान करते हुए एवं गुरुचरणों के आशीर्वाद की भावना से प्रेरित होकर दिनांक १४/२/१९८० को यह कार्य प्रारम्भ कर दिया। लगभग साढ़े पाँच वर्ष में जब-जब अन्य कार्यों से समय मिलता रहा, इसके लिखने में लगाता रहा। इतने समय में तीन अध्याय पूरे लिखे जा सके, जिनमें कुल मिलाकर १६ पाद हैं।

मीमांसा के कलेवर के अतिरिक्त मेरे सामने बड़ी समस्या यज्ञ में आमिष के प्रयोग की रही है। जिन पशुओं के आमिष का प्रयोग यज्ञों में बताया जाता है, वे हैं अज, मेष और वशा। इनको हिन्दी में बकरा, मेढ़ा और गाय कहते हैं। जिस वातावरण में रहते हुए मैंने शिक्षा प्राप्त की, वहाँ यज्ञों में आमिष के प्रयोग को अतिनिन्दित कार्य माना जाता है। मेरे लिए यज्ञ में आमिष के प्रयोग की समस्या का समाधान अत्यन्त दुरूह था।

ईसवी सन् १९८४ में पानीपत आर्यसमाज का शताब्दी-समारोह आयोजित हुआ था। उसमें वैदिक श्रौत कर्मों के विशेषज्ञ विद्वान् महाराष्ट्र प्रदेश से आमन्त्रित किये गये थे। मुझे भी उस समारोह में उपस्थित होने का सुअवसर प्राप्त हुआ। महाराष्ट्र के ये विशेषज्ञ कर्मकाण्डी विद्वान् युधिष्ठिर मीमांसक की प्रेरणा से बुलाये गये थे। शताब्दी के अवसर पर मीमांसक जी के सम्पर्क में उन विद्वानों के प्रमुख महानुभाव के साथ चर्चा करने का मुझे अवसर मिला। बातचीत के सिलसिले में उन महानुभाव से ज्ञात हुआ कि यज्ञ में आमिष का जो प्रयोग किया जाता है, उसकी मात्रा तीन-चार माशा या अधिक-से-अधिक छः माशा होती है।

आहुति देते समय आमिष से आठ गुना घृत स्रुवा में रखा जाता है। यह ज्ञात होने पर मेरी अन्तरात्मा में अचानक यह भावना जाग्रत हुई कि यदि इतना ही आमिष यज्ञ के लिए उपयोगी है तो इतने आमिष के लिए पशु को मारा क्यों जाता है ? क्योंकि इतना आमिष तो पशु को बिना मारे ही उससे प्राप्त किया जा सकता है। उन विद्वान् महोदय से तो मैंने उस समय कुछ नहीं कहा, पर मेरा विचार इस ओर को दृढ़ होता गया कि आमिष-आहार के प्रति उत्सुकता व लालसा की पूर्ति के लिए याज्ञिकों ने यज्ञ में आमिष की आहुति देने की निमित्त बना लिया। वैदिक अनुष्ठानों के प्रति सर्वसाधारण जनता में बड़ी उच्च भावना रही है। उन अनुष्ठानों को सम्पन्न करानेवाले याज्ञिकों के प्रति भी जनता का ऊँचा आदरभाव रहा है। याज्ञिकों ने अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए शास्त्रीय सन्दर्भों में ऐसे पदों का सम्मिश्रण किया और अनेक पदों के मनमाने अर्थ किये। यज्ञ के नाम पर की गई हिंसा को अहिंसा बताया।

इन तीन अध्यायों में यज्ञ में आमिष के प्रयोग की चर्चा सर्वप्रथम तृतीय अध्याय के छठे पाद के २७वें सूत्र से प्रारम्भ की गई है। यह उस पाद का सातवाँ अधिकरण है। सूत्रों की व्याख्या जो सूत्र-पदों और प्रसंग के अनुसार समझ में आई है, वह वहाँ लिख दी गई है। पहले व्याख्याकारों ने जिस प्रकार व्याख्या की है उसका विवेचन यहाँ प्रस्तुत है।

व्याख्यात अधिकरण में आचार्यों ने स्पष्ट आमिष का प्रयोग यज्ञ में निर्दिष्ट किया है। इसको 'पशुयाग' कहा गया है। प्रारम्भिक काल में पशुयाग का स्वरूप क्या रहा होगा, यह तो आज ज्ञात नहीं है, पर आज भी समस्त देशव्यापी कुछ संकेत ऐसे उपलब्ध हैं, जिनके आधार पर प्रारम्भिक काल के पशुयाग के वास्तविक स्वरूप की भाँकी सुझाये जाने में सहयोग मिल सकता है।

शास्त्रीय पद्धति के अनुसार 'दर्श' याग अमावास्या के दिन अनुष्ठित किया जाता है। उसी के अन्तर्गत 'पशुयाग' हैं। समस्त भारत में पशुसम्बन्धी एक प्रथा है—कृषि तथा कृषि-सम्बन्धी अन्य कार्यों में जिन पशुओं का उपयोग किया जाता है, उनको प्रतिमास अमावास्या के दिन पूर्ण विश्राम दिया जाता है। इतना ही नहीं कि उस दिन उनसे कोई काम नहीं लिया जाता, प्रत्युत ऋतु के अनुसार उन्हें स्नान कराया जाता है, प्रत्येक अंग को मलकर पानी से धूल, गोबर आदि को धोकर साफ किया जाता है। सींगों व खुरों को तेल से चुपड़ दिया जाता है। माथे, पार्श्वभाग व पुट्टों को रंग से चित्रित किया जाता है। कतिपय प्रान्तों में ग्राम की आबादी के अनुसार एक या अनेक समूहों में पशुओं का सम्मिलित जुलूस निकाला जाता या प्रदर्शन किया जाता है।

ये सब कार्य सर्वत्र एक-समान किये जाते हों, ऐसा तो नहीं है। कहीं सब व कहीं कुछ कम रहते हैं, पर पूर्ण विश्राम सर्वत्र समान है। आज यान्त्रिक काल में

यन्त्रों द्वारा कृषि किये जाने से इस प्रथा में कुछ ढील दिखाई देने लगी है, फिर भी कृषिजीव परिवार में यदि बँल हैं, तो इस प्रथा का आंशिक पालन अवश्य किया जाता है।

यह विशेष ध्यान देने की बात है कि समस्त भारत में एक ही दिन अमावास्या इस कार्य के लिए क्यों निर्धारित है ? क्या अमावास्या के दिन अनुष्ठित होनेवाले 'दर्श' याग के साथ तो इसका सम्बन्ध नहीं है ? शास्त्रीय पद्धति के अनुसार जिसके अन्तर्गत पशुयाग का किया जाना सदा मान्य रहा है। कदाचित् कहा जा सकता है कि अमावास्या मास का अन्तिम दिन होने के कारण कृषिसम्बन्धी पशुओं को विश्राम के लिए निर्धारित किया गया हो। पर यह ऐकान्तिक हेतु संगत प्रतीत नहीं होता क्योंकि उत्तर भारत में पूर्णमासी के दिन महीना पूरा माना जाता है, और उसी के आधार पर महीनों की गणना होती है। पर ज्योतिःशास्त्र के अनुसार मास की पूर्ति अमावास्या के दिन ही सर्वत्र मान्य है जो प्राकृतिक स्थिति के सर्वथा अनुकूल है। चन्द्र का एक कलासे बढ़ना प्रारम्भ होना, पन्द्रह दिन में पूरा बढ़कर फिर एक-एक कला घटकर पन्द्रह दिन में फिर वहीं आ जाना, यह अमावास्या के दिन महीना पूरा होना है; और 'दर्श' याग के साथ उसका अटूट सम्बन्ध है। समस्त भारत में अमावास्या के दिन समान रूप से कृषिसम्बन्धी पशुओं के पूर्ण विश्राम की अज्ञात काल से प्रचलित निरन्तर परम्परा किसी भी विचारक को इस तथ्य की ओर आकृष्ट होने के लिए बाध्य करती है कि इसका सम्बन्ध प्राचीनकालिक पशु-याग से रहना सम्भव है।

उस समय पशुयाग का स्वरूप क्या रहा होगा ? आइये, उसे समझने का प्रयास किया जाय। मीमांसाशास्त्र में यज्ञिय पशुओं को तीन भागों में बाँटा गया है— १. अग्नीषोमीय; २. सवनीय; ३. अनुबन्ध्य। इनके विषय में यथाक्रम विचार करना आवश्यक है।

१. अग्नीषोमीय— अग्नि और सोम दो देवताओंवाला पशु। पहले समझना है, अग्नि और सोम देवता क्या हैं ? शास्त्रों में देवताओं के विवेचन की लम्बी चर्चा उपलब्ध है, पर प्रस्तुत प्रसंग में सारभूत जो समझा है, वह इस प्रकार है— अग्नि द्युलोकस्थित सूर्य और भूमि के अन्तर्गत विद्यमान ऊष्मा का प्रतीक है। सोम अन्तरिक्ष में विद्यमान चन्द्रमा और भूमिगत जल तथा ऋतु-अनुसार बरसने वाले जलों का प्रतीक है। ये देवता समस्त ओषधि-वनस्पति के प्राण हैं, इन्हीं के आधार पर ये उत्पन्न होतीं, पनपतीं और फूलती-फलती हैं। इनको साथ लेकर ये देवता कृमि-कीट से लेकर विशाल प्राणियों तक सबके जीवनाधार हैं।

ओषधि-वर्ग में वे पौधे आते हैं, जो प्रतिवर्ष अंकुरित होते, फूलते-फलते और नष्ट हो जाते हैं। जंगलों में पैदा होनेवाली जड़ी-बूटियाँ और मानव द्वारा खेतों में बोकर तैयार किये जाने वाले समस्त अन्न ओषधि-वर्ग में आते हैं। जो एक बार

अंकुरित होकर पनपते, बढ़ते और वर्षों तक फूलते-फलते रहते हैं, वे वनस्पति-वर्ग में आते हैं। इन सबको अविरत बनाये रखने का आधार अग्नि और सोम देवता हैं।

इन देवताओं से सम्बद्ध यज्ञ निरन्तर अनादि काल से चल रहा है, आगे भी इसका कहीं अन्त नहीं है। अचिन्त्य शक्ति प्रभु ने इस प्राकृत जगत् की रचना यज्ञ-रूप में की है। मानव का इसमें कहीं स्थान है ? इसके लिए गीता (३।१०-१२) के निम्न श्लोक देखिये—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।

अनेन प्रसविष्यध्वमेध वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।

तैर्ब्रह्मण्यैर्देवा यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥

प्रजापति ने आदिकाल में यज्ञों के साथ प्रजाओं की रचना करके कहा, इस यज्ञ के द्वारा उत्पन्न करो सब जीवन-साधनों को; यह यज्ञ तुम्हारी अभिलषित कामनाओं को सदा पूरा करनेवाला होवे ॥१०॥

इस यज्ञ से देवों का सत्कार करो; वे सत्कृत देव जीवन-साधन देकर तुम्हारा सत्कार करें। इस प्रकार एक-दूसरे से सम्बद्ध रहते हुए परम कल्याण को प्राप्त करो ॥११॥

यज्ञ से संस्कृत देव तुम्हें तुम्हारे अभिलषित भोगों को प्रदान करेंगे। उन देवों को कुछ भी न देकर जो उनके दिये भोगों का उपभोग करता है, निश्चित ही वह चोर है ॥१२॥

हमें चोर न बनने के लिए यह समझना है कि प्रजापति के द्वारा रचना किया गया यज्ञ क्या है ? यह निश्चित है, जो खाद्य अन्न आज हम प्रयोग में लाते हैं, आदिकाल से ही वह ऐसा रहा हो, यह बात नहीं है। प्राकृत व्यवस्थाओं के अनुसार जंगली रूप में इन अन्नों का प्रादुर्भाव हुआ, इनके प्रादुर्भाव में अग्नि और सोम देवता का पूरा सहयोग रहता है। यह प्रजापति द्वारा रचा गया यज्ञ है। मानव ने जब सर्वप्रथम आँखें खोलीं, और स्वभावतः क्षुधा-तृषा आदि से संतप्त हुआ, उसने क्षुधा आदि की निवृत्ति के लिए उपाय ढूँढ़ निकाला। ओषधियों और वनस्पतियों के फलों की परीक्षा कर शत-सहस्र वार्षिक यज्ञों से उन्हें जीवनोपयोगी उत्तम खाद्यों के रूप में तैयार किया। सैकड़ों, सहस्रों वर्षों तक कृषि द्वारा परीक्षण व अनुसन्धान करते हुए उन्हें वर्तमान स्थिति तक पहुँचाया। यह प्रजा (मानव) द्वारा किया जानेवाला यज्ञ है। अधिक समय तक चलनेवाले अनुष्ठानों का नाम मीमांसा में 'सत्र' कहा गया है। मीमांसा में जो शत व सहस्र वर्षों के

नों का उल्लेख हुआ है, वे यही मानवों द्वारा किये गये यज्ञ हैं। देवों और प्रजा-नों की यज्ञ-सम्बन्धी पारस्परिक भावनाओं से सुपरिपुष्ट कल्याणमय संसार बाँध चल रहा है।

मानव-जीवन के सर्वप्रथम आवश्यक वस्तु अन्न-वस्त्र हैं। इनमें अन्न का पहला और वस्त्र का दूसरा स्थान है। यह निर्विवाद है, अन्न कृषि द्वारा तैयार किया जाता है। भारत देश अपने आदिकाल से कृषिप्रधान रहा है। वेद का उद्घोष है—**‘सौमं दीव्यः कृषिनिष्कृषस्व’** (ऋ १०।३४।१३)—जुआ मत खेलो, कृषि का आश्रय लो। इसका तात्पर्य व मुख्य उद्देश्य यह है कि आलसी बनकर श्रमहीन पायों से धन की आकांक्षा मत करो, कृषि आदि श्रमसाध्य उपायों का सदा आश्रय लो, और धन-सम्पदाओं में रमण करो (‘वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः’, दृ० १०।३४।१३)।

इस सब विवेचन से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि प्राचीन भारत में हाँ के मूल निवासी आर्यों ने कृषि को जीवनोपयोगी सर्वोत्तम साधन माना। गत वित्तियों से यह स्पष्ट हो जाता है, अग्नि और सोम कृषि के देवता हैं। बीज भूमि में पड़कर जल और ऊष्मा (सोम + अग्नि) के सहयोग से अंकुरित होकर भूमि के ऊपर को सिर निकालता है। आगे इन्हीं देवों के सहयोग से पनपता, फूलता-फलता अन्न में एक जीवनोपयोगी अनुपम सम्पदा को प्रस्तुत कर देता है।

अब विचारना यह है कि इन देवताओं का पशु कौन-सा है जो इस सम्पदा को उभारने में प्रधान सहयोगी है? यह किसी से छिपा नहीं, सर्वविदित वह पशु बैल है। बैल गाय से पैदा होता है, इसीलिए गाय को भारतीय संस्कृति में सर्वश्रेष्ठ पूज्य पशु माना गया है। इसकी श्रेष्ठता व पूज्यता में जहाँ उसके दूध का स्थान है, उससे पहले उसके बछड़ों का स्थान है। वह कृषि-जीवन में रीढ़ की हड्डी की तरह है। गीता के अनुसार इन यज्ञों का अनुष्ठान परम कल्याण को प्राप्त कराता है। इसीके अनुसार कृषि-यज्ञ के आधार बैल को कदाचित् पौराणिक कल्पना में शिव (कल्याण) की सवारी बताया है। सवारी आधार और सवार आधेय होता है। तात्पर्य हुआ—सामाजिक कल्याण बैल पर आश्रित है।

मीमांसा के प्रस्तुत अधिकरण (७) में यह विचार किया गया है कि जो पशु-धर्म सुने जाते हैं, वे कौन-से पशु के लिए कहे गये हैं? क्या वे किसी एक अग्नीषोमीय आदि पशु के लिए कहे हैं? या किन्हीं दो के लिए? (अग्नीषोमीय और सबनीय), अथवा सबके लिए (पहले दोनों में अनुबन्ध को मिलाकर)? निर्णय यह दिया गया है कि वे पशु-धर्म केवल अग्नीषोमीय पशु के लिए कहे गये हैं।

पशुधर्म से तात्पर्य है, यज्ञिय पशु के सम्बन्ध में यज्ञ के अवसर पर कर्तव्य-कर्म। वे निम्न रूप में कहे गये हैं—उपाकरण, उपानयन, श्लक्षण्या बन्ध, यूप-

नियोजन, संज्ञपन, विशसन आदि'। इनके अर्थ निम्न प्रकार किये जाते हैं—

उपाकरण—मन्त्रोच्चारणपूर्वक हाथ से अथवा कुशाओं से पशु का स्पर्श करना 'उपाकरण' कहाता है। एक स्थान से अन्यत्र ले-जाते समय प्रायः प्रत्येक ले-जानेवाला व्यक्ति पशु के पीठ, पार्श्व, पुट्टे, माथे या सिर आदि पर हाथ फेरता है। मानो उसे प्यार देता हुआ अगले कार्य के लिए प्रेरित करता है, इस साधारण लौकिक व्यवहार का वैदिक रूप उपाकरण है।

उपानयन—पशुशाला से यज्ञमण्डप की ओर पशु का लाया जाना 'उपानयन' है।

इलक्षणया बन्ध—चिकनी मुलायम रस्सी से पशु के अगले दाहिने पैर, सींग या सींगों अथवा गर्दन में पशु को बाँधना। यह कार्य पशुशाला से चलते समय अथवा यज्ञमण्डप पहुँचकर किया जाता है।

यूपनिबन्धन—यज्ञमण्डप के समीप पशु को बाँधने के लिए स्थापित किये गये यूप (खूँटा) में पशु को बाँधना 'यूप निबन्धन' है।

पशु-सम्बन्धी ये कार्य लोक-वेद में समान हैं; एक स्थान से दूसरे पर ले-जाने के लिए ये क्रिया साधारण हैं। यहाँ प्रश्न है, यज्ञमण्डप में पशु क्यों ले-जाये जाते थे? आज के पशुमेलों की तरह तो इन्हें नहीं कहा जा सकता। आज के पशुमेल केवल पशुओं की बिक्री के लिए जुड़ते हैं। परन्तु उस समय के पशुयागों के प्रसंग में उनकी बिक्री का कोई संकेत नहीं मिलता। सुना जाता है, कभी और कहीं सरकार की ओर से ऐसा आयोजन होता है, जहाँ पशुओं के स्वास्थ्य के आधार पर उनमें प्रतियोगिता रखी जाती है और सुन्दर-सुपुष्ट पशुओं को पुरस्कृत किया जाता है। ऐसे आयोजनों को पशु-सम्बन्धी याग ही समझना चाहिए।

उस अति प्राचीन काल में जब समस्त समाज का जीवन-आधार मुख्य रूप से केवल कृषि-उद्योग था, उस समय पशु-सम्पदा की सुपुष्टि और सुरक्षा के लिए ऐसे आयोजनों का होना अधिक सम्भव है। ज्योतिष्टोम या सोमयाग आदि ऐसे ही आयोजनों के साथ इसे रखा जाता होगा, क्योंकि उन आयोजनों में समाज के सशक्त संचालक व्यक्ति भाग लेते थे, और सर्वसाधारण के लिए उन आयोजनों का द्वार खुला रहता था। आज समस्त भारत में अमावास्या के दिन कृषि-सम्बन्धी पशुओं को पूर्ण विश्राम देना, उन्हें नहलाना, धुलाना, सजाना उसी तरह के पशु-याग का संकेत देता है। उसीका यह खण्डरात समझना चाहिए। इसे तात्कालिक पशुयाग की रूप-रेखा का कुछ अनुमान किया जा सकता है।

अभी तक की चर्चा से यह जाना कि अग्नीषोमीय पशु बँल है, उपाकरण

-
१. 'उपाकरणम्, उपानयनम्, इलक्षणया बन्धः यूप नियोजनम्, संज्ञपनम्, विशसनमित्येवमादयः'—शाबरभाष्य।

आदि धर्म उसीके विषय में बताये गये हैं। इससे यह युक्त प्रतीत होता है कि कृषि-जीवी समाज का यह प्रिय एवं प्रधान पशु था। क्या यज्ञमण्डप में ऐसे पशु को मारने के लिए लाया जाता था ? यह कदापि सम्भव नहीं है। अगली पंक्तियों से स्पष्ट होगा कि अन्य पशु-धर्मों का स्वरूप उस समय क्या रहा होगा। आज के भारतीय कृषिजीवी परिवार के—अमावास्या के दिन पशु-सम्बन्धी व्यवहार से जाना जाता है कि उस काल का कृषिजीवी परिवार अपने पशुओं को नहला-धुलाकर, सजाकर उस अवसर पर लाता था, उसमें प्रथम स्थान बैल का, दूसरा स्थान भेड़, बकरी आदि का, अन्तिम स्थान अन्य पशुओं का रहता था, जो केवल दूध देते, तथा बछड़े, बछिया व पठोरे जानवर। इनका विवरण मीमांसाशास्त्र के आधार पर अगली पंक्तियों में दिया गया है। वहाँ लाये गये सुपुष्ट-स्वस्थ पशुओं को पुरस्कृत किया जाता, व प्रशंसा एवं सत्कारपूर्वक विदा कर दिया जाता था। दुर्बल पशुओं के अंग-अंग की परीक्षा की जाती थी। उनकी दुर्बलता को दूर करने के लिए उपाय सोचे जाते, और उन्हें व्यवहार में लाने का पूरा प्रयास किया जाता था। इस प्रकार पशुओं के स्वास्थ्य की रक्षा के लिए प्रतिमास उनको एकत्र कर स्वास्थ्य-परीक्षा की जाती थी।

यह उपाकरण आदि चार पशुधर्मों के विषय में संक्षिप्त विचार किया। बताये गये शेष पशु-धर्मों पर भी दृष्टि डालिए। शाबरभाष्य के अनुसार शेष पशु-धर्म नामोल्लेखपूर्वक दो बताये हैं— १. संज्ञपन, २. विशसन। आगे 'इत्येवमादयः' कहकर कुछ धर्मों को छिपाकर रक्खा गया है।

संज्ञपन—इस पद का अर्थ सभी व्याख्याकारों ने 'मारना' किया है। कोप-कारों ने बताया, यह पद 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'ज्ञा' धातु से णिच्-ल्युट् प्रत्यय होकर 'पुक्' आगम के साथ निष्पन्न होता है। पाणिनि के धातुपाठ में 'ज्ञा' धातु तीन अर्थों में पढ़ा है— 'मारणं तोषणं निशामनेषु ज्ञा', तीन अर्थ हैं—मारण, तोषण, निशामन; मारना, तुष्ट करना, दर्शन करना या अवलोकन करना। इतने अर्थों में 'मारना' अर्थ ही क्यों लिया गया ? सन्तुष्ट करना या दर्शन एवं अवलोकन करना अर्थ क्यों नहीं लिये गये ?

ज्ञात होता है, उस अति प्राचीन काल में—जो यज्ञों का प्रारम्भिक काल था—'ज्ञा' धातु का प्रयोग 'मारण' अर्थ में न होकर शेष दो अर्थों में ही होता था। जब उन नृशंस क्रूर रसनालोलुप याज्ञिकों ने जाँच-परीक्षा, दर्शन, अवलोकन के लिए आनेवाले पशुओं में से कतिपय पशुओं को धर्म के नाम पर आहुत करना और खाना प्रारम्भ कर दिया, तब इस धातु के अर्थों के साथ 'मारण' को भी जोड़ दिया गया। यज्ञ की वास्तविक भावना को उपेक्षित कर दिया गया। ये लोग समाज में प्रभावी थे, समाज ने उसको सहन किया। पर इस कुकृत्य का समय-समय पर विरोध बराबर होता रहा है। बौद्ध धर्म का उद्भव इसी कुकृत्य के प्रतिक्रिया-

रूप हुआ। इन्द्रियाँ बड़ी बलवान् हैं। वहाँ भी अब व्यवहार में इसका कोई महत्त्व नहीं है।

तात्पर्य है, 'संज्ञपन' पद के पुराने वास्तविक अर्थ—तोषण व निशामन को मूला दिया गया; पर पाणिनि ने उसे सुरक्षित रक्खा। इससे स्पष्ट होता है, अमावास्या का दिन इस कार्य के लिए निर्धारित था कि उस दिन के इष्टि अनुष्ठानों के अवसर पर स्थानीय पशुओं की—स्वास्थ्य आदि की दृष्टि से—परीक्षा, जाँच-पड़ताल की जाये, जिससे राष्ट्र की पशु-सम्पदा स्वस्थ व सुरक्षित रहे।

ऐसे अवसर पर पशु केवल प्रदर्शनार्थ आते थे या उचित कार्यवाही के अनन्तर वापस कर दिए जाते थे? इसकी सत्यता के लिए अमावास्या के दिन अनुष्ठित इष्टि का नाम प्रमाणरूप में उपस्थित किया जा सकता है। पूर्णमासी के दिन अनुष्ठित होनेवाली इष्टि का नाम तिथि-नाम के आधार पर पूर्णमासेष्टि है। इसी प्रकार अमावास्या के दिन अनुष्ठित होनेवाली इष्टि का नाम तिथि-नाम के आधार पर अमावास्येष्टि होना चाहिये था, पर ऐसा न होकर उसका नाम 'दर्श' है। यह नाम उस समय विशेष निमित्त से रक्खा गया ज्ञात होता है। वह निमित्त है, उस अवसर पर दर्शन-अवलोकन अर्थात् स्वास्थ्य आदि की जाँच-पड़ताल के लिए पशुओं को सामूहिक रूप में एकत्रित किया जाना। यह अर्थ 'संज्ञपन' शब्द के धातु 'ज्ञा' के निशामन अर्थ में अन्तर्हित है। आरम्भ-काल में इस पद का यही अर्थ था, और इसीके अनुसार व्यवहार होता था। अनन्तर-काल में अत्याचारी हत्यारे याज्ञिकों ने इन्द्रियों के दास बनकर पद के अर्थ को बदला, जो आज समझा जा रहा है। यदि इस सतर्क प्रमाण को सबल नहीं समझा जाता, तो शास्त्र के मर्मज्ञ आचार्य यह बतलाने की कृपा करेंगे कि अमावास्या के दिन होनेवाली इष्टि के 'दर्श' नाम का प्रवृत्ति-निमित्त क्या है? वह नाम भी पूर्णमासेष्टि के समान अमावास्येष्टि क्यों नहीं है?

यह पशुधर्म 'संज्ञपन' के विषय में विचार प्रस्तुत किया गया। इसके आगे पशुधर्म बताया—

विशसन—इसका अर्थ है—पशु के एक-एक अङ्ग को काटना। जब 'संज्ञपन' का अर्थ 'मारना' मान लिया गया, तो स्वभावतः उसके आगे यही पशुधर्म हो सकता है। वस्तुतः प्रारम्भ-काल में जब 'संज्ञपन' का अर्थ मारना न होकर पशुओं को सन्तुष्ट करना व प्रदर्शनार्थ एकत्रित करना था, तब 'विशसन' नाम के पशुधर्म का होना सम्भव ही नहीं था। इसका उद्भावन संज्ञपन पद का अर्थ बदले जाने के अनन्तर हुआ है। पशु के दर्शन अर्थात् जाँच-पड़ताल के अवसर पर जिस क्रिया का प्रयोग किया जाता था, उसके कुछ संकेत सवनीय पशु के आधुनिक विवरण में लक्षित होते हैं। उसके स्पष्टीकरण का प्रयास सवनीय पशु के प्रसंग

में किया गया है।

प्रारम्भ-काल में 'संज्ञपन' पशुधर्म के अनन्तर अन्य दो धर्म—'पर्यग्नि-करण' और 'विसर्जन' माने जाते थे।

पर्यग्निकरण—इस पद का वास्तविक अर्थ क्या रहा होगा, आज स्पष्ट नहीं है। अनेक सुभाव विचार में आते हैं—(१) अमावास्या के दिन पशुओं को नहला-धुलाकर खूंटों पर बाँध, ऋतु के अनुसार—उन्हें डाँस-मच्छर आदि तंग न करें—उनके इधर-उधर अथवा उचित दिशा में आग जलाकर धुआँ आदि करना अथवा गरमी पहुँचाना पर्यग्निकरण रहा हो। २. यह भी सम्भव है, सरगर्मी से पशुओं के स्वास्थ्य की जाँच-पड़ताल का ही नाम 'पर्यग्निकरण' रहा हो। ३. विशेष निमित्त से यज्ञाग्नि के समीप उपस्थित होना 'पर्यग्निकरण' माना गया हो। आजकल जैसे रोगों के टीके व सूचीवेध के अनन्तर मालूम किया जाता है, कोई व्यक्ति टीके या सूचीवेध के बिना रह तो नहीं गया? इसी प्रकार उस काल में पशुओं के स्वास्थ्य की जानकारी के लिए प्रशासन की ओर से इस नाम पर सूचना प्राप्त की जाती हो कि स्थानीय पशुओं का पर्यग्निकरण नामकरण हो गया, या नहीं? कोई पशु पर्यग्निकरण से रह तो नहीं गया है? ये आधार अथवा इन जैसे अन्य कोई आधार उक्त के सम्भव हैं।

आज पर्यग्निकरण का स्वरूप—पशु को मारने से पहले घास के दो-चार तिनकों के अग्रभाग में आग लगाकर पशु के चारों ओर धुमा देना—समझा जाता है।

विसर्जन—'संज्ञपन' पद का 'मारण' अर्थ समझ लेने पर पशु के विसर्जन—छोड़े जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। मार देने पर छोड़ने का अवसर कहाँ रहा? हाँ, यह कहा जा सकता है कि उसे जीवन से छुड़ा दिया गया। वस्तुतः 'विसर्जन' पशुधर्म का स्वारस्य उसी अवस्था में सम्भव है, जब 'संज्ञपन' पद का अर्थ 'मारण' न कर तोषण व निशामन किया जाता है। जैसा कि पहले निर्देश किया गया जा चुका है, प्रारम्भ में 'ज्ञा' धातु के दो ही अर्थ थे। उनके अनुसार विसर्जन पशुधर्म का सामञ्जस्य उत्पन्न होता है। मारण अर्थ होने पर तो यह (विसर्जन पशुधर्म) मजाक ही है।

अभी तक अग्नीषोमीय पशु के विषय में विवरण प्रस्तुत किया गया। आचार्यों के निर्णयानुसार उपाकरण आदि पशुधर्म केवल अग्नीषोमीय पशु के लिए विधान किये गए हैं। सवनीय आदि पशुओं के प्रसंग में उनका निर्देशमात्र होता है। सवनीय पशु के विषय में विचार प्रस्तुत है।

सवनीय—यह प्रथम कहा जा चुका है ज्योतिष्टोम याग छह दिन में सम्पन्न होता है। पाँचवाँ दिन प्रधान सोमयाग के अनुष्ठान का है। वह तीन सवनों में किया जाता है—प्रातःसवन, माध्यन्दिन सवन, तृतीय सवन। इनमें जो पशु

उपस्थित होते हैं वे सबनीय कहे जाते हैं। अग्नीषोमीय पशु कौन-सा है ? इसका निर्देश किसी आचार्य ने नहीं किया। यदि किया हो, तो मुझे ज्ञात नहीं है। पर इस विषय के विशेषज्ञों से ज्ञात हुआ कि अग्निषोमीय पशु अज है। अब सबनीय पशु कौन-सा है ? इसका निर्देश उपलब्ध होता है। ये पशु मेष-मेषी एवं अज-अजा हैं, अर्थात् भेड़, बकरी, मेढा, बकरा। आचार्यों ने बताया—प्रातःसवन में वपा (चर्बी) की आहुति, माध्यन्दिन सवन में पुरोडाश की और तृतीय सवन में पशु के कटे हुए अङ्गों की। पुरोडाश तो अन्न से तैयार किया जाता है, पर चर्बी और पशु के कटे अङ्ग भेड़े या बकरे के हो सकते हैं, क्योंकि सबनीय पशु ये ही हैं।

सवन की आहुतियों के विषय में सुझाव आता है। बाहर से आए इस स्तर के सब पशुओं की प्रातःकाल सावधानतापूर्वक स्वास्थ्य-आरोग्य की परीक्षा कर उनमें से मांसल तथा वपाबहुल पशुओं को इस आधार पर अलग छांट दिया जाता था कि इनसे उत्तम ऊन प्राप्त हो सकता है। कालान्तर में इस वास्तविकता को वपा की आहुति के रूप में परिवर्तित कर दिया गया। माध्यन्दिन सवन में पुरोडाश की आहुति का तात्पर्य है, बाहर से आये पशुओं को चारा देना। ये बाहर से आए हैं। पूर्वमध्याह्न में उनमें से सुपुष्ट पशुओं को छांट दिया गया है। चारा लेकर दुर्बल पशु तृतीय सवनकालिक परीक्षा के लिए तैयार हो जाएँ, यह माध्यन्दिन सवन की आहुति का स्वरूप है। तृतीय सवन में दुर्बल पशुओं के प्रत्येक अंग की गहराई से परीक्षा की जाती थी कि अंग में कोई रोग तो नहीं है ? पशु दुर्बल क्यों है ? उसको हटाने के उपायों का पता लगाकर उन्हें व्यवहार में लाने का प्रयास किया जाता था। अंग-अंग की इस परीक्षा को अङ्गों की आहुति के रूप में परिवर्तित कर दिया गया। यह ज्योतिष्टोम के पाँचवें दिन के पशुयाग का स्वरूप है।

तीनों सवन सबनीय पशुओं से कैसे सम्बद्ध होते हैं ? इसके लिए वचन है 'वपया प्रातःसवने प्रचरन्ति, पुरोडाशेन माध्यन्दिने सवने, अङ्गैस्तृतीये सवने' इसका तात्पर्य है कि 'वपा' से प्रातःसवन में होम करते हैं, पुरोडाश से माध्यन्दिन सवन में और अङ्गों से तृतीय सवन में।

'प्रचरन्ति' क्रियापद का अर्थ "होम करते या आहुति देते हैं।" यह अर्थ किस आधार पर किया जाता है ? इस प्रश्न का कोई सदुत्तर नहीं है। वाक्य के मूल ग्रन्थ का पूर्वापर-प्रसंग भी उक्त अर्थ करने में कोई अनुकूल सहायता नहीं देता।

वास्तविकता यह है कि यज्ञानुष्ठान के प्रारम्भिक काल में यह व्यवस्था निर्धारित की गई कि प्रति मास अमावास्या इष्टि के अवसर पर स्वास्थ्य व सुरक्षा आदि की जाँच-पड़ताल के लिए समस्त स्थानीय पशु यज्ञमण्डप के समीप एकत्रित किये जायें। "वपया प्रचरन्ति" का यही तात्पर्य है। 'वपा' पद नीरोग हृष्ट-पुष्ट

पशु का प्रतीक है। लोक में नीरोग पुष्ट व्यक्ति को देखकर मनोरंजन की भावना से कहा जाता है, चर्बी बहुत चढ़ गई है। चर्बी=वपा पद शारीरिक पुष्टि का प्रतीक माना जाता है।

पशुओं की जाँच-पड़ताल के लिए नियुक्त व्यक्ति 'वपा' प्रतीक से प्रचारित करता है—घोषित करता है—ये "पशु स्वस्थ नीरोग हैं।" उन्हें छॉट दिया जाता है 'वपया प्रचरन्ति' का यही अभिप्राय है।

आगे वाक्य है—“पुरोडाशेन माध्यन्दिने प्रचरन्ति”। 'पुरोडाश' खाद्य अन्न का तैयार किया जाता है; पशु-मांस से इसका कोई सम्बन्ध नहीं। यहाँ यह पद पशुओं के खाद्य अर्थात् चारे का प्रतीक है। तात्पर्य है कि माध्यन्दिन सवन के अवसर पर अर्थात् दोपहर के समय सब पशुओं को चारे पर बाँध दिया जाय, वे इधर-उधर बाह्य स्थानों से आये हुए हैं, भूखे हो सकते हैं। जिन दुर्बल पशुओं की जाँच-पड़ताल तीसरे पहर के बाद के अवसर पर होनी है उन सबको यथेष्ट चारा दिया जाय। यह घोषणा 'माध्यन्दिने प्रचरन्ति' का अर्थ है।

सन्दर्भ का अन्तिम वाक्य है—“अङ्गैस्तृतीये सवने प्रचरन्ति”। जो दुर्बल पशु स्वास्थ्य-परीक्षा के लिए शेष रह गए हैं उनके प्रत्येक अंग के साथ सावधानता-पूर्वक जाँच कर अर्थात् गहराई से अंगों की परीक्षा कर उनकी दुर्बलता के कारण और उनकी निवृत्ति के उपायों की घोषणा की जाती है। यह “अङ्गैस्तृतीये सवने” का तात्पर्य है।

“कथं सवनानि पशुमन्ति” इस प्रश्न का उत्तर उक्त रीति पर “वपया प्रातः...” इत्यादि सन्दर्भ से दिया गया है। यदि 'वपा' का अर्थ अलग से निकाली चर्बी और 'अङ्गैः' का अर्थ 'पशुमांस' लिया जाता है, तो तीनों सवन पशुओं से सम्बद्ध नहीं हो पाते। 'माध्यन्दिन सवन' पशु-सम्बन्ध से रहित रह जाता है क्योंकि पुरो-डाश मांस से तैयार नहीं किया जा सकता; वह चावल या जौ का ही बन सकता है। जिन याज्ञिकों ने पवित्र यज्ञमण्डप में इस बूचड़खाने की स्थापना की, निःसन्देह वे धर्म के नाम पर घोर अधर्म व पापाचरण करनेवाले व्यक्ति थे। एक घोर पाप को पुण्य के रूप में संस्थापित करना अपने-आपमें ही महान् पाप है।

इन पशुओं को सामाजिक दृष्टि से यज्ञमण्डप में लाने का क्या प्रयोजन रहा होगा? यह तो आज पूर्णतः स्पष्ट नहीं है, पर 'अग्नीषोमीय' पशु के विवरण के अनुसार सवनीय पशु के विषय में भी कुछ सुझाव दिये जा सकते हैं। यह स्पष्ट है कि अग्नीषोमीय पशु बैल उत्तम स्तर का पशु माना जाता है। गाय की महत्ता का कारण श्रेष्ठ दूध के अतिरिक्त खेती के महत्वपूर्ण साधन बछड़ों का पैदा करना था। उसके बाद के स्तर में अर्थात् दूसरे स्तर पर भेड़-बकरी आदि पशु आते हैं। ये समाज को अनेक प्रकार से लाभान्वित करते हैं। सबसे पहला और महत्वपूर्ण इनका उपयोग ऊन की उपलब्धि है। साधारण दूधप्राप्ति के पश्चात्

उनका बड़ा उपयोग इनके मल-मूत्र का है, इससे अत्यन्त उपयोगी खाद तैयार किया जाता है जो भूमि की उर्वरा शक्ति को बढ़ाता है, न्यून नहीं होने देता।

अनुबन्ध्य—पशुओं का नम्बर अन्तिम छठे दिन आता है। अनुबन्ध्य पशु कौन-से हैं? इसका कुछ संकेत प्रतीकरूप से शास्त्र में मिलता है। एक वाक्य है “मैत्रा वरुणौ वशामनु बध्यामालभते”—मित्र और वरुण देवतावाली वशा (गाय) का आलभन करता है, जो पशुओं के अनुबन्ध्य-वर्ग में आती है। इसे स्पष्ट करने के लिए “अनुबन्ध्य” पद का अर्थ समझना होगा। उपसर्ग व धात्वर्थ के अनुसार अर्थ होगा पीछे बँधा हुआ, तात्पर्य हुआ कि पशुओं का एक वर्ग जो पशुओं के बाद में आता है : पिछलग्गू वर्ग। पशु की दृष्टि से ‘वशा’ पद के दो अर्थ हैं—गाय और हथनी।

वस्तुतः वशा पर यहाँ शेष पशुमात्र का उपलक्षण है। पशुओं के पूर्वोक्त दो वर्गों से अतिरिक्त जो पशु रह गए उन सबको उपस्थित कर आलभन, प्राप्त होता है। यदि वशा का अर्थ केवल गाय लें तो यह प्रश्न दोनों अवस्थाओं के लिए उभरकर सामने आता है कि गाय और अन्य श्रेष्ठ पशुओं को अन्तिम छठे दिन क्यों उपस्थित किया जाता है? उत्तर होगा—आलभन के लिए। तब पुनः प्रश्न उठेगा कि वशा का आलभन क्या मारना-काटना है? या केवल स्पर्श करना? यदि पहला है, तो क्या यह स्वीकार्य होगा? यदि अर्थ दूसरा है, तो केवल स्पर्श करने का प्रयोजन बताना होगा।

प्रतीत होता है ‘वशा’ पद अवशिष्ट सभी पशुओं का उपलक्षण है। इनमें दूधवाली गाय, बाँझ गाय, दूधपीते बछड़े-बछियाँ, दूधछोड़े बछड़े-बछियाँ, पठोरे बैल, ऊँट, घोड़े, गधे, खच्चर, भैंस आदि सभी आ जाते हैं। इनके उपस्थित करने का प्रयोजन वही है, जो प्रथम दोनों वर्ग के पशुओं की उपस्थिति का बताया है। पर्याग्निकरण के पश्चात् इन्हें अपने-अपने स्थानों को वापस कर दिया जाता है। उन्हें मारने-काटने का कोई प्रश्न नहीं।

ज्योतिष्ठोम के चौथे दिन अग्नीषोमीय पशु, पाँचवें दिन सबनीय, छठे दिन अनुबन्ध्य पशु यज्ञमण्डप के साथ स्वास्थ्य-परीक्षा-स्थान पर उपस्थित किये जाते हैं, जहाँ उन्हें बाँधने के लिए यूप स्थापित किये होते हैं। उपाकरण आदि पशुधर्म पूर्णरूप से केवल अग्नीषोमीय पशु के लिए विहित हैं, शेष के लिए उसीका अनुपाद होता है, वह भी आवश्यकतानुसार। जैसे सबनीय पशुओं के लिए तीसरे-चौथे पशुधर्म की आवश्यकता नहीं होती, दो व्यक्ति शब्द करते या डण्डी दिखाते इधर-उधर खड़े रहते हैं, तो ये पशु चुपचाप बीच में घिरे रहते हैं, इधर-उधर निकलने या जाने की कोई चेष्टा नहीं करते। इसलिए श्लक्ष्णा बन्ध या यूप-नियोजन की इनके लिए आवश्यकता नहीं होती। अनुपाद का यही फल है। यदि विधि हो, तो उसके अनुसार पूरा अनुष्ठान करना पड़ता है।

इस विवरण से निम्न परिणाम सामने आते हैं—

(क) आरम्भकाल में यज्ञानुष्ठान के अवसर पर पशु मारे नहीं जाते थे ।

(ख) एक निर्धारित दिन अमावास्या इष्टि के अवसर पर स्वास्थ्य आदि परीक्षा के लिए पशुओं को एकत्रित किया जाता था ।

(ग) उसी का अवशेष रूप—समस्त भारत में अमावास्या के दिन—कृषि-पशुओं को पूर्ण विश्राम देना पाया जाता है ।

(घ) पशुसम्बन्धी ये सब भाव पशुओं के 'संज्ञपन' नामक धर्म में अन्तर्निहित हैं, जो 'संज्ञपन' पद के निर्वचन से स्पष्ट हैं ।

यज्ञ में मांसाहुति देने का प्रथम प्रसंगविषयक विवेचन गत पंक्तियों में किया गया । इसी प्रकार का दूसरा प्रसंग तृतीयाध्याय के अन्तिम तीन सूत्रों (४२-४४) में मिलता है । उसका नाम 'शाक्यानामयनम्' बताया गया है । निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यह प्रसंग पूर्णतया प्रक्षिप्त है । इसका स्पष्ट विवेचन उसी प्रसंग में कर दिया गया है । पाठक महानुभाव वहीं पर उसे देख सकते हैं ।

यज्ञ में मांस के प्रयोग का विधान जब से प्रारम्भ किया गया, इसका विरोध भी तभी से बराबर होता रहा है । पर जिन व्यक्तियों के हाथों में यज्ञानुष्ठानों का सम्पन्न करना रहा, उन्हीं के द्वारा मांस का प्रवेश यज्ञों में किये जाने के कारण यह विचार प्रसार पाता रहा । लम्बी परम्परा से प्रचलित यह विचार प्रबुद्ध व्यक्तियों द्वारा विरोध होते रहने पर भी इतना परिपक्व हो चुका है कि समस्त हिन्दू समाज इसे धर्म का आवश्यक अंग मानता है । यह कैसी विडम्बना है कि जो स्पष्ट रूप से अधर्म और अनाचार है, उसे मान्य धर्म समझ लिया गया !

विरोध करनेवालों की संख्या नगण्य न होने पर भी यहाँ केवल मीमांसा-परम्परा के एक आचार्य भर्तृमित्र का उल्लेख करना चाहता हूँ कि—आभिष-प्रयोग को वह सर्वथा वेदविरुद्ध मानते थे । आचार्य भर्तृमित्र का अपने समय में मीमांसा के क्षेत्र में यह प्रयास सर्वथा ऐसा ही है, जैसा वर्तमान काल में महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती का रहा । दोनों ने ही ज्योतिष्टोमादियागों में आभिष-प्रयोग की उतनी ही कटु आलोचना की है, जितनी मृतक-श्राद्ध की ।

विद्वज्जनों से आग्रह है कि वे इस दिशा में मीमांसापरक शाश्वत परम्पराओं को पुनरुज्जीवित करने के लिए अन्ध-परम्पराओं का समूलोच्छेद करें एवं यज्ञ जैसी पावन क्रियाओं का माहात्म्य जन-जन तक पहुँचाने का सत्प्रयास करें ।

अथ प्रथमाध्याये प्रथम पादः

आदिकाल से भारतीय समाज निष्ठापूर्ण रीति पर धर्म-प्राण रहा है। ज्ञान की नाना शाखा और समाज के विविध क्षेत्रों में किये गये धर्म-विषयक विवेचन से भारतीय वाङ्मय ओत-प्रोत है। महर्षि कणाद ने अपनी रचना वैशेषिक दर्शन के प्रारम्भिक सूत्र^१ द्वारा धर्म की व्याख्या करने का निर्देश किया है। महामुनि जैमिनि ने धर्म की सूक्ष्म रेखाओं तक विचार करने के लिए अपनी इस बारह अध्यायों में पूर्ण हुई विस्तृत रचना मीमांसाशास्त्र के प्रथम सूत्र^२ द्वारा धर्म-विषयक जिज्ञासा को उमारा है।

यहाँ पर यह स्पष्ट समझ रखना चाहिए कि कणाद के धर्म और जैमिनि के धर्म में अन्तर है। पहला वस्तु-धर्म का उपपादन करता है, जबकि दूसरे ने समाज-धर्म के विश्लेषण को अपना लक्ष्य बनाया है। कणाद के प्रतिपाद्य धर्म का स्पष्ट निर्देश भाष्यकार प्रशस्तपाद मुनि ने अपने प्रथम सन्दर्भ द्वारा इस प्रकार किया है—

प्रणम्य हेतुमोक्षवरं मुनिं कणादमन्वतः ।

पदार्थधर्मसंग्रहः^३ प्रवक्ष्यते महोदयः ॥

जैमिनि की भावना ऐसे धर्म का उपपादन करना नहीं है, यह स्पष्ट है। जैमिनि को उन धर्मों का विवेचन करना अपेक्षित है, जिनका निर्देश शास्त्रीय विधिवाक्यों [स्वाध्यायोऽध्येतव्यः, अग्निहोत्रं जुहुयात्, इत्यादि] द्वारा किया गया है। इसके अतिरिक्त मानवधर्मशास्त्र में धर्म के विविध लक्षणों, चिह्नों व स्वरूपों का वर्णन हुआ है।^४ अन्य धर्मशास्त्र भी इस दिशा में एक-दूसरे से बढ़-चढ़कर

१. अथातो धर्मं व्याख्यामः ।

२. अथातो धर्मजिज्ञासा ।

३. वैशेषिक शास्त्र में—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय—पदार्थ गिने गये हैं, उन्हीं के धर्मों का संग्रह प्रस्तुत करना उक्त शास्त्र का लक्ष्य अथवा प्रतिपाद्य विषय है। उनके साधर्म्य-वैधर्म्य के आधार पर तज्जनित परिणामों का वहाँ विवेचन है।

४. द्रष्टव्य—मनुस्मृति २।१, १२॥ ६।६२॥ ४।२३८॥

दिखाई देते हैं। फिर भी इनमें आंशिक रूप से भी किसी विरोधी भावना को देखने का प्रयास करना अज्ञता का द्योतक होगा। ये सब विवरण, वाङ्मय की विभिन्न शाखाओं द्वारा समस्त विश्व व मानव-समाज की विविध परिस्थितियों का स्पष्टीकरण प्रस्तुत कर एक-दूसरे के पूरक हैं। इनमें से किसी एक की भी उपेक्षा, पूर्ण यथार्थता की छवि को धूमिल करना होगा तथा उसको पाने में सबसे बड़ी बाधा। यदि इस तथ्य को अन्तस्तल तक समझ लिया जाता है, तो विश्व में वास्तविक शान्ति व सन्तोष के लिए अन्य कुछ अपेक्षित नहीं रह जाता। इन वास्तविकताओं को समझकर प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा अपने जीवन में उनका उतारना आवश्यक होता है। उसी दशा में इनके शुभ परिणाम सामने आते हैं।

(शंका) 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'—वेद का अध्ययन करना चाहिए, यह शास्त्र का विधान है। जिस विधि के फल का स्पष्ट निर्देश नहीं होता, उसका स्वर्गफल कल्पना कर लिया जाता है।^१ इसके अनुसार वेदाध्ययनमात्र से स्वर्गफल-प्राप्ति की सम्भावना होने पर ऐसे शास्त्र की रचना करना व्यर्थ है, जिसमें केवल उस धर्म का विचार किया गया हो, जिसका फल स्वर्ग की प्राप्ति है; क्योंकि वह वेदाध्ययनमात्र से मुलभ है।

आचार्य सूत्रकार ने इस महान् शास्त्र का प्रारम्भ करते हुए, उक्त शंका के समाधान की भावना से प्रथम सूत्र कहा—

अथातो धर्मजिज्ञासा ॥१॥

[अथ] अनन्तर (वेदाध्ययन के) [अतः] इसलिए (क्योंकि वेदाध्ययन का फल केवल अर्थज्ञान है, स्वर्ग नहीं, इसलिए) [धर्मजिज्ञासा] (धर्म को जानने की इच्छा के अनुकूल विचार प्रारम्भ किया जाता है)।

'अथ' पद उच्चारणमात्र से मांगलिक^२ माना जाता है। मांगलिक भावना को अभिव्यक्त करते हुए 'अथ' पद का अर्थ यहाँ आचार्यों ने 'आनन्तर्य' बताया है। स्वभावतः प्रश्न उठता है, किसके अनन्तर? उत्तर मिला, वेदाध्ययन के अनन्तर। केवल पाठमात्र का पारायण करना वेदाध्ययन नहीं है, प्रत्युत गुरुकुल में वास करते हुए गुरुमुख से अर्थ-ज्ञानसहित विधिपूर्वक वेद का अध्ययन 'वेदाध्ययन' माना जाता है। मीमांसाशास्त्र में यह व्यवस्था की गई है—यदि किसी विधि के फल का निर्देश नहीं किया गया है, तो उस विधि के अदृष्टफल [स्वर्ग] की कल्पना उसी अवस्था में की जानी चाहिए, जब उस विधि का कोई दृष्टफल सम्भव न हो।^३ अध्ययन-

१. अनुपदिष्टफलविधेः स्वर्ग एव फलमिति।

२. ओङ्कारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ग्रहणः पुरा।

कण्ठं भित्वा विनिर्यातो तस्मान्माङ्गलिकावुभौ ॥ [कस्यचित्]

३. सम्भवति दृष्टफलकत्वे कस्यचिद्विधेरदृष्टफलकल्पनाया अन्याय्यत्वात्।

विधि का दृष्टफल वेदार्थज्ञान स्पष्ट है। अध्ययन वेदार्थज्ञान का साधन है, अतः 'वेदार्थज्ञान' अध्ययन का फल है। अध्ययन-विधि का तात्पर्य पाठमात्र का पारायण करना न होने से अध्ययन-विधि के फलरूप में स्वर्गफल की कल्पना करना अनुचित है।

वेदाध्ययन के अनन्तर शास्त्र में स्नातक^१ हो जाने का विधान है। स्नातक होने का तात्पर्य है—गुरुकुल-वास को छोड़कर गृहस्थधर्म में प्रवेश करना। ऐसी दशा में अध्येता व्यक्ति के सन्मुख यह संशयात्मक स्थिति आ जाती है कि वेदाध्ययन के अनन्तर व्यक्ति धर्मजिज्ञासा का विचार करे अथवा स्नातक होकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे ? यदि 'वेदमधीत्य स्नायात्' विधि के अनुसार गृहस्थाश्रम में व्यक्ति प्रवेश करता है, तो प्रस्तुत धर्मजिज्ञासा का विचार ध्वस्त हो जाता है। यदि धर्मजिज्ञासा में प्रवृत्त होता है, तो 'अधीत्य स्नायात्' विधि की बाधा होती है। इस संशयात्मक स्थिति का समाधान आचार्यों ने इस प्रकार किया है—

'अधीत्य स्नायात्' विधिवाक्य के 'अधीत्य' पद में 'क्त्वा' प्रत्यय का अर्थ आनन्तर्य नहीं है, जिससे उसका यह अर्थ समझा जाय कि वेदाध्ययन के तत्काल अनन्तर स्नातक हो जावे। तात्पर्य हुआ—शब्दार्थज्ञानपूर्वक जैसे ही वेदाध्ययन सम्पन्न हो, उसके तत्काल अनन्तर गुरुकुल-वास छोड़कर स्नातक हो जाना चाहिए, ऐसा अभिप्राय उस विधिवाक्य का नहीं है। 'क्त्वा' प्रत्यय पाणिनि-व्यवस्था [३।४।२१] के अनुसार 'पूर्वकाल' अर्थ में होता है। इसका तात्पर्य होता है—स्नातक होने से पूर्वकाल में किसी भी समय वेदाध्ययन सम्पन्न हो जाना चाहिए।

वस्तुतः शब्दार्थज्ञानपूर्वक वेद का अध्ययन केवल शाब्दिक जानकारी तक ही सीमित समझना चाहिए। शास्त्रीय कर्मानुष्ठान की प्रयोगात्मक पद्धति का ज्ञान उतने से सम्पन्न नहीं हो पाता। उसी जानकारी के लिए जैमिनि मुनि ने इस द्वादशाध्यायी मीमांसाशास्त्र का प्रारम्भ किया। अर्थज्ञानसहित वेदाध्ययन के अनन्तर शास्त्रीय यागादि कर्म की प्रयोगात्मक पद्धति को जानने के लिए मीमांसा-शास्त्र का अध्ययन आवश्यक है। वेदाध्ययन की पूर्ण सम्पन्नता के अन्तर्गत ही इसे समझना चाहिए। गुरुकुल में वास करते हुए ही यह समस्त अध्ययन पूर्ण किया जाता है। इसके अनन्तर स्नातक होने का विधान है। फलतः प्रस्तुत सूत्र के साथ 'वेदमधीत्य स्नायात्' विधि का कोई विरोध नहीं है।

सूत्र के 'धर्मजिज्ञासा' पद में 'धर्म' शब्द अधर्म का भी उपलक्षण समझना चाहिए। अपेक्षित वेदाध्ययनादि के अनन्तर कार्यक्षेत्र में प्रवेश करने के पूर्व जैसे धर्मजिज्ञासा आवश्यक है, वैसे ही अधर्म का जानना भी आवश्यक होता है। धर्म को जानकर उसे अपने जीवन में आचरणरूप से उतारना, व्यक्ति के लिए जैसे

अभ्युदय का साधन है, उसी प्रकार अधर्म को जानकर अपने आचरण में कभी न आने देना अभ्युदय में सहयोगी है। प्रस्तुत शास्त्र इन्हीं के विवेचन के लिए प्रारम्भ किया जाता है ॥१॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, धर्मविषयक विचार प्रारम्भ किया जा रहा है; पर 'धर्म' क्या है? यह तो बताना चाहिए? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः ॥२॥

[चोदनालक्षणः] चोदना=नोदना=प्रेरणा, जिसका लक्षण—साधन एवं चिह्न है, ऐसा [अर्थः] अर्थ=शास्त्र प्रतिपाद्य अथवा बोधित विषय [धर्मः] धर्म है।

सूत्र में 'चोदना' पद-प्रवर्तक वाक्य अथवा विधि-वाक्य का निर्देशक है। जिससे कोई पदार्थ लक्षित हो, बोधित हो, अर्थात् जाना जाय, उसे लक्षण कहते हैं। जैसे धूम से अग्नि जाना जाता है, इस प्रकार धूम अग्नि का लक्षण है। इसे करण या साधन भी कहा जाता है। अग्निज्ञान का करण या साधन धूम है। जैसे अग्नि का लक्षण धूम है, ऐसे ही धर्म का लक्षण 'चोदना', प्रेरणा अथवा प्रवर्तक वाक्य है। प्रवर्तक वाक्य से धर्म लक्षित, बोधित होता है, जाना जाता है। इस प्रकार प्रवर्तक वाक्य से जाना गया 'अर्थ' धर्म का स्वरूप है। 'अर्थ' का तात्पर्य है—जिसमें सुख का आधिक्य हो, और वह दुःख का जनक न हो।

शास्त्रीय प्रवर्तक वाक्य में केवल ऐसा सामर्थ्य है, जो वह भूत, वर्तमान, भविष्यत् सूक्ष्मव्यवहित तथा दूरस्थित वस्तुतत्त्व का बोध करा सकता है; अन्य किसी इन्द्रिय आदि में ऐसा सामर्थ्य नहीं। यद्यपि अनुमान-प्रमाण तीनों कालों में सूक्ष्मव्यवहित आदि पदार्थ के ग्रहण करने में योग्य माना जाता है, परन्तु पुरुष-प्रयुक्त प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से होनेवाले ज्ञान में पुरुषगत भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्ता (लोभ) आदि के कारण प्रायः संशय की स्थिति बनी रहती है—वह ज्ञान सत्य होगा अथवा मिथ्या? फलप्राप्ति पर ही उसकी सत्यता का निश्चय सम्भव है।^१ परन्तु वैदिक वाक्य अपौरुषेय होने से वहाँ भ्रम-प्रमाद आदि दोषों की सम्भावना न होने के कारण धर्म का यथार्थ ज्ञान तादृश वाक्य द्वारा ही सम्भव है।

सूत्र में 'अर्थ' पद का निर्देश एक विशिष्ट स्थिति का बोधक है। 'अग्निहोत्रं जुहुयात्, सोमेन यजेत' इत्यादि प्रवर्तक बौद्धिक वाक्यों के समान 'श्येनेव अभिचरन् यजेत'^२ भी प्रवर्तक वाक्य है। श्येनयाग हिंसाफलवाला है। यह अन्य की हिंसा

१. जैसे किसी ने किसी को कहा—नदी के किनारे वृक्ष पर पाँच फल लगे हैं, जाओ, ले आओ। यदि वह जाकर फल प्राप्त कर लेता है, तो यह पुरुषोच्चरित वाक्य यथार्थ है; अन्यथा मिथ्या होगा।

२. षड्विंश ब्राह्मण [३।८]।

करने के लिए किया जाता है, अतः व्याख्याकारों ने इसे 'अनर्थ' कहा है। यह अर्थ नहीं। अर्थ वह है, जो कर्ता पुरुष को निःश्रेयस = कल्याण, अतिशय सुखस्थिति के साथ जोड़ता है। श्येनयाग इससे विपरीत है। अतः प्रवर्तक वाक्य होने पर भी वह 'अर्थ' फलवाला न होने से 'धर्म' की सीमा में नहीं आता। इस प्रकार के अनर्थ-मूलक प्रवर्तक वाक्यों से बोधित तत्त्व धर्म न समझा जाय, इसीलिए सूत्र में 'अर्थ' पद का निर्देश किया गया है।

वस्तुतः अभिचार (शत्रु को मारने के लिए विशिष्ट यज्ञादि क्रियानुष्ठान) को वेद में कहीं भी कर्तव्य कर्म नहीं कहा गया। जो शत्रु को मारना चाहे, उसके लिए यह उपाय मात्र है; हिंसारूप होने के कारण वेदोक्त कर्तव्य से विपरीत है। वेद सर्वत्र अहिंसा को श्रेष्ठ कर्तव्य बताता है। इसलिए 'श्येन' आदि विधि लक्षित होने पर भी 'धर्म' नहीं माने जाते।

यद्यपि शास्त्रीय व्यवस्था के अनुसार यह वाक्यभेद नामक दोष माना जाता है, जहाँ एक ही वाक्य के परस्पर विपरीत दो अर्थ किये जायें। प्रस्तुत सूत्र एक वाक्यरूप है; उससे यह दो अर्थ निकालना कि 'ज्योतिष्टोम' धर्म है, तथा 'श्येन' अधर्म है, वाक्यभेद नामक दोष से दूषित है। दोष से बचने के लिए यह मानना चाहिए कि श्येन को भी धर्म स्वीकार किया जाय। इस विषय में आचार्यों ने व्यवस्था की है। उक्त दोष उन्हीं वाक्यों में माना जाता है, जिनका प्रतिपाद्य विषय (कथ्य अर्थ) केवल उन वाक्यों के द्वारा बोधित हो, अन्य प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से वह न जाना जाता हो। ऐसी स्थिति केवल वैदिक वाक्यों में सम्भव है, सूत्रगत वाक्यों में नहीं। सूत्रों में जो अर्थ कहा जाता है, वह अन्य प्रमाणों द्वारा अवगत होता है। अतः सूत्रगत वाक्य में उक्त दोष की उद्भावना निर्मूल है। ऐसे सूत्रों में यही समझना चाहिए कि वहाँ दो 'मिन्न' वाक्यों से कहे जाने वाले पूरे अर्थ का एकदेश कथन किया गया है।

इस विवेचन के अनन्तर भी यह स्पष्ट नहीं हुआ कि वह 'धर्म'-तत्त्व क्या है जिसका निर्देश इस सूत्र द्वारा किया गया? गोदोहन आदि द्रव्य तथा यागादि क्रियानुष्ठान को भी धर्म कहा जाता है, जो केवल उसके साधन हैं। मीमांसाशास्त्र में वस्तुतः उस धर्म को 'अपूर्व' पद से कहा गया है, जो प्रवर्तक वाक्य (चोदना) से लक्षित होता है। वह विभिन्न शास्त्रों में 'अदृष्ट' पद से भी कहा जाता है, जो 'धर्म' तथा 'अधर्म' रूप है। ज्योतिष्टोमादि से जन्य धर्म है, जो कर्ता पुरुष को कल्याण के साथ जोड़ता है। एवं श्येनादि से जन्य 'अधर्म' है, जो कर्ता को अकल्याण, अनिष्ट के साथ जोड़ता है। फलतः गोदोहन आदि द्रव्य तथा यागानुष्ठान

१. दो मिन्न वाक्य इस प्रकार निर्देश्य हैं—चोदनालक्षण एव धर्मः, न इन्द्रियादिप्रमाणलक्षणः धर्मः। अर्थ एव धर्मः, न अनर्थो धर्मः।

आदि क्रिया उस अपूर्वसंज्ञक धर्म के साधनमात्र हैं; साक्षात् धर्म नहीं। अतः इनके लिए धर्म पद का प्रयोग औपचारिक ही समझना चाहिए, मुख्य नहीं, क्योंकि गोदोहन आदि में फल-साधनता प्रत्यक्षादि प्रमाण का विषय नहीं है, उसमें भी प्रवर्तक वाक्य (चोदना) ही प्रमाण है। गोदोहन आदि द्रव्य एवं यागानुष्ठान आदि क्रिया को धर्म क्यों कहा जाता है, इसका उपपादन आगे हुआ है। कुमारिल भट्ट ने इस सूत्र पर श्लोकवार्तिक^१ में लिखा है—

द्रव्य-क्रिया आदि धर्म हैं, इसकी स्थापना आगे की जाएगी। यद्यपि द्रव्य-क्रिया आदि इन्द्रियग्राह्य हैं, पर इन्द्रियग्राह्य होने के कारण उनको धर्म माना जाता हो, ऐसी बात नहीं है। द्रव्य-क्रिया आदि श्रेयः-साधन हैं, यह तथ्य सदा वेद से जाना जाता है। इसी आधार पर इनको धर्म माना गया है। इसलिए 'धर्म' इन्द्रिय आदि का विषय नहीं है। वह केवल वैदिक विधिवाक्य द्वारा बोधित होता है ॥२॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, धर्म के अस्तित्व में प्रत्यक्ष आदि अन्य प्रमाण प्रवृत्त होते हैं? या नहीं? इस संशय का समाधान होना चाहिए। समाधान की भावना से आचार्य सूत्रकार ने कहा—

तस्य निमित्त^२परीष्टिः^३ ॥३॥

[तस्य] उस (धर्म)की [निमित्तपरीष्टिः] निमित्तविषयक परीक्षा (प्रारम्भ की जाती है)।

धर्मविषयक यथार्थज्ञान का निमित्त—करण अथवा साधन क्या है? इसकी परीक्षा अवश्य होनी चाहिए। धर्म के अस्तित्व में केवल वैदिक विधिवाक्य प्रमाण है, अन्य प्रत्यक्षादि नहीं; इस सिद्धान्त की परिपुष्टि के लिए तर्क एवं उपयुक्त

१. द्रव्यक्रियागुणादीनां धर्मत्वं स्थापयिष्यते।

तेषामेन्द्रियकत्वेऽपि न ताद्रूप्येण धर्मता ॥१३॥

श्रेयःसाधनता ह्येषां नित्यं वेदात् प्रतीयते।

ताद्रूप्येण च धर्मत्वं तस्मान्नेन्द्रियगोचरः ॥१४॥

२. हलायुधकृत 'मीमांसाशास्त्रसर्वस्व' में सूत्रपाठ है—'तस्य निमित्तं परीष्टिः'।

अर्थ किया है—धर्म का निमित्त—प्रमाण चोदना है, उसका परीक्षण इस पाद में किया जाता है। अर्थ में कोई विशेष भेद नहीं।

३. 'परीष्टिः' पद—'परि' उपसर्गपूर्वक गत्यर्थक 'इष' धातु से 'गतेरनिच्छार्थस्य युञ्ज वक्तव्यः' वार्तिक [ण्यासन्नन्यो युञ् (३।३।१०७) सूत्र पर पठित] से 'युञ्' प्रत्यय प्राप्त होता है। परन्तु इसी सूत्र पर आगे पठित—'परेर्वा' इस वार्तिक से वैकल्पिक 'क्तिन्' प्रत्यय होकर सिद्ध होता है।

सत्साधनों द्वारा विचार किया जाना अपेक्षित है ।

वस्तुतः अभी तक यह केवल प्रतिज्ञारूप कहा है कि धर्म में प्रमाण, प्रत्यक्षादि न होकर केवल विधिवाक्य हैं । अब प्रसंगप्राप्त उसकी परीक्षा की जायगी कि उक्त कथन कहाँ तक युक्तियुक्त एवं सप्रमाण है ॥३॥

गतसूत्र में प्रतिज्ञात परीक्षा का प्रारम्भ करते हुए, धर्म के अस्तित्व में प्रत्यक्ष प्रमाण की प्रवृत्ति का निषेध करने की भावना से सूत्रकार सूत्र का अवतरण करता है—

सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत् प्रत्यक्षम्, अनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात् ॥४॥

[इन्द्रियाणाम्] इन्द्रियों का [सत्सम्प्रयोगे] विद्यमान वस्तु के साथ सम्प्रयोग-सम्बन्ध होने पर [पुरुषस्य] पुरुष को जो [बुद्धिजन्म] ज्ञान उत्पन्न होता है, [तत्] वह [प्रत्यक्षम्] प्रत्यक्ष है [अनिमित्तम्] कारण नहीं है (धर्म के जानने में) [विद्यमानोपलम्भनत्वात्] विद्यमान की उपलब्धि का कारण होने से ।

चक्षु आदि इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष प्रमा के साधन हैं,^१ धर्मविषयक प्रमा के साधन होने में असमर्थ हैं । विद्यमान वस्तु का ही ग्रहण करने के कारण इन्द्रियाँ अपूर्व-संज्ञक धर्म के ग्रहण करने में अयोग्य हैं, क्योंकि धर्म का सद्भाव ज्ञानकाल में नहीं है । धर्मज्ञान में प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति न होने से प्रत्यक्षमूलक अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति आदि प्रमाणों का भी धर्मज्ञान के प्रति साधनता का निराकरण हो जाता है ।

प्रश्न होता है, ज्योतिष्टोम आदि यागानुष्ठान से पूर्व जब तक तज्जन्य अपूर्व (धर्म) उत्पन्न नहीं होता, तब तक उक्त प्रत्यक्ष प्रमाण की धर्मज्ञान में अयोग्यता का कहना युक्त है, परन्तु यागानुष्ठान के अनन्तर जब अपूर्व (धर्म) उत्पन्न हो जाता है, तब उसकी विद्यमानता सर्वस्वीकृत होने से धर्मज्ञान में प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति होनी चाहिए । सूत्रगत हेतु (विद्यमानोपलम्भनत्वात्) से स्पष्ट है—प्रत्यक्ष से विद्यमान अर्थ की उपलब्धि होना शास्त्रकार स्वीकार करता है ।

इसके उत्तर में जानना चाहिए, यागानुष्ठान-कर्त्ता आत्मा में अपूर्व (धर्म) उत्पन्न होता है । अन्य शास्त्रों में इसे धर्म-अधर्म, संस्कार, आशय आदि नामों से कहा गया है । यह एक सर्वमान्य शास्त्रीय व्यवस्था है—किसी एक आत्मनिष्ठ गुण या धर्म का प्रत्यक्ष अन्य किसी आत्मा द्वारा नहीं किया जा सकता । तब यागकर्त्ता-आत्मनिष्ठ अपूर्व का प्रत्यक्ष अन्य किसी आत्मा द्वारा किया जाना अशक्य है ।

१. रामेश्वर सूरि विरचित 'जैमिनिसूत्रवृत्ति' में पाठ है—'विद्यमानोपलम्भात्' ।

२. तुलना करें, गौतमीय न्यायसूत्र, १।१।४, १।४।।

यहाँ स्वभावतः प्रश्न होता है—क्या स्वयं यागकर्त्ता को स्वात्मनिष्ठ अपूर्व का प्रत्यक्ष हो जाता है ? उत्तर स्पष्ट है—नहीं होता । यागकर्त्ता को भी स्वात्मनिष्ठ अपूर्व का प्रत्यक्ष नहीं होता । अपूर्व बाह्य अथवा आन्तर इन्द्रिय द्वारा सर्वथा अग्राह्य है । अपूर्व पूर्णरूप से अतीन्द्रिय अर्थ है । अनुष्ठाता को भी यागानुष्ठान सम्पन्न हो जाने पर जो यह ज्ञान होता है कि मुझ आत्मा में यागजन्य अपूर्व धर्म उत्पन्न हो गया है, यह ज्ञान विधिवाक्य के बल पर ही होता है, याग सम्पन्न होने पर उत्पन्न होता हुआ अपूर्व कभी किसी को प्रत्यक्ष नहीं होता । विधिवाक्य आप्तोपदेश है, अतः धर्म केवल शब्दप्रमाण से बोधित या लक्षित होता है, फलतः द्वितीय सूत्र का कथन पूर्ण रूप से यथार्थ है ।

इस विवरण के अनुसार प्रस्तुत सूत्रोक्त हेतु [विद्यमानोपलम्भनत्वात्] का यह अर्थ समझना होगा—इन्द्रियग्राह्य विद्यमान अर्थ की ही चक्षु आदि इन्द्रियों से उपलब्धि होती है, अतीन्द्रिय अर्थ की नहीं । विद्यमान भी अपूर्व अतीन्द्रिय होने से केवल चोदनागम्य माना जाता है ।

प्रत्यक्ष लक्षण के विषय में प्रस्तुत सूत्र केवल इतना निर्धारण करता है कि इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष दोनों की विद्यमान अवस्था में ही सम्भव है, अविद्यमान अवस्था में नहीं । ज्ञान, अथवा ज्ञान का उत्पन्न होना या इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष आदि के अवधारण में सूत्र का कोई तात्पर्य नहीं है । इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष होने पर ही प्रत्यक्ष होता है, यह निश्चय करना ही सूत्र का तात्पर्य है । एक वाक्य अथवा कथन के द्वारा विविध विषयों का निर्धारण करने के प्रयास में वाक्यभेद होता है, जो शास्त्र में दोष माना गया है । वस्तुतः जब एक व्यक्ति 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इस वाक्य को पढ़ता है, उस समय ज्योतिष्टोम के अनुष्ठान से जन्य अपूर्वसंज्ञक धर्म अविद्यमान रहता है । अध्येता की यागानुष्ठान में प्रवृत्ति तबतक सम्भव नहीं, जबतक उसे यह निश्चय न हो जाय कि यागानुष्ठानजन्य धर्म उसको निःश्रेयस् (स्वर्गसुख) के साथ संयुक्त कर देगा । इस निश्चय के लिए प्रत्यक्ष आदि प्रमाण उस दशा में सर्वथा असमर्थ हैं, जैसा कि सूत्र द्वारा बताया गया । उस समय केवल उक्त विधिवाक्य यह निश्चय कराने में समर्थ है, यह निश्चय ही अध्येता को यागानुष्ठान में प्रवृत्त करता है । यागानुष्ठान के अनन्तर उत्पन्न धर्म, शब्देतर प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ग्राह्य है, या नहीं ? इत्यादि प्रश्न का उभारना निष्प्रयोजन है ॥४॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, धर्म के अस्तित्व में प्रत्यक्ष आदि प्रमाण स्वीकार नहीं किये जाते । शब्दप्रमाण भी इस विषय में कारगर दिखाई नहीं देता, क्योंकि शब्द और अर्थ की उत्पत्ति के अनन्तर—अमुक शब्द अमुक अर्थ का बोधक माना जाय, यह पुरुषकल्पित संकेत पर आधारित है । अतः शब्द की अर्थबोधकता पुरुष-कल्पना के अधीन होने से, पुरुषगत भ्रम-प्रमाद आदि दोषों के कारण—जैसे प्रत्यक्ष

ज्ञान शुक्तिकादि स्थल में व्यभिचरित हो जाता है, ऐसे ही—शब्दगम्य ज्ञान की सत्यता में व्यभिचार की सम्भावना हो सकती है। अतः धर्म में विधिवाक्य को भी निभ्रान्त प्रमाण माना जाना अयुक्त होगा। जो क्या यह मान लेना चाहिए कि धर्म के अस्तित्व में प्रमाण का सर्वथा अभाव है? आचार्य सूत्रकार ने कहा—ऐसा नहीं। क्योंकि—

**औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेक-
श्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात् ॥५॥**

[शब्दस्य] शब्द का [अर्थेन] अर्थ के साथ [सम्बन्धः] सम्बन्ध [तु] तो [औत्पत्तिकः] नित्य—नैसर्गिक है। [तस्य] उसके [धर्म के] [ज्ञानम्], ज्ञान का साधन [उपदेशः] उपदेश (विधिवाक्य) है। [च] और उस (ज्ञानसाधन विधिवाक्य) का [अव्यतिरेकः] कभी विपर्यय नहीं होता। [तत्] वह विधि-वाक्य [अनुपलब्धे] अनुपलब्ध—अतीन्द्रिय [अर्थे] अर्थ में [प्रमाणम्] प्रमाण है, [बादरायणस्य] बादरायण आचार्य के मत में, [अनपेक्षत्वात्] अन्य की अपेक्षा से रहित अर्थात् स्वतः प्रमाण होने के कारण।

सूत्र के 'औत्पत्तिक' पद का अर्थ व्याख्याकार आचार्यों ने 'नित्य' अथवा 'स्वाभाविक'^१ किया है। 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इत्यादि वैदिक वाक्यों का अपने उन-उन प्रतिपाद्य अर्थों के साथ शक्तिरूप^२ सम्बन्ध नित्य है। ये वाक्य त्रिकाल में भी उस अर्थ का व्यभिचार नहीं करते, अर्थ का अन्यथा बोधन नहीं करते। यद्यपि लोक में 'पर्वतो वह्निमान्' (पहाड़ में आग है) यह सुनकर भी, जब

१. यहाँ सूत्रगत 'ज्ञानम्' पद करणार्थक ल्युट् प्रत्ययान्त है—'ज्ञायतेऽनेनेति, ज्ञानम्' जिससे जाना जाय, अर्थात् ज्ञान का साधन।
२. ऐसा अर्थ आपाततः विपरीत प्रतीत होता है। व्याख्याकारों ने सुझाया—'उत्पत्ति' पद लक्षणा वृत्ति से 'स्वभाव' अर्थ को कहता है। जो स्वयं उत्पन्न न होकर अन्य की उत्पत्ति के लिए हितकर एवं अनुकूल हो, वह नित्य एवं स्वाभाविक ही होगा। अर्थ और शब्द का वाच्य-वाचकभाव नित्य सम्बन्ध शब्दोच्चारण द्वारा अव्यभिचरित अर्थबोध को उत्पन्न करता है। अथवा सर्ग के उत्पत्तिकाल से ही शब्द और अर्थ का वाच्य-वाचक-सम्बन्ध नियत है। इसमें यह भाव अन्तर्हित है कि सर्गादिकाल में आदिमानव ब्रह्मा द्वारा वेदशब्दों से अर्थ के संकेतरूप में यह सम्बन्ध नियत किया गया हो। अतः 'औत्पत्तिक' पद का 'नित्य' अर्थ साधार है।
३. अमुक शब्द अमुक अर्थ के बोध न कराने में शक्त है, यह अर्थ और शब्द का वाच्य-वाचक-सम्बन्ध ही 'शक्ति' कहा जाता है।

तक श्रोता प्रत्यक्ष से आग न देख ले, उसकी सत्यता में सन्देह बना रहता है। इससे ज्ञात होता है, शब्द अपने प्रामाण्य के लिए प्रत्यक्ष आदि की अपेक्षा रखता है। यह स्थिति धर्मज्ञान में केवल विधिवाक्य को प्रमाण माने जाने के लिए चुनौती है। यहाँ भी सन्देह की सम्भावना बनी रह सकती है। तथापि सूत्रकार ने सूत्र में 'अनुपलब्धे अर्थे' पदों को रखकर इस सम्भावना का निराकरण कर दिया है।

लौकिक वाक्य में प्रतिपाद्य अर्थ इन्द्रियग्राह्य होने से, शब्द द्वारा अर्थ को जान लेने पर भी प्रत्यक्ष से जान लेने की उत्सुकता बनी रहती है, क्योंकि लौकिक वाक्य का प्रवक्ता पुरुष भ्रम-प्रमाद आदि दोषों से युक्त हो सकता है; वहाँ शब्द के अप्रामाण्य का सन्देह सम्भव है। परन्तु वैदिक विधिवाक्य जिस अर्थ का उपपादन करता है, वह शब्देतर प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सर्वथा अनुपलब्ध है; शब्द से अतिरिक्त अन्य किसी प्रमाण की प्रवृत्ति वहाँ सम्भव नहीं। अतः उस अर्थ को प्रत्यक्षादि प्रमाणों से जानने की उत्सुकता का प्रश्न ही नहीं उठता। वैदिक वाक्य के अपौरुषेय होने से वहाँ भ्रम आदि दोषों की सम्भावना भी नहीं। इसी कारण धर्मज्ञान का साधन विधिवाक्यरूप उपदेश सदा अव्यभिचारी होता है। उसके प्रतिपाद्य अर्थ में कभी किसी प्रकार का विपर्यय नहीं आता। ऐसा वह विधिवाक्य अनुपलब्ध—अतीन्द्रिय अर्थ में प्रमाण है। वैदिक विधिवाक्यरूप शब्दप्रमाण की यह स्थिति बादरायण आचार्य को अभिमत है। क्योंकि वैदिक वाक्य अपने प्रामाण्य में अन्य किसी की अपेक्षा नहीं रखता; वह स्वतः प्रमाण है।

उक्त तीन सूत्रों [३-५] की व्याख्या आचार्य उपवर्ष ने अन्य प्रकार की है। तीसरे सूत्र में 'न' का अध्याहार करके आचार्य का कहना है—धर्मज्ञान के निमित्त की परीक्षा नहीं करनी चाहिए। मीमांसा में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अभाव (अनुपलब्धि) ये छह प्रमाण स्वीकृत हैं, जो शास्त्र व लोक में प्रसिद्ध हैं। इन्हीं में एक 'शब्द' प्रमाण है; वैदिक विधिवाक्यों का उसी में समावेश है। सभी प्रमाणों का प्रामाण्य उनके यथार्थ प्रयोग पर आधारित है। प्रयोक्ता भी भ्रम, प्रमाद आदि दोषों से रहित होना चाहिए।

चक्षु आदि इन्द्रिय तथा अन्य प्रत्यक्ष साधनों के दोषपूर्ण होने पर प्रत्यक्ष का प्रामाण्य दूषित होगा। इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य ऐसा ज्ञान प्रत्यक्ष न होकर प्रत्यक्षाभास ही होगा। अनुमान का प्रामाण्य, हेत्वाभास आदि दोषों से रहित होने पर मान्य होता है। उपमान का प्रामाण्य भी सदृश्यज्ञान में कोई दोष व न्यूनता न

१. वेदान्त ब्रह्मसूत्र के प्रारम्भिक तीसरे सूत्र 'शास्त्रयोनित्वात्' द्वारा बादरायण आचार्य ने यह स्पष्ट किया है कि अज्ञेय अतीन्द्रिय अर्थ के जानने के लिए नित्य वेदवाक्य ही प्रमाण माना जाता है, क्योंकि सर्वज्ञ सर्वशक्ति ब्रह्म वेदशास्त्र का उपदेष्टा है।

होने पर स्वीकार किया जाता है। शब्द के प्रामाण्य के लिए उसके उपदेष्टा का 'आप्त' होना आवश्यक है। जैसे लौकिक वाक्य का प्रामाण्य, उपदेष्टा के आप्त होने पर आधारित है, इसी प्रकार वैदिक वाक्य का उपदेष्टा परम आप्त परमेश्वर है; वहाँ भ्रम, प्रमाद आदि दोष की नितान्त सम्भावना नहीं। ऐसी दशा में धर्म-ज्ञान के निमित्त की परीक्षा करना आवश्यक होगा। आप्तोपदिष्ट वैदिक वाक्य उसका असंदिग्ध निमित्त है।

यहाँ जिज्ञासा होती है—'अग्निहोत्रं जुहुयात्'^१ अथवा 'ज्योतिष्टोमेन यजेत'^२ एवं 'कलञ्जं न भक्षयेत्' इत्यादि समस्त विधि-निषेध वाक्य ब्राह्मण आदि ग्रन्थों के हैं, जिनके प्रवक्ता अस्मदादि सदृश मानव व्यक्ति हैं। यद्यपि वे उच्च कोटि के लोककर्त्ता पुरुषों में हैं, फिर भी उनमें भ्रम, प्रमाद आदि दोषों का होना सम्भव है, अतः धर्मज्ञान के निमित्त की परीक्षा होनी चाहिए।

इस विषय में आचार्य उपवर्ष के कथन का तात्पर्य है—शब्द का प्रामाण्य सर्वत्र उपदेष्टा की आप्तता पर निर्भर है। भले ही उक्त विधि-निषेध वाक्यों का उपदेष्टा परम आप्त परमेश्वर न हो, पर जो अतिमानव उपदेष्टा हैं, उनकी आप्तता में संशय व विश्वास, उनके प्रति अश्रद्धा व श्रद्धा होने पर निर्भर है। यद्यपि श्रद्धा, आप्तता व प्रामाण्य का निर्णायक नहीं; उस दशा में विधिवाक्यों द्वारा प्रतिपादित अर्थ का मूल परमेश्वरोक्त वेद में देखना होगा। जो अंश वेदानुकूल है, वह अर्थ होने से धर्म है; जो वेदानुकूल नहीं है, वह अनर्थ होने से अधर्म है। इसी आशय के आधार पर सूत्रकार जैमिनि ने पञ्चम सूत्र में बादरायण आचार्य की सहमति का उल्लेख किया है। फलतः धर्मज्ञान के निमित्त की परीक्षा करना निष्प्रयोजन है।

यदि ऐतरेय आदि ब्राह्मणों के मानव-प्रोक्त होने से उनमें भ्रमादि दोष के सम्भव होने के कारण उनके प्रामाण्य में सन्देह हो सकता है, तो उसके निवारण के लिए वेदमूलकता का आश्रय लिया जा सकता है? इससे उक्त विधि-निषेध आदि वाक्यों की प्रामाणिकता के लिए आप्तोक्त होने की रेखा परम आप्त परमेश्वर तक पहुँच जाती है। अतः उनका प्रामाण्य निर्भ्रान्त हो जाता है। तब धर्मज्ञान के निमित्त की परीक्षा करना व्यर्थ है; वह विधि आदि वाक्यों द्वारा असंदिग्ध रूप में जान लिया जाता है, जो वाक्य 'शब्द' प्रमाण-रूप है, जिसे स्वीकृत छह प्रमाणों में गिना गया है।

आचार्य उपवर्ष के अनन्तर होनेवाले शबर स्वामी, कुमारिल भट्ट, प्रभाकर आदि मीमांसकों को यह सन्देह सदा सताता रहा प्रतीत होता है कि यदि विधि-

१. कौशी० ब्रा० ४।१४॥ काण्ड सं० ६।७॥

२. तुलना करें, तां० ब्रा० १६।१।२॥

वाक्यों को आप्तोक्त माना गया, तो वे आप्त मानव हो सकते हैं, और मानव में स्वभाव-दौर्बल्य से भ्रम, प्रमाद आदि दोषों का उभरना अनायास प्राप्त है। ब्राह्मणादिगत विधिवाक्यों को परम आप्त परमेश्वरोक्त मानना सम्भव न था, अतः इन आचार्यों ने विधिवाक्यों के प्रामाण्य के लिए आप्तोक्तता के आधार को हटाकर, शब्द-अर्थ और उनके सम्बन्ध की नित्यता को आधार ठहराया, उसी के अनुसार प्रस्तुत सूत्रों का व्याख्यान किया जिसके लिए 'औत्पत्तिकः' पद का 'स्वाभाविकः, नित्यः' अर्थ करना उदाहरण है।^१

शब्द, अर्थ और उनका सम्बन्ध, तीनों को नित्य स्वीकार किये जाने से शब्द-प्रामाण्य के लिए आप्त प्रवक्ता की जड़ ही उखड़ जाती है। वैदिक शब्द नित्य है, उसका प्रेरिता या प्रवक्ता कोई नहीं। अर्थ, यह सब संसार है, शब्द के अर्थरूप में वस्तुमात्र का व्यवहार होता है। यह सब भी नित्य है। इस प्रकार वेद-शास्त्र का प्रेरिता व जगत् का स्रष्टा अमान्य हो जाता है। यह स्थिति सूत्रकार जैमिनि को अभिमत प्रतीत नहीं होती, क्योंकि इस मान्यता के अनुसार जैमिनि के उस लेख का विरोध होता है, जो उसने शब्द-प्रामाण्य के लिए प्रस्तुत सूत्र में बादरायण की सहमति का उल्लेख किया है। सहमति तभी सम्भव है, जब शब्दप्रामाण्य का आधार आप्तोक्तता को माना जाए। बादरायण ने वेदान्त के तृतीय सूत्र में ब्रह्म को शास्त्र (वेद) का योनि (कारण) माना है, जो उसके प्रामाण्य का आधार है। शबर स्वामी आदि मध्यकालिक आचार्यों ने इस तथ्य की उपेक्षा की है। इस विचार में ईश्वर का अस्तित्व भी अमान्य हो जाता है।

सर्ग के प्रारम्भिक काल में आदिपुरुष ब्रह्मा द्वारा वेद के शब्दों से वस्तुओं के नाम रखे गये; यह मनु ने अपने धर्मशास्त्र^२ में बताया है। इससे स्पष्ट होता है अमुक शब्द अमुक अर्थ (वस्तु) का बोधक हो, ऐसा संकेत सर्गादिकाल में निर्धारित किया गया। 'गो' पद अमुक प्राणी का वाचक हो; 'अश्व' पद अमुक का; इस प्रकार लोक व्यवहार की सिद्धि के लिए यह संकेत किया गया। इसी के अनुसार वाच्य-वाचकभाव-सम्बन्धरूप शक्ति 'पद' में निहित रहती है, जो पद का

१. हलायुधकृत 'मीमांसाशास्त्रसर्वस्व' की प्रस्तुत सूत्र-व्याख्या में सूत्र के 'औत्पत्तिकः' पद का अर्थ 'अनित्य' किया है। वहाँ का पाठ है—“..... साधनार्थमिदं सूत्रम् । अस्यार्थः—औत्पत्तिकोऽनित्यः शब्दार्थसम्बन्धः तस्य धर्मस्य निमित्तं पूर्वसूत्रे समासान्तर्गतो निमित्तशब्द इहानुषज्यते ।” सम्भव है, यह पदप्राप्त अर्थ उपवर्ण की व्याख्या के अनुसार किया गया हो। शब्द को नित्य मानकर, अर्थ के साथ उसके सम्बन्ध को अनित्य मानने में कोई अनिवार्य बाधा नहीं है।

२. द्रष्टव्य—मनुस्मृति, १।२१॥

उच्चारण व दर्शन होने पर नियत अर्थ का बोध कराती है। शब्द के नित्य होने पर भी अर्थ के साथ उसका सम्बन्ध संकेत-कृत है, अतः नित्य नहीं माना जाना चाहिए। यह आचार्य उपवर्ष का विचार है।

गत अधिकरण में शब्द, अर्थ और उनके परस्पर सम्बन्ध की नित्यता का कथन किया गया। परन्तु शब्द की नित्यता में आचार्यों का विसंवाद है। शब्दनित्य है, या अनित्य ? इसका निर्णय करने के लिए प्रस्तुत अधिकरण का प्रारम्भ किया। मीमांसा में 'शब्द अनित्य है' यह पूर्वपक्ष है, 'शब्द नित्य है' यह उत्तर पक्ष। प्रथम पूर्वपक्ष का उपपादन सूत्रकार ने प्रारम्भ किया—

कर्मके तत्र दर्शनात् ॥६॥

[कर्म] किया गया, अर्थात् जन्य है (शब्द), [एके] कतिपय आचार्य ऐसा मानते हैं। [तत्र] शब्द की उत्पत्तिके विषय में [दर्शनात्] देखे जाने से (प्रयत्न के)। अथवा, शब्दोच्चारण के प्रयत्न के अनन्तर शब्द के [दर्शनात्] उपलब्ध होने से।

कतिपय आचार्यों का विचार है, शब्द उत्पन्न किया जाता है, क्योंकि उसकी उत्पत्तिके लिए प्रयत्न किया जाना देखा जाता है।

शब्द दो प्रकार का है—वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक। शब्द का पहला प्रकार मानव द्वारा उच्चरित होता है। आभिधानिक आचार्यों ने बताया— जब कोई व्यक्ति कुछ कहना या बोलना चाहता है, तब आत्मा बुद्धि द्वारा वाच्य अर्थों को विचारकर बोलने की इच्छा से अन्तःकरण मन को प्रेरित करता है, शरीर में हरकत करता है, उससे प्राणवायु प्रेरित होकर मुख के कण्ठ, तालु आदि स्थानों में टकराता हुआ यथाक्रम वर्णसमुदाय—शब्द के रूप में उच्चरित होता है।^१ आत्मा की इच्छा के अनुसार आन्तर और बाह्य करणों का यह समस्त प्रयत्नसाध्य व्यापार शब्दोच्चारणरूप में शब्द की उत्पत्तिको स्पष्ट करता है।

ध्वन्यात्मक शब्द मानवेतर प्राणी तथा घण्टा, वेणु, वीणा, मृदंग आदि के सहयोग से उत्पन्न हुआ माना जाता है। वर्णात्मक शब्द न होने की दशा में मानव-मुख द्वारा उच्चरित शब्द भी ध्वन्यात्मक माना जाता है। स्पष्ट है, यह दोनों प्रकार का शब्द प्रयत्नसाध्य देखे जाने से अनित्य है।

१. आत्मा बुद्ध्या समेत्यर्थान् मनो युंक्ते विवक्षया ।

मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मास्तम् ।

मास्तस्तूच्चरन् मन्दं ततो जनयति स्वरम् ॥

—पाणिनीय शिक्षा (श्लोकात्मिका)

इस कारण भी अनित्य है—

अस्थानात् ॥७॥

[अस्थानात्] स्थिर न होने से ।

उच्चारण से पूर्व शब्द उपलब्ध नहीं होता; उच्चारण के अनन्तर क्षणमात्र में नष्ट अथवा अनुपलब्ध हो जाता है । शब्द के विषय में यह कहना भी अनुपपन्न है कि वह विद्यमान रहता हुआ उपलब्ध नहीं हो रहा । क्योंकि विद्यमान वस्तु की अनुपलब्धि में व्यवधान आदि कारण यहाँ कोई दिखाई नहीं देता, इसलिए अस्थिर (उत्पत्ति-विनाशशील) होने से शब्द को अनित्य मानना संगत है ।

शब्द के अनित्य होने का अन्य कारण है—

करोतिशब्दात् ॥८॥

[करोतिशब्दात्] 'करोति' क्रियापद (शब्द) के प्रयोग से (शब्द के विषय में) ।

घर बनाने के लिए जैसे लोक में 'घटं करोति' पदों का प्रयोग होता है, ऐसे ही शब्द के विषय में प्रयोग होता है—'शब्दं करोति' । 'कृब्' धातु का अर्थ नव-निर्माण है; जो अब तक नहीं है, उसका नव-निर्माण, नवीन रूप में रचना । यह व्यवहार व प्रयोग अनित्य अर्थों के लिए नियत है । अतः शब्द को अनित्य मानना न्याय्य होगा ।

इस कारण से भी शब्द अनित्य है—

सत्त्वान्तरे च' यौगपद्यात् ॥९॥

[सत्त्वान्तरे] अन्य पुरुष में (शब्द की) [च] और अथवा विभिन्न देश में [यौगपद्यात्] युगपत् अर्थात् समान काल में उपलब्धि होने से (शब्द अनित्य है) ।

सूत्र में 'च' पद से 'देशान्तर' की पूर्ति कर लेनी चाहिए । विभिन्न देशों में अनेक व्यक्तियों को समानकाल में 'गाय ले आओ' (गामानय) आदि समान पदों की उपलब्धि होती है । मथुरा में देवदत्त ने अपने शिष्य को कहा—'गामानय' । उसी समय पाटलिपुत्र में यज्ञदत्त ने अपने पुत्र को कहा—'गामानय' । विभिन्न स्थानों में अनेक व्यक्तियों द्वारा उच्चरित शब्द की यह स्थिति शब्द के अनित्यत्व को सिद्ध करती है । शब्द को नित्य माननेवाले आचार्य लाघव के कारण शब्द के एकत्व को भी स्वीकार करते हैं । एक ही शब्द विभिन्न व्यक्तियों द्वारा विभिन्न स्थलों में एक-साथ प्रयुक्त हो, यह व्यवहार्य प्रतीत नहीं होता । उच्चरित एकदेशी

१. रामेश्वर सूरि विरचित 'सुबोधिनी' नामक जैमिनि-सूत्रवृत्ति के सूत्रपाठ में 'च' पद नहीं है ।

शब्द में उत्कृष्ट (महत्) परिणाम की कल्पना निर्युक्तिक है। जो शब्द जहाँ उच्चरित होता है, वह अपने रूप में एक इकाई है। अनेक देशों में अनेक व्यक्तियों द्वारा समान काल में उच्चरित शब्द अनेक हो सकते हैं, एक नहीं। इसी कारण वे अनित्य हैं।

इस कारण भी शब्द अनित्य है—

प्रकृतिविकृत्योश्च ॥१०॥

[प्रकृतिविकृत्योः] प्रकृति-विकृति से [च] भी (शब्द अनित्य है)।

वर्णों एवं शब्दों में प्रकृति-विकारभाव देखा जाता है। जहाँ प्रकृति-विकारभाव है, वह निश्चित अनित्य है। जैसे सुवर्ण का विकार कुण्डल एवं मृत् का विकार घट आदि अनित्य हैं, वैसे ही 'दधि-अत्र' में 'दधि' के 'इ' का 'य्' विकार होकर 'दध्यत्र' प्रयोग होता है। यह विकार शब्द की अनित्यता का साधक है। प्रकृति-विकार में परस्पर सादृश्य देखा जाता है। सुवर्ण-कुण्डल, मृद्-घट, काष्ठ-यूप आदि में जैसे परस्पर सादृश्य है, इसी प्रकार 'इ' और 'य्' में दोनों का तालुस्थान होना, तथा स्पष्ट और ईषत्स्पष्ट प्रयत्नरूप सादृश्य है। यह स्थिति इनके प्रकृति-विकार-भाव को स्पष्ट कर अनित्यत्व को सिद्ध करती है ॥१०॥

अन्य वक्ष्यमाण कारण से भी शब्द अनित्य है—

वृद्धिश्च कर्तृभूम्नाऽस्य ॥११॥

[वृद्धिः] बढ़ोतरी है [च] और [कर्तृभूम्ना] कर्त्ताओं के बहुत होने से [अस्य] इसकी (शब्द की)।

शब्द उच्चारण करनेवाले बहुत व्यक्ति जब मिलकर एकसाथ उच्चारण करते हैं, तब एक व्यक्ति द्वारा किये गये उच्चारण की अपेक्षा सामूहिक उच्चारण में शब्द की वृद्धि—बढ़ोतरी—महत्ता अनुभव होती है; अर्थात् वह शब्द ऊँचे स्वर में सुनाई देता है। शब्द का इस प्रकार मन्द और तीव्र स्वर उसकी अनित्यता का साधक है। एकमात्र नित्य वस्तु मन्द भी हो और तीव्र भी, यह सम्भव नहीं।

उच्चारण-विषयक ऐसे सामूहिक प्रयत्न को शब्द का अभिव्यंजक नहीं माना जा सकता। क्योंकि अभिव्यंजक चाहे अल्प हो या महान्, वह अभिव्यञ्ज्य के स्वरूप को नहीं बदल सकता। घट आदि पदार्थ के अभिव्यंजक प्रदीप, चाहे एक हो, या सहस्र हों, घट का स्वरूप प्रत्येक दशा में समान दिखाई देता है। फलतः शब्द के उच्चारण में पुरुष का प्रयत्न शब्द का उत्पादक है, अभिव्यंजक नहीं। अतः शब्द को अनित्य मानना प्रमाणसिद्ध है। ऐसी स्थिति में शब्द-अर्थ के सम्बन्ध को नित्य नहीं माना जा सकता। इसके फलस्वरूप धर्मज्ञान में उसे निमित्त बताना प्रामाणिक न होगा ॥११॥

शब्द नित्यत्वाऽनित्यत्वविषयक इस महान् पूर्वपक्ष को उपस्थित कर सूत्र-कार ने प्रतिमूत्र (प्रत्येक पूर्वपक्ष का सूत्रानुसार) समाधान प्रस्तुत किया—

समं तु तत्र दर्शनम् ॥१२॥

[समम्] समान है [तु] तो [तत्र] शब्द के विषय में प्रयत्न के अनन्तर [दर्शनम्] दर्शन-ज्ञान ।

सूत्र में 'समम्' पद के बल पर 'मतद्वये' पद का तथा प्रयत्न के अनन्तर उच्चरित शब्द के—उच्चारण से पूर्व और पश्चात्—उपलब्ध न होने की स्थिति के अनुसार सूत्रार्थ की पूर्ति के लिए 'क्षणं' पद का अध्याहार अपेक्षित है। शब्द नित्य है, या अनित्य ? ये शब्दविषयक दो मत हैं। जो शब्द को नित्य मानते हैं, उनका कहना है कि शब्द का यह उच्चारण या क्षणमात्र उपलब्धि स्थायी शब्द की अभिव्यक्तिमात्र है। जैसे प्रकोष्ठ-स्थित घटादि स्थायी पदार्थ प्रदीपादि प्रकाशरूप साधन के उपस्थित होने पर अभिव्यक्त हो जाते हैं, और साधन के अभाव में पुनः अनभिव्यक्त हैं, इसी प्रकार विवक्षाजन्य कोष्ठ्य वायु को कण्ठ-तालु आदि के साथ अभिघातरूप साधन के उपस्थित होने पर स्थायी शब्द अभिव्यक्त हो जाता है, साधन के अभाव में अनभिव्यक्त रहता है।

जो आचार्य शब्द को अनित्य मानते हैं, वे प्रयत्न के अनन्तर उच्चारण आदि रूप में शब्द को उत्पन्न हुआ बताते हैं। उच्चारण से पहले उसका अभाव था, और उच्चारण के अनन्तर वह ध्वस्त हो जाता है, अर्थात् उच्चारण से पूर्व या पश्चात् शब्द का अस्तित्व नहीं है।

सूत्रकार का तात्पर्य है, उच्चारणरूप में शब्द का क्षणमात्र उपलब्ध होना—नित्य, अनित्य—दोनों पक्षों में समान है। उच्चारण को चाहे शब्द की उत्पत्ति माना जाय या अभिव्यक्ति, इससे शब्द की उपलब्धि में कोई अन्तर नहीं पड़ता। अतः शब्द का क्षणिक दर्शन, दोनों मतों में से किसी एक का समर्थन नहीं करता। यदि सुपुष्ट प्रमाणों से यह सिद्ध कर दिया जाता है कि शब्द स्थायी है, नित्य है, तो शब्द के क्षणिक दर्शन को निश्चित ही शब्द की अभिव्यक्ति माना जायगा। इसी सन्दर्भ में पूर्वपक्ष के विपरीत तर्कों का समाधान आगे यथाक्रम प्रस्तुत है ॥ १२ ॥

सप्तम सूत्र द्वारा पूर्वपक्ष ने कहा, शब्द स्थायी तत्त्व नहीं है; क्योंकि उच्चारण के पूर्व और पश्चात् अनुपलब्ध है। सूत्रकार ने समाधान किया—

सतः परमदर्शनं विषयानागमात् ॥१३॥

१. कुतूहलवृत्ति में 'परम्' पद का अर्थ 'युक्त' किया है। [सतः] विद्यमान शब्द का [अदर्शनम्] अदर्शन [परम्] युक्त है, उचित है। [विषयानागमात्] विषय—शब्द के साथ अभिव्यञ्जक (संयोग आदि) को अप्राप्ति (अनागम) के कारण ।

[सतः] विद्यमान (शब्द) का [परम्] अभिव्यञ्जक प्रयत्न के पूर्वोत्तर काल में [अदर्शनम्] उपलब्ध न होना [विषयानागमात्] शब्दग्राहक श्रोत्ररूप विषय को प्राप्त न होने से होता है।

शब्द सदा विद्यमान है, स्थायी है। विवक्षा से प्रेरित अभिव्यञ्जक वायु के—कण्ठ, तालु आदि में—अभिघात से शब्द अभिव्यक्त हो जाता है। उच्चारणकाल में मुखगत वायु बाह्य स्तिमित (निष्क्रिय) वायु को धकेलता है, अर्थात् अभिघात से उसे सक्रिय कर देता है। अपनी सक्रियता की क्षमता के अनुसार शब्द की तरंग सब ओर फैलती चली जाती है। श्रोत्र द्वारा शब्द का ग्रहण होना शब्द की अभिव्यक्ति है। इस प्रकार वायु के संयोग-विभाग, शब्द के दर्शन-अदर्शन में निमित्त हैं। जब अभिव्यञ्जक वायुसंयोग रहता है, शब्द प्रकट होता है, सुनाई देता है। जब वायुसंयोग नहीं रहता, तब विद्यमान भी शब्द सुनाई नहीं देता। अभिव्यञ्जक के न रहने पर उसके पूर्वोत्तर-काल में विद्यमान भी शब्द का अदर्शन रहता है, उसका प्रत्यक्ष नहीं होता।

संयोग आदि को शब्द का अभिव्यञ्जक मानने पर आशंका होती है—शब्द आकाश-देश माना जाता है, अर्थात् आकाश में शब्द की अभिव्यक्ति होती है। शब्द का ग्राहक श्रोत्र आकाशरूप है। आकाश सर्वत्र व्याप्त एक तत्त्व है। जो आकाश कर्ण-प्रदेश से सम्बद्ध है, वही समान रूप से सर्वत्र व्याप्त है। ऐसी दशा में शब्द की अभिव्यक्ति मथुरा में होने पर वह पाटलिपुत्र में भी सुनाई देना चाहिए, क्योंकि नित्यत्ववादी शब्द को नित्य एवं एक मानता है। तब एकत्र अभिव्यक्त शब्द सर्वत्र आकाश में सुनाई देना चाहिए।

इस आशंका के समाधान का संकेत प्रथम पंक्तियों में हो गया है। शब्द के अभिव्यञ्जक संयोग आदि की तथा वायु के वेग आदि की अपनी क्षमता सीमित है। जिस प्रदेश में अभिव्यञ्जक, शब्द को अभिव्यक्त करता है, उसकी क्षमता के अनुसार उतने प्रदेश में शब्द सुनाई देता है। दूरदेशस्थित श्रोत्र तक अभिव्यञ्जक संयोग आदि का सम्पर्क न हो सकने के कारण—वहाँ स्थित भी—शब्द अभिव्यक्त नहीं होता। अतः मथुरास्थित अभिव्यञ्जक का प्रभाव पाटलिपुत्र में भी हो, ऐसी कल्पना करना निराधार है ॥ १३ ॥

अष्टम सूत्रोक्त पूर्वपक्ष का समाधान सूत्रकार ने किया—

प्रयोगस्य परम् ॥१४॥

[प्रयोगस्य] प्रयोग — उच्चारण के [परम्] तात्पर्यवाला है।

शब्द के साथ 'कृ' धातु के निर्देश का तात्पर्य केवल 'शब्द के उच्चारण' में है। 'शब्दं कुरु' का केवल यह अर्थ है—शब्द का उच्चारण करो। 'कृ' धातु का अर्थ केवल नवनिर्माण अथवा अभूत-प्रादुर्भावमात्र नहीं है। इस धातु को अनेक

अर्थों में विभिन्न' आचार्यों ने प्रयुक्त किया है। लोक में प्रयोग होता है—'गोम-यान् कुरु' इसका अर्थ है—संवाहे गोमयान् एकत्रीकुरु—कुरड़ी (घूरे) पर गोबर को इकट्ठा करो। यहाँ 'कृ' धातु का अर्थ 'नवनिर्माण' न होकर 'एकत्रित करना' है। इसी प्रकार प्रस्तुत में 'शब्द कुरु' का अर्थ शब्द का उच्चारण करना है, शब्द का निर्माण नहीं ॥ १४ ॥

नवम सूत्र द्वारा प्रस्तुत पूर्वपक्ष का सूत्रकार ने समाधान किया—

आदित्यवद्योगपद्यम् ॥१५॥

[आदित्यवत्] आदित्य—सूर्य के समान [यौगपद्यम्] युगपत्—एकसाथ (अनेक देशों में) शब्द की उपलब्धि समझनी चाहिए।

देशान्तर-स्थित विभिन्न व्यक्तियों द्वारा समान काल में एक ही शब्द का उपलब्ध होना व्यवहार्य नहीं; यह आक्षेप निराधार है। सूर्य जब प्रातःकाल पूर्व दिशा में उदय होता है, तब पृथिवी के उस भाग पर बसे दूरस्थित विभिन्न व्यक्ति एक ही सूर्य को उस दिशा व देश में देखते हैं। सूर्य एक है, देश भी उसका एक है; उपलब्धा व्यक्ति व उपलब्धि के साधन अनेक हैं। इसी प्रकार शब्द एक है, शब्द का देश (आकाश) भी एक है। व्यक्ति व संयोग आदि साधन अनेक हैं। जैसे एक सूर्य अनेक देशस्थित व्यक्तियों द्वारा साधनों की विद्यमानता में युगपत् उपलब्ध होता है, इसी प्रकार एक महान् (आकाशव्याप्त) शब्द संयोगादि साधनों की विद्यमानता में दूर-स्थित विभिन्न व्यक्तियों द्वारा युगपत् उपलब्ध होता है। शब्द के अभिव्यंजक साधन जहाँ विद्यमान होंगे, शब्द उपलब्ध होगा। इसमें यौगपद्य बाधक नहीं हो सकता। न यह अव्यवहार्य है, और न शब्द के सतत सुनाई देते रहने की सम्भावना हो सकती है ॥१५॥

दसवें सूत्र द्वारा प्रस्तुत पूर्वपक्ष भी निराधार है। सूत्रकार ने बताया—

वर्णान्तरमविकारः ॥१६॥

१. सूत्रकार जैमिनि ने स्वयं [४।२।६] सूत्र में 'कृ' धातु का प्रयोग 'आदान' (ग्रहण करने) अर्थ में किया है। व्याकरण महाभाष्य [१।३।१] में 'पृष्ठं कुरु, पादौ कुरु' प्रयोग द्वारा 'कृ' का उपयोग 'निर्मल (शुद्ध) करने' अर्थ में किया है। ताण्ड्य ब्राह्मण [१३।३।२४] में 'मन्त्रकृत्' का अर्थ 'मन्त्रों के प्रयोक्ता' माना गया है। यहाँ 'कृ' धातु का अर्थ 'प्रयोग करना' है। लोक में 'रखना' अर्थ में भी 'कृ' धातु का प्रयोग देखा जाता है—'घटे कुरु, प्रकोष्ठे कुरु' इत्यादि।

२. 'शब्दान्तरम्' पाठा० रामेश्वर सूरि विरचित सुबोधिनी वृत्ति।

[वर्णान्तरम्] एक वर्ण के स्थान में अन्य वर्ण का प्रयोग किया जाना [अविकारः] विकार नहीं है।

‘दधि+अत्र’ पद में ‘इ’ के स्थान में व्यवहार के लिए ‘य’ का प्रयोग होना, वर्णों में प्रकृति-विकार-भाव का व्यवस्थापक नहीं है। आभिधानकों ने इसे विकार न मानकर ‘आदेश’ कहा है। एक वर्ण के स्थान में व्यवहारानुकूल अन्य वर्ण के प्रयोग की व्यवस्था आदेश है। इकार और यकार परस्पर सर्वथा भिन्न वर्ण हैं; कोई किसी का विकार या प्रकृति नहीं। जैसे मिट्टी से घड़ा, सुवर्ण से कुण्डल, वीरण नामक तृण (पनी नामक घास की जड़, जो ‘खस’ नाम से प्रसिद्ध है। यह दुमट किस्म की नमी की जगह में प्रायः पैदा होती है) से चटाई आदि बनाये जाते हैं, इनमें प्रकृति-विकारभाव है, वैसा वर्णों में नहीं।

शब्द को नित्य माननेवाले व्याकरणशास्त्र में इस सिद्धान्त को स्वीकार किया है।^१

यह तो स्वाभाविक है; परन्तु शब्द को अनित्य माननेवाले व्यायशास्त्र में भी वर्णों के प्रकृति-विकारभाव की मान्यता को स्वीकार न कर आदेशपक्ष को सिद्धान्त माना है।^२ किन्हीं दो वस्तुओं का साधारण सादृश्य उनके परस्पर प्रकृति-विकारभाव का प्रयोजक नहीं होता। कूण्डे में रखे दही और बोझ्या में रखे माघी फूलों के उज्ज्वल श्वेतरूप सादृश्य को क्या उनके परस्पर प्रकृति-विकारभाव का साधक माना जा सकेगा ? फलतः वर्णों में प्रकृति-विकारभाव की कल्पना कर शब्द की नित्यता पर जो आक्षेप किया गया, वह नितान्त निराधार है ॥१६॥

ग्यारहवें सूत्र द्वारा प्रस्तुत आक्षेप का सूत्रकार ने समाधान किया—

नादवृद्धिः परा^३ ॥१७॥

[नादवृद्धिः] नादविषयक वृद्धि—बढ़ोतरी है [परा] अतिशय अथवा अन्य।

१. महाभाष्यकार पतंजलि ने इस विषय पर चर्चा करते हुए सिद्धान्त बताया—

सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षिण्यस्य पाणिनेः।

एकदेशविकारे हि नित्यत्वं नोपपद्यते ॥ [१।१।२०]

पाणिनि के मत में पूरे एक पद के स्थान पर दूसरा पद आकर बैठ जाता है। यही आदेश है। पद के एकदेश में विकार मानने पर शब्द का नित्यत्व उपपन्न नहीं होता।

‘दधि-अत्र’ पूरे पद के स्थान पर ‘दध्यत्र’ पद का प्रयोग मान्य है।

२. द्रष्टव्य—न्यायदर्शन, समाख्य [२।२।४०-४६]

३. रामेश्वर सूरि विरचित सुबोधिनी व्याख्या के सूत्रपाठ में विसर्ग न होकर समासयुक्त ‘नादवृद्धिपरा’ पाठ है। शितिकण्ठ कृत ‘सुबोधिनी’ व्याख्या में दोनों पद पृथक् (नादवृद्धिः परा) रूप में पठित हैं।

सूत्र में दूसरा 'परा' पद पहले पद का विशेषण होने से स्त्रीलिंग में प्रयुक्त है। 'पर' पद के दो अर्थ प्रसिद्ध हैं—अतिशय और अन्य। ग्यारहवें आक्षेप में कहा गया है कि शब्द की मन्दता और तीव्रता, अथवा मुदुता और पटुता उसके अनेक व अनित्य होने के साधक हैं। सूत्रकार का उत्तर है, मुदुता व पटुता धर्म वर्ण अथवा शब्द के नहीं हैं। ये 'नाद' के धर्म हैं; उसी में वृद्धि अथवा वृद्धि का अतिशय रहता है, वर्ण अथवा शब्द में नहीं। एकत्रित होकर अनेक व्यक्तियों द्वारा उच्चरित वर्णों या शब्दों का प्रचय (ढेर) पटुता अथवा तीव्रता हो, ऐसी बात नहीं है, क्योंकि शब्द निरवयव है; प्रचय उन्हीं वस्तुओं में सम्भव है, जो सावयव हों। शब्द ऐसा नहीं, अतः शब्द में प्रचय की कल्पना निराधार होने से पटुता या महत्ता उसका धर्म सम्भव नहीं। ✓

सूत्रकार का कहना है—यह 'नाद' का धर्म है। 'नाद' क्या है? इसका विवरण व्याख्याकारों ने दिया—शब्द के अभिव्यंजक संयोग-विभाग जब निरन्तर किये जाते हुए शब्द को अभिव्यक्त करते हैं, तब वे (संयोग-विभाग) 'नाद' शब्द से कहे जाते हैं। तात्पर्य हुआ—जब अनेक व्यक्ति मिलकर शब्द उच्चारण करते हैं, अथवा भेरी (नगाड़ा) आदि को निरन्तर अभिहत करते हैं, तब उच्चारण के वे ही अनेक वर्ण व अनेक ध्वनियाँ कान के पूरे पदों को व्याप्त कर सुनाई देते हैं। पटुता-मन्दता (ऊँच-नीच), निरन्तर होनेवाले या न होनेवाले संयोग-विभाग का धर्म है। दोनों अवस्थाओं में वर्ण एक ही रहते हैं। 'गामानय' पद चाहे मन्द कहे जायें या तीव्र, इन पदों में कोई अन्तर नहीं आता; 'सुनाई देना, या सुनना' क्रिया में अन्तर हो सकता है, जिसका कारण व्यंजक की तीव्रता-मन्दता है।

जैसे प्रकोष्ठ में रखे घटादि पदार्थों में व्यंजक प्रकाश की मन्दता व तीव्रता से कोई अन्तर नहीं आता—'दिखाई देना या देखना' क्रिया में भले ही स्पष्टता व अस्पष्टता का अन्तर रहे, पर स्थायी घटादि में कोई अन्तर नहीं—ऐसे ही स्थायी शब्द सदा एक बना रहता है, उसमें मन्दता-तीव्रता आदि धर्म कभी नहीं होते। ये धर्म, शब्द के अभिव्यंजक संयोग-विभाग के हैं, जो 'नाद' शब्द वाच्य हैं ॥१७॥

शब्द के नित्यत्व में ग्यारह आक्षेपों का समाधान कर सूत्रकार ने वक्ष्यमाण हेतुओं से शब्द को नित्य सिद्ध करने के प्रसंग में प्रथम हेतु प्रस्तुत किया—

१. मन्दता-तीव्रता शब्द के धर्म नहीं हैं, व्याख्याकारों ने इसमें शब्द की निरवयवता को हेतु बनाया है। परन्तु संयोग-विभाग भी निरवयव हैं। जो पक्ष शब्द को अनित्य मानता है, वह शब्द व संयोग आदि समान रूप से गुण कहता है। प्रत्येक गुण निरवयव है। सावयव केवल अनित्य द्रव्य होता है। निरवयव शब्द के धर्म मन्दता-तीव्रता न हों, निरवयव संयोग-विभाग के हों, इसमें कोई नियामक प्रतीत नहीं होता। यह विचारणीय है।

नित्यस्तु स्याद्दर्शनस्य परार्थत्वात् ॥१८॥

[नित्यः] नित्य [तु] तो, अथवा—ही [स्यात्] है, शब्द [दर्शनस्य] उच्चारण के [परार्थत्वात्] परार्थ होने से।

शब्द का उच्चारण अन्य व्यक्ति को अर्थविशेष का बोध कराने के लिए किया जाता है। यदि शब्द अनित्य है, और उच्चारण के अनन्तर तत्काल नष्ट हो जाता है, तो अन्य को बोध कराने के लिए उच्चारण किया जाना ही व्यर्थ है; क्योंकि उस दशा में शब्द का उच्चारयिता अन्य को बोध कराने में असमर्थ रहेगा। यदि उच्चारण के अनन्तर भी शब्द रहता है, उसका नाश नहीं होता, तो अनेक बार उसके प्रयोग में आने से बोध कराया जाना तथा बोध होना युक्त है। शब्द को अनित्य मानने पर उसी शब्द के अनेक बार व्यवहार में अथवा प्रयोग में आने की स्थिति कभी नहीं आ सकती; क्योंकि उत्पन्नप्रध्वंसी (उत्पन्न होते ही नष्ट होनेवाला) शब्द उच्चरित होने पर प्रत्येक बार नया होता है। इसी कारण इस पक्ष में एक शब्द का अनेक बार प्रयोग सम्भव नहीं। न वह किसी अर्थ का बोध कराने में समर्थ है।

यह कहना भी युक्त न होगा कि बोद्धा आदि, उस शब्द के सदृश शब्दों का प्रयोग व व्यवहार अनेक बार पहले करते रहे हैं; इसके अनुसार अन्य को अर्थ का बोध कराने का प्रयोजन, शब्द को अनित्य मानने पर भी सिद्ध हो सकता है। शब्द का अर्थ के साथ सांकेतिक (कृत्रिम, किसी के द्वारा बनाया गया, संकेत किया गया) वाच्य-वाचकभाव-सम्बन्ध सादृश्यमूलक माने जाने में कोई बाधा प्रतीत नहीं होती।

यह कथन इसलिए अयुक्त है कि शब्द-अर्थ का परस्पर सादृश्यमूलक सांकेतिक सम्बन्ध मानने पर, शाला-माला, सकल-शकल, सकृत्-शकृत् आदि सदृश-पदों में व्यामोह (भ्रम) से वाञ्छनीय अर्थ का बोध कराना ही नष्ट हो जायगा।

गो पद के अपभ्रंश रूप 'गावी' आदि पदों से गाय प्राणी का यथार्थ बोध इन पदों की सादृश्यमूलकता पर आधारित नहीं है, प्रत्युत वक्ता 'गो' पद के स्थान पर 'गावी' पद का प्रयोग करना अभिवांछित मानता है, तथा श्रोता व बोद्धा उसे उसी प्रकार समझता है। अनित्य शब्द मानने पर शब्द-अर्थ के कृत्रिम (सांकेतिक) सम्बन्ध तथा व्यवहार दोनों कार्यो का—उच्चारणरूप एकमात्र प्रयत्न से—किये जाने का कथन अन्याय्य होगा। फलतः शब्द तथा शब्दार्थ-सम्बन्ध को नित्य माने जाने पर 'ही' शब्दोच्चारण अन्य व्यक्ति को अर्थ-बोध कराये जाने में

१. सूत्र में 'तु' पद का अर्थ कुतूहलवृत्ति में 'अवधारण' किया है (यु० मी०)। वस्तुतः 'तु' पद का यह तात्पर्य सम्भव है। गत सूत्रों से नित्य पक्ष में ग्यारह आक्षेपों का समाधान कर सूत्रकार अब शब्दनित्यत्व-पक्ष में स्वतन्त्र हेतु

सफल हो सकता है ॥१८॥

सूत्रकार ने शब्दनित्यत्व में दूसरा हेतु प्रस्तुत किया—

सर्वत्र यौगपद्यात् ॥१९॥

[सर्वत्र] सब गायों में (गो पद का उच्चारण किये जाने पर) [यौगपद्यात्] युगपत्—एक-साथ (गोमात्र का) ज्ञान हो जाने से ।

किसी पद से उसके अर्थ का बोध होने के अनेक कारण होते हैं।^१ उनमें साधारण जन के बोध के लिए सर्वसुलभ साधन वृद्धव्यवहार है। बड़ों के परस्पर वार्तालाप के अनुसार सक्रिय व्यवहार के द्वारा, समीप बैठा या खेलता हुआ बालक बड़ों के द्वारा उच्चरित पदों के अर्थों को जान लेता है। 'गाय लाओ' कहने पर लाये हुए प्राणी को 'यह गाय है' तथा 'मैंस लाओ' अथवा 'घोड़ा लाओ' कहने पर लाये हुए प्राणी को 'यह मैंस है' अथवा 'यह घोड़ा है' इस प्रकार शब्द और अर्थ के नियत वाच्य-वाचक-सम्बन्ध को अनेक बार के व्यवहार से बालक जान लेता है।

इसमें रहस्य यह है—'गाय लाओ' कहनेवाले वक्ता का तात्पर्य 'गो' पद से गायमात्र का निर्देश करना नहीं है। यह भी नहीं है कि चाहे जिस गाय को ले आओ। यह निर्देश उस समय एक विशिष्ट गाय के लिए किया जाता है। परन्तु यहाँ भी 'गो' पद, समस्त गो-जातिरूप अपने अर्थ की अभिव्यक्ति को खो नहीं देता। यही कारण है—दो-चार बार उक्त वृद्ध-व्यवहार को देखने के अनन्तर बालक को फिर कभी यह बताने की आवश्यकता नहीं होती कि गोपद-बोध्य यह गाय है, घोड़ा नहीं है। वह बिना किसी के बताये संसार-भर की समस्त गायों को पहचानता है, और यह भी जानता है—इसका वाचक पद 'गो' है। इससे स्पष्ट है—'गो' पद व्यक्तिविशेष प्राणी को कहने के साथ 'समस्त जाति' रूप अर्थ को अभिव्यक्त करता है।

प्रस्तुत करना चाहता है। प्रसंग के प्रारम्भ में उक्त पद का प्रयोग शब्द की नित्यता के निश्चय का संकेत करता है। भाष्यकार (शबर स्वामी) ने प्रथम आक्षेप के समाधान में सूचित किया है—यदि शब्द की नित्यता सुपुष्ट प्रमाणों से निश्चित की जाती है, तो आक्षेपों के ये सब समाधान युक्तियुक्त होंगे, उसी का यह अवसर है। इस भावना से उक्त पद का तात्पर्य 'अवधारण' साधार है। सूत्र के 'स्यात्' क्रियापद को वर्तमानार्थक समझना चाहिए।

१. आचार्यों ने शक्तिग्रह (अमुक वाचक पद का अमुक अर्थ वाच्य है, इस) के ये कारण बताये हैं—

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमान कोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च ।

वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ॥

यदि शब्द-अर्थ के इस सम्बन्ध को किसी व्यक्ति द्वारा किया गया कृत्रिम-सांकेतिक माना जाता है, तो वह संकेत अंगुलिनिर्देशपूर्वक किसी विशेष गोपिण्ड व्यक्ति के प्रति ही किया जा सकता है; जातिमात्र के प्रति ऐसा निर्देश सम्भव न होगा, अतः शब्द-अर्थ का यह सम्बन्ध नित्य-नैसर्गिक है, यही मानना न्याय्य है।

इस प्रसंग में यह भी ध्यान रखना चाहिए—यदि शब्द को अनित्य माना जाता है, तो संकेतकर्त्ता ने जिस पद का जिस अर्थ के साथ सम्बन्ध का संकेत किया, वह पद उच्चारण के अनन्तर नष्ट हो गया। तब सम्बन्ध का रहना भी सम्भव नहीं, वह भी नष्ट हो गया। तब प्रत्येक बार 'गो' पद के उच्चारण के साथ सम्बन्ध-संकेत किये जाने की आवश्यकता होगी, क्योंकि प्रत्येक उच्चारण पर पद सर्वथा नवीन होता है, जिसका अर्थ के साथ सम्बन्ध-संकेत कभी नहीं किया गया। इस रूप में लोक-व्यवहार ही नष्ट हो जायगा। इससे स्पष्ट हो जाता है, प्रत्येक बार में उच्चारण किया गया 'गो' पद एक ही है। 'स एवायं गकारः' अथवा 'तदेवेदं गोपदम्' इस प्रकार की निर्बाध प्रत्यभिज्ञा वर्णों एवं पदों के विषय में सर्व-विदित है। लोक में सर्वसाधारण द्वारा भी प्रायः ऐसा व्यवहार होता देखा जाता है। सर्वत्र एकसाथ देखा जाता हुआ यह व्यवहार शब्द की नित्यता का साधक है ॥१६॥

शब्द की नित्यता में सूत्रकार ने तीसरा हेतु प्रस्तुत किया—

संख्याऽभावात् ॥२०॥

[संख्याऽभावात्] संख्या के अभाव से (शब्द के साथ)।

एक व्यक्ति अपने साथी को कहता है— मैं प्रतिदिन प्रातः सौ बार गायत्री मन्त्र का जप करता हूँ। मन्त्र एक है, जो शब्दरूप है। सौ का सम्बन्ध 'जपना' क्रिया के साथ है, मन्त्र के साथ नहीं। मैंने आपको दस बार कहा है 'घर छोड़कर कहीं न जाओ'। यहाँ शब्द-समूह—वाक्य एक है; दस संख्या का सम्बन्ध 'कहना' क्रिया के साथ है। एक 'गो' शब्द को अनेक बार उच्चारण करने पर व्यवहार यही होता है कि गो शब्द अनेक बार कहा। यह व्यवहार नहीं होता है कि अनेक 'गो' शब्द कहे। इससे स्पष्ट होता है—शब्द स्थायी है, नित्य है। वही शब्द बार-बार उच्चरित होता रहता है। कोई भी शब्द अपने पूर्व-उच्चरित शब्द से भिन्न नहीं होता। साधारणजन भी यह जानते हैं, और व्यवहार भी ऐसा करते हैं, एक ही 'गो' शब्द बार-बार उच्चरित होता रहता है।

शब्द की इस एकता को सादृश्यमूलक नहीं कहा जा सकता; क्योंकि प्रवक्ता व्यक्ति की जानकारी और व्यवहार में यह कभी नहीं देखा-सुना जाता कि प्रथम उच्चरित गो शब्द के सदृश यह गो शब्द उच्चारण किया जा रहा है; प्रत्युत जानकारी और व्यवहार यही रहता है कि यह वही गो शब्द है जिसको पहले

उच्चरित किया था। अतः शब्द की एकता को सादृश्यमूलक भ्रान्ति नहीं कहा जा सकता। वस्तुओं के भेद का प्रथम स्पष्ट ज्ञान होने पर ही भ्रान्ति हुआ करती है; परन्तु एक गो शब्द अन्य गो शब्द से भिन्न है, इसमें प्रत्यक्ष आदि कोई प्रमाण नहीं है।

एक बार गो शब्द का उच्चारण करने के अनन्तर जब कालान्तर में दुबारा उस पद का उच्चारण किया जाता है, तब स्पष्ट ही दोनों उच्चारणों के अन्तराल-काल तथा पूर्व और पश्चात् शब्द अनुपलब्ध रहता है। इस अनुपलब्धि का कारण, शब्द के अभाव को माना जाना असंगत होगा। कारणान्तरों से शब्द का स्थायी व नित्य होना सिद्ध है। स्थायी पदार्थ यदि एक समय किसी कारणवश उपलब्ध नहीं हो रहा, तो इतने मात्र से वह नष्ट हो गया, या उसका अभाव हो गया, ऐसा नहीं माना जा सकता। यदि कोई व्यक्ति अपने अन्य किसी मित्र से मिलने उसके घर जाता है, घर के पारिवारिक जन कारणवश कहीं बाहर गये हैं, वह उन्हें अनुपलब्ध पाता है। कुछ ही देर में वे वापस आ जाते हैं। तो क्या उनकी उस अनुपलब्धि से यह समझा जा सकता है कि वे नष्ट हो गये थे? और अब नये उत्पन्न हुए हैं? ऐसा कदापि नहीं समझा जा सकता। ठीक यही स्थिति शब्द के विषय में है। फलतः स्थायी एक शब्द का ही अनेक बार उच्चारण होता रहता है। शब्द के भिन्न न होने से शब्द में द्वित्वादि संख्या का अभाव है। एकत्व संख्या अखण्ड है, यह भेद की साधक न होकर बाधक है ॥२०॥

शब्द के नित्यत्व में सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

अनपेक्षत्वात् ॥२१॥

[अनपेक्षत्वात्] अपेक्षित—ज्ञान न होने से (शब्द के नाश का कारण)। शब्दनाश के कारण का ज्ञान न होने से शब्द नित्य है।

यह एक व्यवस्था है—जो पदार्थ उत्पन्न होता है, कालान्तर में वह नष्ट हो जाता है। परन्तु जिस पदार्थ को उत्पन्न होते हुए हम नहीं देख पाते, अर्थात् जिसकी उत्पत्ति को हमने नहीं देखा, ऐसे पदार्थ को देखकर उसके विनाश का निश्चय हो जाता है। नये वस्त्र को देखकर नितान्त ग्रामीण व्यक्ति भी यह जानता है कि घागों के सीधे-आड़े संयोग से यह कपड़ा बना है। संयोग के विच्छिन्न हो जाने पर अथवा घागों के टूट जाने पर यह कपड़ा नष्ट हो जायगा; यद्यपि उस व्यक्ति ने उसे उत्पन्न होते नहीं देखा। परन्तु इसके विपरीत, शब्द के विषय में यह किसी ने नहीं जाना कि ये शब्द के उत्पत्ति-कारण हैं, और इनके विनाश से शब्द का विनाश हो जायगा, शब्दविनाश के कारण उपलब्ध न होने से शब्द नित्य है, यह निश्चय होता है ॥२१॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—शब्द के उत्पत्ति-विनाश के कारण उपलब्ध नहीं

हैं, यह कथन संदिग्ध प्रतीत होता है; क्योंकि आन्तरिक वायु उमरकर जब मुख के कण्ठ-तालु आदि स्थानों में अभिघात (संयोगविशेष) करता है, तभी शब्द का उच्चारण होता है। इससे स्पष्ट है—वायु का संयोग, शब्द की उत्पत्ति का तथा उसका अभाव अर्थात् वायु का विभाग, शब्द के विनाश का कारण है। आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

प्रख्याऽभावाच्च योगस्य ॥२२॥

[प्रख्याऽभावात्] विशेष ज्ञान के अभाव से [योगस्य] योग = संयोग के। शब्द की अभिव्यक्ति में वायुसंयोग-विषयक विशेष ज्ञान (प्रख्या?) के अभाव से यह जिज्ञासा उठी।

गत सूत्र की व्याख्या में व्याख्याकारों के विवरण के अनुसार यह स्पष्ट होता है कि गत सूत्र में सूत्रकार ने—शब्द का कोई उपादान कारण मानने की दशा में—शब्द-विनाश का कोई कारण उपलब्ध नहीं, ऐसा कहा है। यह सर्वमान्य विचार है कि प्रत्येक कार्यवस्तु का कोई उपादान-कारण अवश्य रहता है, उसके नाश से कार्यवस्तु का नाश हो जाता है। इसी को अन्य तन्त्र के अनुसार जन्य वस्तु के समवायि-असमवायि-निमित्तकारण के रूप में कहा जा सकता है। गत सूत्र में सूत्रकार ने शब्द के उत्पत्ति-विनाश के समवायि-असमवायि कारणों की अनुपलब्धि का निर्देश किया है। तात्पर्य है, शब्द का न कोई समवायि कारण है, न असमवायि कारण। इसलिए समवायि-असमवायि कारण के नाश से शब्द के नाश का प्रश्न ही नहीं उठता। इसी भावना से गत सूत्र में शब्दविनाश के कारण की अनुपलब्धि का निर्देश किया है। शब्द की अभिव्यक्ति में वायुसंयोग का योग-दान समवायि-असमवायि-कारणता के अन्तर्गत नहीं आता। शब्द के प्रति संयोग-साचिव्य की वास्तविकता को न समझकर जिज्ञासा की गई है, यह प्रस्तुत सूत्र से स्पष्ट किया है।

जिज्ञासु ने वायु एवं वायु-संयोग-विभाग को शब्द की अभिव्यक्ति में उपादान अथवा समवायि-असमवायि कारण समझकर जिज्ञासा की। उसी के अनुसार शिक्षाकार आचार्यों का प्रमाण उपस्थित किया—‘वायुरापद्यते शब्दताम्’^१ वायु

-
१. शाबरभाष्य व अन्य व्याख्याओं में यह वाक्य उद्धृत है। मूल-स्थान का निर्देश नहीं दिया गया। पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने वैदिक साहित्य से इसी आशय के अनेक सन्दर्भों का संकलन इस सन्दर्भ की टिप्पणी में किया है। ये शाबर-भाष्य हिन्दिरूपान्तर-सहित के पृष्ठ ७७ पर द्रष्टव्य हैं। प्राचीन आचार्यों के इन सन्दर्भों का तात्पर्य—शब्द की अभिव्यक्ति के प्रति वायु की निमित्तता प्रकट करना है। न ये सन्दर्भ पूर्वपक्ष के हैं, न इनका अभि-

शब्दभाव को प्राप्त हो जाता है। इससे प्रतीत होता है—शब्द वायु का परिणाम अथवा विकार है।

आचार्य सूत्रकार ने कहा—शब्द की अभिव्यक्ति के प्रति वायु एवं वायु-संयोग के योगदान की विशेष जानकारी की ओर ध्यान नहीं दिया। शब्द की अभिव्यक्ति में वायु एवं वायुसंयोग निमित्तकारण मात्र हैं, उपादान अथवा समवायि-असमवायि कारण नहीं। यदि ऐसा होता, तो शब्द वायु-अवयवों का संघटनमात्र (सन्निवेश विशेष) होता। परन्तु शब्द का ऐसा स्वरूप जाना नहीं जाता। कारण यह है—वायु का ग्रहण त्वक् (स्पर्शक) इन्द्रिय से होता है; यदि शब्द वायवीय होता, तो उसका ग्रहण त्वक् इन्द्रिय से होना चाहिए था। इसके विपरीत शब्द का ग्रहण श्रोत्र इन्द्रिय से होता है, जो नहीं होना चाहिए था। वायु का ग्रहण श्रोत्र इन्द्रिय से नहीं हो सकता। इससे स्पष्ट होता है—शब्द वायु का विकार या परिणाम नहीं है। उसकी अभिव्यक्ति के प्रति वायु-निमित्तता की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

इस सूत्र के कतिपय पाठभेद उपलब्ध हैं। रामेश्वर सुरि विरचित सुबोधिनी नामक व्याख्या में 'प्रक्ष्याभावाच्च योग्यस्य' सूत्रपाठ है। 'योग्य' पद का तात्पर्य है—श्रोत्र इन्द्रिय द्वारा होनेवाले प्रत्यक्ष का विषय। शब्द का श्रोत्र इन्द्रिय द्वारा ग्रहण किया जाता है। यदि शब्द को वायु का विकार माना जाता है, तो श्रोत्र इन्द्रिय से उसका ग्रहण न होगा। अतः शब्द वायु-विकार नहीं है।

कुतूहलवृत्ति में सूत्रपाठ है—'प्रेक्षाभावाच्च संयोगस्य'; अर्थ किया है—यदि शब्द वायुविकार हो, तो वायु-अवयवों का संयोग शब्द में देखना चाहिए; जैसे तन्तुओं के विकार-पट (वस्त्र) में तन्तुओं का संयोग देखा जाता है। परन्तु वहाँ संयोग के (संयोगस्य) न देखे जाने से (प्रेक्षाभावात्) शब्द वायु का विकार नहीं है।

फलतः गत सूत्र में सूत्रकार का यह निर्देश कि शब्द के विनाश-कारण की अनुपलब्धि होने से शब्द नित्य है—सर्वथा यथार्थ है। कार्य का विनाश सर्वदा समवायि-असमवायि कारण के विनाश से होता है, जो शब्द में सम्भव नहीं; अतः शब्द नित्य है ॥२२॥

शब्द के नित्य होने में सूत्रकार ने प्रमाण का संकेत किया—

प्रायः शब्द को वायु का विकार या परिणाम बताना है। वे सन्दर्भ इस प्रकार हैं—'वायुः रवात्। शब्दस्तत् (वाज० प्राति० १।६, ७) ऋक् प्रातिशाख्य (१३।१), तैत्तिरीय प्रातिशाख्य (२।२), भर्तृहरि का वाक्यपदीय ब्रह्म-काण्ड में—'वायोरणूनां ज्ञानस्य शब्दत्वापत्तिरिष्यते' (कारिका १०७), 'स्थानेष्वभिहतो वायुः शब्दत्वं प्रतिपद्यते' (कारिका १०८)।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥२३॥

[लिङ्गदर्शनात्] लिङ्ग (प्रमाण) के देखे जाने से [च] भी (शब्द नित्य है, यह समझना चाहिए) ।

ऋग्वेद [८।७।६] में पाठ है—‘वार्चा विरूप नित्यया’; ऋचा के इस अंश में शब्दरूप वाक् (वाणी) को नित्य कहा है । इस सूक्त का ऋषि विरूप है । देवता अग्नि है । सूक्त का मुख्य प्रतिपाद्य विषय अग्नि का स्तवन अथवा वर्णन करना है । परन्तु प्रसंगवश वाणी = शब्द की नित्यता भी इससे सूचित हो जाती है । ‘लिङ्ग पद का तात्पर्य है—छिपे अर्थ को प्रसंगतः प्रकट करना—‘लीनमर्थं गमयति बोधयति इति लिङ्गम्’ । अग्नि-वर्णनपरक ऋग्वक् प्रसंगतः वाक् = उच्चारण-रूप शब्द की नित्यता का भी कथन करता है । अतः शब्द को नित्य मानना पूर्णतया प्रामाणिक है ॥२३॥ (इति शब्दनित्यताधिकरणम्—६)

अथ वेदस्यार्थप्रत्यायकत्वम्-अधिकरणम्—७

शिष्य जिज्ञासा करता है—शब्द तथा शब्द-अर्थ के सम्बन्ध को नित्य मानने पर भी विधिवाक्य (चोदना) को धर्म में प्रमाण माना जाना युक्त नहीं; क्योंकि पद और वाक्य परस्पर भिन्न होते हैं । पद ही वाक्य नहीं होता । फलतः एक पदमात्र के अर्थज्ञान से वाक्यार्थज्ञान नहीं होता । तब शब्द व शब्दार्थ-सम्बन्ध का का नित्य होना, विधिवाक्य से धर्मज्ञान की प्रामाणिकता को सिद्ध करना अशक्य होगा । आचार्य सूत्रकार ने शिष्य-जिज्ञासा को सूत्रित किया—

उत्पत्तौ वाऽवचनाः स्युरर्थस्यातन्निमित्तत्वात् ॥२४॥

[उत्पत्तौ] शब्द व शब्दार्थ-सम्बन्ध के औत्पत्तिक—नित्य माने जाने पर [वा] भी [अवचनाः] न कहनेवाले [स्युः] होते हैं (चोदनाः—विधिवाक्यसमूह, धर्मज्ञान के) [अर्थस्य] अर्थ—वाक्यार्थ के [अतन्निमित्तत्वात्] पदार्थनिमित्तक न होने से ।

पदार्थज्ञान से वाक्यार्थज्ञान भिन्न है तथा पदार्थ, वाक्यार्थ का निमित्त नहीं होता; इसलिए पदार्थज्ञान होने पर भी चोदनारूप विधिवाक्य, धर्म की जानकारी देने में असमर्थ होंगे ।

‘अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः’ यह विधिवाक्य है । इसका अर्थ है—‘स्वर्ग की कामना करनेवाला अग्निहोत्र होम करे’ । विधिवाक्य का यह इतना अर्थ वाक्य के किसी एक पद—अग्निहोत्र, जुहुयात् या स्वर्गकाम—से अभिव्यक्त नहीं होता । इनके अतिरिक्त इस वाक्य में अन्य कोई चौथा पद या निमित्त नहीं है, जो वाक्यार्थ को प्रकाशित कर सके । यह विधिवाक्यरूप पदसमुदाय लोक में प्रयुक्त नहीं, जिससे वृद्धव्यवहार आदि द्वारा वाक्यार्थ-बोध हो सके । यद्यपि

अग्निहोत्र आदि पदों का पृथक् व्यवहार लोक में होता है। इसलिए समुदाय (चोदना वाक्य) का अर्थ किसी व्यक्ति द्वारा संकेतित माना जा सकता है, जो अनित्य है, एवं भ्रम आदि से ग्रस्त भी हो सकता है।

इसके अतिरिक्त केवल पद (गो, अश्व आदि) सामान्य अर्थ में प्रवृत्त होता है, तथा वाक्य (गामानय, अश्वं नय इत्यादि) की विशेष अर्थ में प्रवृत्ति देखी जाती है। इससे पद और वाक्य की परस्पर भिन्नता स्पष्ट होती है। फलतः पदार्थ वाक्यार्थ का बोध नहीं करा सकता; क्योंकि इनका परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि बिना ही सम्बन्ध के बोध कराना स्वीकार किया जाए, तब तो किसी एक पद का अर्थ जान लेने पर सबका बोध हो जाना चाहिए। परन्तु ऐसा सम्भव नहीं। अतः पदार्थ से सर्वथा भिन्न है वाक्यार्थ, यह निश्चित समझना चाहिए। इसीलिए वाक्यार्थ को पदार्थ उत्पन्न हुआ नहीं कहा जा सकता। तब अगत्या वाक्यार्थ को कृत्रिम अर्थात् पुरुषविशेष द्वारा संकेतित माना जा सकता है। लोक में सभी पदसमुदाय पुरुषकृत देखे जाते हैं। 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्ग-कामः' इत्यादि विधिवाक्य भी सब पदसमुदाय हैं। अतः इन वैदिक वाक्यों को भी पुरुषकृत माना जाना उपयुक्त होगा।

रामेश्वर सूरि विरचित 'सुबोधिनी' व्याख्या में सूत्र के 'अवचनाः' पद के स्थान पर 'रचनाः' पाठ है। उसके अनुसार सूत्रार्थ होगा—[उत्पत्तौ] पदार्थज्ञान उत्पन्न हो जाने पर, वाक्य—वाक्यार्थ के सम्बन्ध [रचनाः] पुरुष द्वारा कल्पित [स्युः] होवें, अर्थात् हो सकते हैं, या माने जा सकते हैं। क्योंकि [अर्थस्य] अर्थ का, वाक्यार्थज्ञान का [अ-तन्निमित्तत्वात्] पदार्थज्ञान से भिन्न कोई अन्य निमित्त हो सकता है। पद और वाक्य परस्पर सर्वथा भिन्न हैं। किसी अर्थ का बोध कराने में पद का अर्थ के साथ जो शक्तिसम्बन्ध है, वही शक्तिसम्बन्ध—वाक्यार्थ का बोध कराने में—वाक्य का अर्थ के साथ नहीं है, वह पुरुषकल्पित अन्य कृत्रिम सम्बन्ध ही माना जा सकता है। ऐसा विधिवाक्य धर्म में प्रमाण माना जाना उपयुक्त न होगा ॥२४॥

आचार्य सूत्रकार ने उक्त जिज्ञासा का समाधान किया—

तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायोऽर्थस्य तन्निमित्तत्वात् ॥२५॥

[तद्भूतानाम्] उन-उन निश्चित अर्थों को अभिव्यक्त करने में समर्थ पदों का [क्रियार्थेन] क्रिया-वाचक पद के साथ [समाम्नायः] पाठ—संगत उच्चारण देखा जाता है। (अतः क्रियावाचक पद के साथ पद-समुदायरूप वाक्य के अर्थ का बोध होता है; क्योंकि) [अर्थस्य] वाक्यार्थ के [तन्निमित्तत्वात्] पदार्थ-ज्ञान निमित्तक होने से।

पूर्वसूत्रोक्त यह विचार निराधार है कि पदार्थ का वाक्यार्थ के साथ कोई

सम्बन्ध नहीं है। पदबोधित अर्थ की उपेक्षा करके वाक्य पृथक् रूप से किसी अन्य अर्थ का बोध कराता है, ऐसा समझना नितान्त असंगत है। पदार्थ को छोड़कर वाक्य किसी अन्य अर्थ का बोध कराये, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। वाक्य में क्रियावाचक पद का होना आवश्यक है। पदसमुदायी वाक्य में किसी निश्चित अर्थ का बोध कराने की शक्ति प्रत्येक पद में निहित रहती है। उससे अतिरिक्त कोई अन्य अर्थबोधक शक्ति वाक्य में निहित हो, ऐसा नहीं है। पदार्थज्ञान ही वाक्यार्थज्ञान में कारण है। वाक्यगत पदों के अर्थों को जबतक नहीं जाना जाता, तबतक वाक्यार्थ का ज्ञान नहीं होता। पदार्थज्ञान होने पर ही वाक्य का अर्थ जाना जा सकता है। इससे स्पष्ट है, क्रियावाचक पद से युक्त वैदिक पदसमुदाय से ही अपूर्वसंज्ञक धर्म का बोध कराया जाना सम्भव है। 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्ग-कामः' यहाँ पर—अग्निहोत्रसंज्ञक होम के अनुष्ठान द्वारा स्वर्गप्राप्ति की भावना करे—यह वाक्यार्थज्ञान पदार्थज्ञान के बिना सम्भव नहीं। पद द्वारा उपस्थित अर्थों की स्पष्ट अभिव्यक्ति के लिए पदसमुदायी वाक्य के पदों में परस्पर आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि (आसत्ति), तात्पर्य आदि सहयोगी निमित्तों की उपस्थिति का ध्यान रखना आवश्यक है। यह स्थिति वाक्यार्थ-शुद्धि की नियामक है ॥२५॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, लोक में पदार्थज्ञान से वाक्यार्थज्ञान—वृद्धव्यवहार आदि द्वारा—होना सम्भव है। पर वैदिक वाक्य में यह कैसे होगा? आचार्य सूत्र-कार ने समाधान किया—

लोके सन्नियमात् प्रयोगसन्निकर्षः स्यात् ॥२६॥

[लोके] लौकिक वाक्य में [सन्नियमात्] प्रमाणान्तर से गृहीत अर्थ की व्यवस्था से [प्रयोगसन्निकर्षः] वाक्य के प्रयोगकार पुरुष के साथ सम्बन्ध [स्यात्] होता है।

लौकिक वाक्यों में—प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के द्वारा—पद-पदार्थ का ज्ञान हो जाता है, तब आकांक्षा आदि के अनुसार पुरुष द्वारा पदसमुदायरूप में अर्थबोध के लिए उनका प्रयोग किया जाता है। इससे लौकिक वाक्यों में पुरुष का सम्बन्ध स्पष्ट है। परन्तु वैदिक स्वर्ग आदि अर्थों में प्रत्यक्षादि प्रमाणों की प्रवृत्ति न होने

१. आकांक्षा—एक पद के उच्चरित होने पर अभिमतपूर्ण अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए पदान्तर की अपेक्षा।

योग्यता—उच्चरित पद में अभिमत अर्थ के बोध कराने का सामर्थ्य।

आसत्ति—पदों का अनुक्रममूलक सामीप्य।

तात्पर्य—प्रसंग के अनुरूप वक्ता के अभिप्राय को जानना।

वाक्यार्थ के बोध में ये सब सहयोगी साधन हैं।

से 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इत्यादि विधिवाक्य-रचना में पुरुष का सम्पर्क न होने से यह पदसमुदाय पौरुषेय नहीं। अपौरुषेय होने के कारण शब्द व शब्दार्थ-सम्बन्ध के नित्य होने से अतीन्द्रिय अर्थ का बोध कराने में वैदिक वाक्य का सामर्थ्य है।

रामेश्वर सूरि विरचित सुबोधिनी वृत्ति में सूत्रार्थ इस प्रकार किया है—
लौकिक शब्द में प्रत्यक्षादिगृहीत पदार्थ-ज्ञानपूर्वक वाक्यप्रयोग से वाक्यार्थज्ञान हो जाता है। वेद में भी गुरुपरम्परा द्वारा पदार्थज्ञानपूर्वक वाक्य का प्रयोग वाक्यार्थ का बोध कराने में समर्थ होता है। अतः पदसमुदायरूप वैदिक वाक्य द्वारा अतीन्द्रिय अर्थ का बोध कराना उपपन्न है ॥२६॥ (इति वेदस्यार्थप्रत्यायकत्वाधिकरणम्—७)

अथ वेदापौरुषेयत्वाधिकरणम्—८

शिष्य जिज्ञासा करता है, वेद अपौरुषेय हैं, यह कैसे जाना जाय? जबकि पुरुष-सम्बन्ध से वेदों के नाम उपलब्ध हैं। आचार्य सूत्रकार ने शिष्य-जिज्ञासा को सूत्रित किया—

वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्याः ॥२७॥

[वेदान्] वेदों को [च] और [एके] कतिपय जन [सन्निकर्षम्] समीप समय की रचना कहते हैं, क्योंकि वे [पुरुषाख्याः] पुरुषविशेषों के नाम से जाने जाते हैं।

वेद व वैदिक संहिताओं के नाम विभिन्न पुरुषों के नाम के साथ सम्बद्ध हैं—शाकल, वाजसनेयि, कौथुम, आथर्वण, काठक, मैत्रायणी, तैत्तिरीय, कालापक, मौद्गल (मौदक), पैप्पलादक आदि। ये पुरुषविशेष उन संहिताओं के रचयिता प्रतीत होते हैं, जिनका प्रादुर्भाव समीपकाल में सम्भव है। वेदों के साथ उनके नाम का जुड़ा होना, उनकी रचना माने बिना, अन्य कारण से नहीं हो सकता। विधि-वाक्य उसी वाङ्मय के अन्तर्गत होने से पौरुषेय हैं। भले ही उसके कर्ता का आज स्मरण न रहा हो, पर इतने से विधिवाक्य को अपौरुषेय नहीं कहा जा सकता। इसीलिए अतीन्द्रिय धर्म की जानकारी में विधिवाक्य को निरपेक्ष प्रमाण कहना संगत न होगा ॥२७॥

उक्त कथन के अतिरिक्त यह भी है—

अनित्यदर्शनाच्च ॥२८॥

[अनित्यदर्शनात्] अनित्य (=जन्म-मरणधर्मा) पुरुषों का उल्लेख देखे जाने से [च] भी (वेद में; वेद पुरुषकृत हैं)।

वेद में जन्म-मरणधर्मा पुरुषों का उल्लेख पाया जाता है। तैत्तिरीय संहिता

[५।१।१०] में उल्लेख है—‘ववरः प्रावाहणिरकामयत’ प्रवाहण के पुत्र ववर ने कामना की। इसी प्रकार अन्यत्र [७।२।२] पाठ है—‘कुसुरुविन्द्र औदालकिर-कामयत’ उदालक के पुत्र कुसुरुविन्द्र ने कामना की। इससे ज्ञात होता है—इस संहिताग्रन्थ की रचना, प्रवाहण तथा उदालक के पुत्रों के जन्म से पहले नहीं हुई।

ऋग्वेद के प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ में सूत्र से सम्बद्ध ऋषि का नाम निर्दिष्ट रहता है। कतिपय आचार्यों का कहना है कि ये ऋषि वेद-मन्त्रार्थ के द्रष्टा हैं, उनकी स्मृति के लिए नाम निर्देश रहता है। अन्य आचार्यों का कहना है, ये ऋषि मन्त्रों के रचयिता हैं। दोनों अवस्थाओं में इनका मानवशरीरधारी होना निश्चित है। इनमें से लगभग दो-तिहाई ऋषियों के नामों का निर्देश ऋचाओं में उपलब्ध होता है। यह इस तथ्य को प्रमाणित करता है कि इन व्यक्तियों के प्रादुर्भाव के अनन्तर ऋचाओं की रचना हुई। ऐसे पुरुषों से प्रोक्त होने के कारण विधिवाक्यों का निम्नलिखित प्रामाणिक होना संगत नहीं कहा जा सकता ॥२८॥

आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

उक्तं तु शब्दपूर्वत्वम् ॥२९॥

[उक्तम्] कह दिया [तु] तो [शब्दपूर्वत्वम्] शब्द के विषय में नित्य होना। (शब्द नित्य है, यह प्रथम कह तो दिया है।)

सूत्र में ‘तु’ पद जिज्ञासारूप पूर्वपक्ष की निवृत्ति तथा सिद्धान्तपक्ष के कथन का द्योतक है। उक्त जिज्ञासा में वैदिक साहित्य के कतिपय पदों के प्रयोग के आधार पर वेद का अनित्यत्व सिद्ध करने का प्रयास किया गया। सूत्रकार का कहना है—अध्ययनाध्यापन में प्रयुक्त वेद शब्दमय है। शब्द की नित्यता प्रथम प्रमाणपूर्वक सिद्ध कर दी गई है। तब शब्दमय वेद को अनित्य तथा पुरुषकृति कहना संगत नहीं ॥२९॥

१. शबर स्वामी ने इस सूत्र का अर्थ किया—[उक्तम्] कह दी है हमने [शब्द पूर्वत्वम्] अध्येताओं की शब्दपूर्वता। तात्पर्य है—जैसे अध्येता आजकल गुरु से वेद का अध्ययन करते हैं, इसी प्रकार प्रत्येक काल के वर्तमान पुरुषों ने अपने से पूर्ववर्ती गुरुओं से वेद पढ़ा। इस प्रकार यह वेदाध्ययन-परम्परा अनादि होने से वेद का प्रथम वक्ता न होने के कारण वेद नित्य है।

इस व्याख्या में भाष्यकार द्वारा ‘अस्मामिः’ पद का प्रयोग होने से यह असामंजस्य प्रकट होता है—सूत्रकार और भाष्यकार किसी ने पहले यह कहीं नहीं कहा कि अध्येताओं का वेदाध्ययन गुर्वध्ययनपूर्वक है। परन्तु सूत्रकार और भाष्यकार दोनों ने यह कहा है—शब्द और शब्द-अर्थ का सम्बन्ध अनादि काल से गुरुपरम्परा द्वारा जाना जाता रहा है। वस्तुतः यह सब वेदाध्ययन का ही अंश है। अतः भाष्यकार द्वारा किये गये सूत्रार्थ में कोई असामंजस्य नहीं समझना चाहिए।

शिष्य जिज्ञासा करता है—यदि ऐसा है, तो वेद में अनित्य पुरुषों का उल्लेख कैसे है ? सूत्रकार ने समाधान किया—

आख्या प्रवचनात्^१ ॥३०॥

[आख्या] काठक आदि नाम [प्रवचनात्] प्रवचन से हैं ।

प्रवचन पद में 'प्र' उपसर्ग का अर्थ—'प्रकृष्ट' है, अर्थात् विशेष, जो कार्य अन्य किसी के द्वारा उस रूप में न किया जाये । 'वचन' पद का अर्थ—कथन अथवा अध्यापन है । जिस व्यक्ति ने किसी एकमात्र शाखा का विशेष रूप से अध्यापन कराया, वह शाखा उस प्रवक्ता के नाम से व्यवहृत होने लगी । अतः वैदिक वाङ्मय की विभिन्न शाखाओं के साथ जो विशेष व्यक्तियों के नाम जुड़े हैं, वे केवल उन व्यक्तियों के द्वारा शाखा का प्रवचन (विशेष अध्यापन) के कारण हैं, उनके कर्त्ता या रचयिता होने के कारण नहीं । सम्भव है, उन-उन शाखाओं का अनन्य साधारण प्रवचन कठ, कलाप आदि व्यक्तियों के द्वारा किया गया हो । कहा जाता है—वैशम्पायन (कृष्ण यजुर्वेदीय) सब शाखाओं का अध्यापन कराता था ; कठ केवल एक शाखा का अध्यापक था, वह अन्य किसी शाखा का अध्यापन नहीं कराता था । इसी प्रकार कलाप आदि एक-एक शाखा के अध्यापक रहे । उस शाखा के साथ उनका नाम जुड़ गया । कालान्तर में शिष्य-परम्परा द्वारा शाखागत विशिष्ट अनुष्ठानों के सहयोग से कृष्णयजुः की चौरासी शाखा हो गई । ये व्यक्ति उन शाखाओं के रचयिता नहीं थे ॥३०॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—तब बबर व कुसुरुविन्द आदि के नाम वैदिक वाङ्मय में क्यों हैं ? वे तो शाखा-प्रवक्ता नहीं ? सूत्रकार ने समाधान किया—

परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम् ॥३१॥

[परम्] अन्य (अनित्यदर्शन हेतु जो प्रस्तुत किया, वह) [तु] ठीक नहीं, (क्योंकि ऐसे शब्द) [श्रुतिसामान्यमात्रम्] सुनने में केवल समान प्रतीत होते हैं, (उनका अर्थ वस्तुतः और कुछ रहता है) ।

सूत्र में 'तु' पद का प्रयोग प्रायः सर्वत्र पूर्वपक्ष के निराकरण का द्योतक माना जाता है । निराकरण, किसी अर्थ का निषेध करना है । अतः 'तु' पद का सीधा 'निषेध' अर्थ करना उपयुक्त है । वेद के अनित्यत्व और पौरुषेयत्व-सिद्धि के लिए जो हेतु दिया गया, वह युक्त नहीं ; क्योंकि 'प्रावाहणि' आदि पदों को अपत्यार्थक मानकर बबर व प्रवाहण आदि को ऐतिहासिक व्यक्तिविशेष माना जाय, यह आवश्यक नहीं । 'प्रावाहणि' आदि पद केवल सुनने—उच्चारण में अथवा लेखन आदि में अपत्यार्थक के समान प्रतीत होते हैं, पर वस्तुतः ये अपत्यार्थक न होकर

१. हलायुधकृत 'मीमांसा शास्त्र सर्वस्व' में २६-३० सूत्रों को एक माना है ।

अन्य अर्थ के वाचक हैं। घात्वर्थ के आधार पर तीव्रता से बहनेवाला वायु 'प्रवाहण' है। उससे उत्पन्न होनेवाली ध्वनि का अनुकरणमात्र बबर या बर्बर आदि पद हैं। ऐसे उल्लेख ऐतिहासिक व्यक्तिपरक न होकर संसार में नित्य घटने-वाली प्राकृतिक क्रियाओं के विषय में समझने चाहिए।

ऋग्वेद में ऋषि-नाम मूलतः किन्हीं विशेष व्यक्तियों के नहीं हैं। ये प्रतिपाद्य विषय के अनुरूप प्रवक्ता के रूप में रचयिता द्वारा निबद्ध कल्पित नाम हैं। इस प्रकार मूलरूप में ये केवल कविनिबद्ध प्रवक्ता हैं, न मन्त्रार्थ-द्रष्टा, न रचयिता। ये ऐसे नाम हैं, जैसे 'पञ्चतन्त्र' आदि में कवि ने प्रवक्ता के रूप में अनेक कल्पना-जन्य नाम जोड़े हुए हैं। अनन्तर-काल में जिन व्यक्तियों ने वेद के उन-उन अंशों पर मन्त्रार्थ के चिन्तन व दर्शन तथा अध्यापन एवं प्रचार-प्रसार आदि की भावना से कार्य किया, वे लोक-व्यवहार में उन-उन नामों से व्यवहृत होने लगे। वह परम्परा आज तक चालू है। इसलिए अपौरुषेय वेद का प्रामाण्य निर्विवाद समझना चाहिए ॥३१॥

शिष्य शंका करता है—उक्त प्रसंगों के अतिरिक्त वैदिक वाङ्मय में अन्य अनेक ऐसे अटपटे व असम्भाव्य प्रसंग कहे जाते हैं, जैसे 'गावो वै सत्रमासत' तथा 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' उनका क्या होगा? सूत्रकार ने समाधान किया—

कृते वा विनियोगः^१ स्यात् कर्मणः सम्बन्धात् ॥३२॥

[कृते] कर्म में—[वा] ठीक नहीं (शंका)—[विनियोगः] विशेष नियोग—अन्वय [स्यात्] होता है (उक्त प्रकार के वाक्यों का) [कर्मणः] कर्म के साथ [सम्बन्धात्] सम्बन्ध से।

सूत्र में 'वा' पद शंका के निवारण का द्योतक है। मीमांसा-शास्त्र की चालू मान्यता के अनुसार अनुष्ठान के प्रवर्त्तक केवल विधिवाक्य प्रमाण हैं, जैसे 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इत्यादि; जो विधिवाक्य नहीं हैं, जैसे 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' इत्यादि तथा जो वाक्य असम्भाव्य अर्थ का निर्देश करते हैं, जैसे 'गावो वै सत्रमासत' [ऐ० ब्रा० ४।१७, जै० २।३७४] वायु तीव्रगामी देवता है; गावें सत्र में आसीन हुई, आसन पर बैठीं। इस प्रकार के वाक्य विधिवाक्य न होते हुए तथा आपाततः अटपटे लगते हुए भी अप्रमाण नहीं हैं। ये सन्दर्भ विधिवाक्यों से प्रतिपादित अनुष्ठेय धर्म की स्तुति आदि करने के आधार पर 'अर्थवाद' कहे जाते हैं। ऐसे जितने प्रकार के अर्थवादी वाक्य हैं, वे सब विधिवाक्य-बोधित अर्थ

१. रामेश्वर सूरि विरचित सुबोधिनी वृत्ति में 'नियोगः' पाठ है; परन्तु अर्थ में कोई अन्तर नहीं।

की स्तुति आदि के द्वारा उनसे सम्बद्ध हैं; उन्हीं का वे अंश हैं। इसलिए विधि-वाक्यों के प्रामाण्य के समान उनका भी प्रामाण्य है^१ ॥३२॥

इति श्री जैमिनीयमीमांसादर्शन-विद्योदयभाष्ये

प्रथमाध्यायस्य प्रथमस्तर्कपादः ।

१. शब्द के प्रामाण्य के लिए शब्द का नित्य होना इतना महत्त्व नहीं रखता। वस्तुतः शब्द का प्रामाण्य वक्ता के आप्त होने पर निर्भर है। इसी आधार पर लौकिक वाक्य का प्रामाण्य निश्चित होता है। शबरस्वामी कुमारिलभट्ट तथा अन्य अज्ञात पूर्वकालिक मीमांसाचार्यों के द्वारा 'कर्म' को सीमातीत प्रधानता दे देने के कारण कर्मफल एवं समस्त विश्व के नियन्ता सर्वोच्च परमात्मतत्त्व को अनावश्यक ठहरा देने पर वेदादि शब्द के प्रामाण्य की समस्या सामने आई। तब आप्तोक्तता की उपेक्षा कर शब्द व शब्दार्थ-सम्बन्ध की नित्यता को शब्द के प्रामाण्य का साधन मान लिया गया। अनन्त आकाश में अतीत-अनागत अनन्त शब्द भरे हैं; अर्थबोध के लिए जो अपेक्षित होता है, कण्ठ-तालु आदि साधनों द्वारा उसे अभिव्यक्त कर लिया जाता है। शब्द व शब्दार्थ-सम्बन्ध की यह अनादि परम्परा है; एवं अनादिकाल से ही यह जानकारी का क्रम गुरु-शिष्य-परम्परा द्वारा चालू है। यह संसार इसी रूप में चलता आ रहा है, आगे भी ऐसा ही चलेगा। न कभी सर्ग-रचना हुई, न कभी प्रलय होना है। मीमांसा का प्रचलित यह सिद्धान्त जैमिनि मुनि को अभिमत रहा हो, इसमें पूर्ण सन्देह है। प्रारम्भिक पंचम सूत्र में इस विषय के बादरायण-मत का निर्देश मान्यता के अनुकूल नहीं है। शब्द के प्रामाण्य का आधार उसकी नित्यता को मानने पर अनाप्तवाक्य भी प्रमाण होना चाहिए, जो शबर स्वामी व कुमारिल भट्ट आदि को भी स्वीकार नहीं है। अन्यथा, बौद्ध-आर्हत आदि आगम को भी प्रमाण मानना होगा, जो उक्त आचार्यों को अभीष्ट नहीं।

अथ प्रथमाध्याये द्वितीयः पादः

(अर्थवादप्रामाण्याधिकरणम्—१)

शिष्य जिज्ञासा करता है—गत पाद द्वारा धर्म में विधिवाक्य का प्रामाण्य सिद्ध किये जाने पर उन वाक्यों का धर्म में अप्रामाण्य प्राप्त होता है, जो प्रवृत्ति के बोधक न होकर सिद्ध वस्तु का कथन करते हैं, जैसे—“वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता, सोऽरोदीत् यदरोदीत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्, देवा वै देवयजनमध्यवसाय दिशो न प्राजानन्” इत्यादि वाक्यों का प्रामाण्य खटाई में पड़ जाता है। क्योंकि, इनमें प्रवृत्ति का जनक कोई विध्यर्थक पद नहीं है। जिज्ञास्य को मनोगत कर सूत्रकार ने विस्तार के साथ जिज्ञासा-भावना को सूत्रित किया—

**आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्शनात्
तस्मादनित्यमुच्यते ॥१॥ (३३)**

[आम्नायस्य] आम्नाय—वेद के [क्रियार्थत्वात्] क्रिया-अनुष्ठान प्रयोजन-वाला होने से [आनर्थक्यम्] निष्प्रयोजन हैं वे वेदवाक्य, जिनका [अतदर्शनाम्] प्रयोजन क्रिया—अनुष्ठान-रूप नहीं है। [तस्मात्] इसलिए, ऐसा वाक्य [अनित्यम्] अनित्य (धर्म की जानकारी में अप्रमाण) [उच्यते] कहा जाता है।

आम्नाय अथवा वेद के जिन विधिवाक्यों के विषय में उल्लेख किया जा रहा है, प्रायः वे सब तैत्तिरीय आदि संहिताओं के तथा ब्राह्मणग्रन्थों के वाक्य हैं, यह शास्त्र इन्हींका विवरण प्रस्तुत करता है। यह सब वाङ्मय ऋषिप्रोक्त है; परन्तु मीमांसाशास्त्र में इनका प्रामाण्य क्रियार्थक, अर्थात् यज्ञादि अनुष्ठान का प्रवर्तक होने के आधार पर माना गया है। जिज्ञासा का यही तात्पर्य है कि जो वाक्य विधि के बोधक नहीं हैं, वे अप्रमाण माने जायेंगे; जैसे उदाहरणरूप में कतिपय वाक्य ऊपर प्रस्तुत किये गए हैं। यदि इनका भी प्रामाण्य अभीष्ट हो, जो आवश्यक है, तो प्रामाण्य की कोई अन्य कसौटी बताई जानी चाहिए, जिसमें सब प्रकार के वाक्यों का समावेश हो जाय। वर्तमान मान्यता में क्रियार्थक वाक्यों के अतिरिक्त शेष वाक्यों का धर्मज्ञान में अप्रामाण्य निश्चित है ॥१॥

अक्रियार्थक वाक्यों के अप्रामाण्य में अन्य कारण है—

शास्त्रदृष्टविरोधाच्च ॥२॥ (३४)

[शास्त्र-दृष्ट विरोधात्] शास्त्रविरोध से, दृष्टविरोध से [च] और । शास्त्र-विरोध और दृष्ट-प्रत्यक्षविरोध से सिद्धार्थक (अक्रियार्थक) वाक्यों का धर्मज्ञान में अप्रामाण्य है ।

सूत्र के 'विरोध' पद का सम्बन्ध 'शास्त्र' और 'दृष्ट' दोनों के साथ है । धर्म-ज्ञान के प्रति सिद्धार्थक वाक्य के अप्रामाण्य में दो अन्य हेतु हैं—शास्त्रविरोध तथा दृष्टविरोध ।

१. शास्त्रविरोध—शास्त्र में कहा है—'स्तेनं मनः, अनृतवादिनी वाक्' [मैत्रा० सं० ४।५।२] । मीमांसाशास्त्र में यह व्यवस्था है—यदि किसी सिद्धार्थक वाक्य का सम्बन्ध स्तुति आदि अर्थवाद रूप से किसी विधिवाक्य के साथ नहीं है, तो उसके विधिवाक्य की कल्पना कर ली जाती है । 'स्तेनं मनः, अनृतवादिनी वाक्' ऐसे ही वाक्य हैं । तब ये वाक्य लोकव्यवहार-सिद्ध अर्थ का अनुवादमात्र होने से निष्फल हैं । इनकी सफलता—सार्थकता के लिए शब्दविपर्यय से विधि की कल्पना इस प्रकार करनी होगी—'स्तेयं कुर्यात्' 'अनृतं वदेत्'—चोरी करे, झूठ बोले । इस कल्पित विधि का प्रत्यक्ष (दृष्ट) विधि—'स्तेयं न कुर्यात्, अनृतं (असत्यं) न ब्रूयात्' के साथ विरोध होता है । यह शास्त्र द्वारा साक्षात् प्रति-प्रतिपादित विधि है; इसकी बाधा किये बिना कल्पित विधि का अस्तित्व सम्भव नहीं । विरोध स्पष्ट है । यदि विधि की कल्पना नहीं की जाती, तो उन (भूतार्थ) वाक्यों का अप्रामाण्य निश्चित है ।

षोडशी^१-ग्रहण-अग्रहण के समान यहाँ 'चोरी करना-न करना, झूठ बोलना-न बोलना' में विकल्प की सम्भावना भी नहीं, क्योंकि दोनों विधियों में परस्पर वैषम्य है । एक कल्पित विधि है; अन्य शास्त्र-प्रतिपादित साक्षात् विधि है । यदि दोनों समान होते, तो विकल्प सम्भव होता ।

२. दृष्टविरोध—वाक्य है : 'तस्माद् धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे नाचिः । तस्मादर्चरेवाग्नेर्नक्तं ददृशे न धूमः'—इसलिए अग्नि का धुआँ ही दिन में दीखता है, ज्वाला या लपट नहीं । इसलिए अग्नि की ज्वाला ही रात में दीखती है, धुआँ नहीं । इन वाक्यों में 'एव' पद के प्रयोग से यह निर्धारण किया कि दिन में आग

१. रामेश्वर सूरि विरचित 'सुबोधिनी' व्याख्या के सूत्रपाठ में 'दृष्ट' के स्थान पर 'दृष्टि' पाठ है । अर्थ में कोई अन्तर नहीं ।

२. 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति, वातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' के अनुसार 'अति-रात्र' नामक दृष्टि में 'षोडशी' का ग्रहण या अग्रहण दोनों शास्त्रानुमोदित हैं । अतः विकल्प सम्भव है ।

की ज्वाला और रात में आग का धुआँ कदापि नहीं दीखते। यह कथन दृष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष के विरुद्ध है। दिन में आग की ज्वाला और रात में आग का धुआँ बराबर दिखाई देते हैं। अतः शब्द के तथा शब्दार्थ-सम्बन्ध के नित्य होने के आधार पर शब्द का प्रामाण्य कहना पूर्णतया सन्दिग्ध है।

सूत्र के 'शास्त्रदृष्टविरोधात्' पद में 'शास्त्र' और 'दृष्ट' पदों का अलग-अलग 'विरोध' पद के साथ संबन्ध से शब्द के प्रामाण्य में दो प्रकार से दोष प्रस्तुत किया। यदि 'शास्त्रदृष्ट' पद को एक माना जाता है, तो भी विरोध स्पष्ट है। सन्दर्भ है—'को हि तद्वेद यदमुष्मिल्लोकेऽस्ति वा न वा।' यह कौन जानता है—मरकर उस लोक में स्वर्ग है या नहीं? यदि इस सन्दर्भ को प्रश्नरूप माना जाता है, तो क्रियार्थक न होने के कारण यह निरर्थक व अप्रमाण है। यदि यह वाक्य संशयात्मक है, तो उन वाक्यों के साथ इसका विरोध स्पष्ट है, जो मरकर स्वर्ग-प्राप्ति के विश्वास का संकेत करते हैं—'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इत्यदि ॥२॥

अक्रियार्थ शब्द के अप्रामाण्य में अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

तथा फलाभावात् ॥३॥ (३५)

[तथा] वैया [फलाभावात्] फल न होने से (जैसा वाक्य में बताया जाता है)।

वाक्य में कहा—'शोभतेऽस्य मुखं य एवं वेद' जो इस (गर्गत्रिरात्रक्रतु) को इस प्रकार जान लेता है, उसका मुख सुशोभित हो जाता है। यदि यह कथन सिद्ध अर्थ का अनुवादमात्र है, तो क्रियार्थक न होने से अनर्थक है। यदि गर्ग-त्रिरात्रसम्बन्धी अध्ययन के फल का अनुवाद है, तो मिथ्या अनुवाद है। क्योंकि, अध्ययन के अनन्तर अध्येता के मुख पर कोई शोभा दिखाई नहीं देती। कालान्तर में फलप्राप्ति होने के लिए भी कोई प्रमाण नहीं है। यदि स्वभावतः किसी का कुत्सित मुख हो, तो शोभा की सम्भावना ही नहीं। इस प्रकार वाक्य में कहे फल का अध्येता आदि में अभाव देखे जाने से अक्रियार्थ शब्द का प्रामाण्य सन्दिग्ध है ॥३॥

उक्त अर्थ में अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

अन्या'नर्थक्यात् ॥४॥ (३६)

[अन्य आनर्थक्यात्] (विधिवाक्यों के अतिरिक्त) अन्य वाक्यों के अनर्थक होने से (अक्रियार्थक वाक्यों का अप्रामाण्य निश्चित है)। अथवा, एक कर्म से

१. रामेश्वर सूरि विरचित 'सुबोधिनी' नामक व्याख्या के सूत्रपाठ में 'अन्य' पद नहीं है। केवल 'आनर्थक्यात्' सूत्रपाठ है।

सब कामनाओं की पूर्ति होना मानने से अन्य कर्मों के अनर्थक हो जाने के कारण उनका अप्रामाण्य स्पष्ट है।

श्रुति है—‘पूर्णाहुत्या सर्वान् कामानवाप्नोति’^१—अग्न्याधान की पूर्णाहुति से यजमान सब कामनाओं को प्राप्त कर लेता है। यदि यह सत्य है, तो विभिन्न कामनाओं के लिए दर्श पौर्णमास आदि यागों का अनुष्ठान निरर्थक है, अर्थात् उनका प्रामाण्य खटाई में पड़ जाता है। यदि यजमान की उन कामनाओं की पूर्ति के लिये दर्श आदि यागों का अनुष्ठान आवश्यक है, तो ‘पूर्णाहुत्या सर्वान्’ इत्यादि कथन असत्य होने से अप्रमाण हो जाता है ॥४॥

उक्त अर्थ में अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

अभागिप्रतिषेधाच्च ॥५॥ (३७)

[अभागि-प्रतिषेधात्] अभागि—अप्राप्त के प्रतिषेध से [च] भी (प्रसंगागत वाक्य अप्रमाण है)।

ब्राह्मण में कहा—‘न पृथिव्यामग्निश्चेतव्यो नान्तरिक्षे न दिवि’—अग्नि का चयन पृथिवी पर नहीं करना चाहिए, न अन्तरिक्ष में, न द्युलोक में। प्रत्येक व्यक्ति यह जानता-समझता है कि अन्तरिक्ष और द्युलोक में अग्नि का चयन सम्भव नहीं। पृथिवी पर अग्निचयन सम्भव है उसका निषेध कर दिया। यह निषेध उस विधि की बाधा करता है, जो अग्निचयन का विधायक है—‘हिरण्यं निधाय चेतव्यम्’^२ परस्पर दोनों के विरोध से ‘सुन्द-उपसुन्द’^३ न्याय के अनुसार विधि-निषेध दोनों निष्फल हो जाते हैं। यह स्थिति उनके अप्रामाण्य की द्योतक है। इसके अतिरिक्त जहाँ—अन्तरिक्ष और द्युलोक में—अग्निचयन प्राप्त ही नहीं, उसका निषेध निरर्थक होने से अप्रमाण हो जाता है। अन्तरिक्ष व द्युलोक में अग्निचयन सम्भव न होने से यह वाक्य अपने ही अर्थ में अप्रमाण हो जाता है; फलतः ये सुन्दर्भ अप्रमाण हैं ॥५॥

अक्रियार्थक वाक्यों के अप्रमाण में अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

१. तै० ब्रा० में पाठ है—‘पूर्णाहुतिमुत्तमां जुहोति। सर्वं वै पूर्णाहुतिः। सर्वमेवाऽऽप्नोति।’ (यु०मी०)

२. तुलना करें—मैत्रायणी संहिता, ३।२।६॥ तथा तैत्तिरीय संहिता, ५।२।७॥

३. पौराणिक आख्यान है—सुन्द, उपसुन्द नामक दो असुरवर्गीय भाई थे। उन्हें बर-प्रभाव से शक्ति प्राप्त थी—अन्य कोई भी उनका वध नहीं कर सकता था। वे धर्मात्मा प्रजाजन को अप्रत्याशित कष्ट देने लगे। तब उन दोनों में परस्पर युद्ध हो जाने के प्रयासस्वरूप वे आपस में लड़कर नष्ट हो गये। यही स्थिति परस्पर विधि-निषेध वाक्यों की है।

अनित्यसंयोगात् ॥६॥ (३८)

[अनित्य संयोगात्] अनित्य=मरणधर्मा व्यक्ति के सम्बन्ध से (अक्रियार्थक वाक्य अप्रमाण हैं) ।

शब्द के नित्य-अनित्य विवेचन के प्रसंग में यह पूर्वपक्ष [१।१।२८] सूत्र में प्रस्तुत किया; तथा सूत्र [१।१।३१] द्वारा इसका समाधान किया । यहाँ शब्द के एक अंश—अक्रियार्थक शब्द को लक्ष्य कर आक्षेप प्रस्तुत किया है । 'बवरः प्रावाहणिरकामयत' इत्यादि वाक्य मरणधर्मा व्यक्तियों के विवरण से सम्बद्ध होने के कारण अप्रमाण हैं । क्रियार्थक न होना तो ऐसे वाक्यों के अप्रामाण्य का निमित्त है ही; फलतः अक्रियार्थक वाक्यों का प्रामाण्य किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता ॥६॥

इस लम्बे जिज्ञासामूलक पूर्वपक्ष के समाधान के लिए ज्ञातव्य है—अर्थवाद के अनेक प्रकार हैं : १. एक प्रकार के अर्थवाद ऐसे हैं—जिनका यथाश्रुत शब्दानुसारी अर्थ उत्पन्न नहीं होता । जैसे—'सोऽरोदीत्, प्रजापतिरात्मनो वषामुद-क्खिदत्' इत्यादि ।

२. कतिपय दूसरे अर्थवाद ऐसे हैं—जो विधिवाक्यों के समान प्रतीत होते हैं । जैसे—'औदुम्बरो यूपो भवति, यो विदग्धः स नैऋतः' इत्यादि ।

३. तीसरे प्रकार के अर्थवाद वे हैं—जिनमें हेतुत्व का आभास होता है । जैसे—'शूर्पेण जुहोति, तेन ह्यन्नं क्रियते' इत्यादि ।

चालू अधिकरण में प्रथम प्रकार के अर्थवादों का विचार किया गया है । इसका प्रारम्भ करते हुए सूत्रकार ने बताया—

विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः ॥७॥ (३९)

[विधिना] विधिवाक्य के साथ [तु] तो [एकवाक्यत्वात्] एकवाक्यता होने से [स्तुत्यर्थेन] (विधिवाक्यों की) स्तुतिरूप प्रयोजन के द्वारा [विधीनाम्] विधिवाक्यों के अङ्ग [स्युः] होते हैं (अक्रियार्थक अर्थात् सिद्धार्थबोधक वाक्य) ।

सूत्र में 'तु' पद जिज्ञासामूलक पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है । ब्राह्मण आदि वैदिक वाङ्मय में जितने अक्रियार्थक अर्थात् सिद्धार्थक—सिद्ध वस्तु का कथन करनेवाले वाक्य हैं, उन सबकी विधिवाक्यों के साथ एकवाक्यता है; क्योंकि ऐसे वाक्य—विधिवाक्यों की स्तुति आदि के द्वारा विधिवाक्यों के ही अङ्ग हैं । मीमांसाशास्त्र में ऐसे समस्त सन्दर्भ 'अर्थवाद-वाक्य' कहे जाते हैं । जैसे—विधिवाक्यों का क्रियार्थक होने से प्रामाण्य है, इसी प्रकार विधिवाक्यों की स्तुति आदि के द्वारा अन्य वाक्यों का उनसे (विधिवाक्यों से) सम्बन्ध होने के कारण वे (अक्रियार्थक वाक्य) भी प्रमाण हैं ।

'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः' यह विधिवाक्य है—कल्याण की कामना

करता हुआ यजमान वायुदेवतावाले श्वेत पशु का आलभन—स्पर्श करे। इस वाक्य में आकांक्षा रह जाती है कि वायुदेवतावाले पशु का स्पर्श करने से कल्याण क्यों प्राप्त होता है ? इस आकांक्षा की पूर्ति—‘वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता, वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति, स एवैनं भूतिं गमयति।’ इत्यादि स्तुतिपरक अर्थवादवाक्य से होती है। ये दोनों (विधि और अर्थवाद) वाक्य परस्पर साकांक्ष होने से एकवाक्यरूप हैं। अतः विधिवाक्यों के प्रामाण्य से अर्थवादवाक्यों का प्रामाण्य सिद्ध होता है; क्योंकि अर्थवादवाक्य विधिवाक्यों के ही अवयवभूत—अङ्गभूत हैं, उन्हीं के एकदेश हैं; वे सब मिलकर ही एक अङ्गी बनते हैं। अतः एकदेश (अर्थवाद) के प्रामाण्य की अलग खोज करना नितान्त व्यर्थ है।

वैदिक वाङ्मय में कतिपय विधिवाक्य स्तुति आदि अर्थवादवाक्यों से रहित हैं; उनके स्तुति आदि बोधक अर्थवादवाक्य नहीं देखे जाते। इसके विपरीत कतिपय विधिवाक्यों के साथ स्तुतिपरक अर्थवाद वाक्य सन्निहित—संबद्ध देखे जाते हैं। अर्थवाद वाक्यों का प्रयोजन बताया जाता है—विधिवाक्य-बोधित अनुष्ठान में रुचि पैदा करना। जिज्ञासा होती है—अर्थवादरहित विधिवाक्य जब स्वयं विधिबोधित अनुष्ठान में रुचि उत्पन्न कर सकते हैं, तब वे विधिवाक्य स्वयं रुचि क्यों नहीं उत्पन्न कर सकते, जिनके साथ अर्थवाद वाक्य पठित हैं ? तात्पर्य—विधिवाक्य उभयत्र समान हैं, विधि के साथ विधिबोधित अनुष्ठान में भी वे (विधिवाक्य) स्वयं रुचि उत्पन्न करने में समर्थ हैं; तब समस्त अर्थवाद-वाक्य निष्फल व अप्रमाण माने जाने चाहिए।

आचार्यों ने सुझाव दिया—यह ठीक है, विधिवाक्य क्रियाविधान के साथ अनुष्ठान के प्रति रुचि भी उत्पन्न कर सकते हैं। ऐसी स्थिति में अर्थवादसहित विधिवाक्यों का महावाक्य के रूप में निर्देश कोई महत्त्वपूर्ण नहीं रह जाता; परन्तु कहाँ विधिवाक्य प्ररोचना को भी उत्पन्न करता है, यह सचाई हमें अर्थवाद-वाक्यों के द्वारा ही ज्ञात होती है। जिन विधिवाक्यों के साथ अर्थवादवाक्य पठित हैं, वहाँ अर्थवादवाक्यों को सात्म्य करके ही विधिवाक्य प्ररोचना को

१. तैत्तिरीय संहिता २।१।१॥ वायु निश्चित ही क्षिप्रकारी—शीघ्रकारी देवता है। वायव्य श्वेत पशु के स्पर्श से यजमान वायु को ही अपने भाग द्वारा प्राप्त होता है। वायु ही इस यजमान को भूति—ऐश्वर्य प्राप्त कराता है। यहाँ श्वेतपशु—मीमांसा-सूत्र [६।८।३३] के अनुसार—छाग ही लिया जाता है। जैसे वायु शीघ्रकारी देवता है, ऐसे ही छाग (बकरा) अपनी वंशवृद्धि में अति शीघ्रकारी होता है। उक्त वाक्यों द्वारा यह भावना दृढ़ होती है—इस पशु का संस्पर्श—सम्बन्ध यजमान (पशुपालन करनेवाले व्यक्ति) के लिए ऐश्वर्य को प्राप्त करानेवाला होता है।

उत्पन्न कर पाते हैं। फलतः अर्थवाद-वाक्य क्रियार्थक विधिवाक्यों का ही स्वरूप हैं, उन्हीं का अङ्ग व एकदेश हैं। ये क्रियानुष्ठान के प्रति प्ररोचना को उभारते हुए अनुष्ठाताओं का उपकार करते हैं। क्रियार्थक विधिवाक्यों का आत्मरूप होने के कारण उन्हीं के प्रामाण्य से इनका प्रामाण्य है, इसके लिए अन्य निमित्त खोजना व्यर्थ है ॥७॥ (४०)

शिष्य जिज्ञासा करता है—पूर्वोक्त युक्ति से प्रतीत होता है, अर्थवादवाक्य वैदिक वाङ्मय में आपाततः सम्मिलित हो गये हैं, इनकी अनिवार्यता नहीं। सूत्रकार ने समाधान किया—

तुल्यं च साम्प्रदायिकम् ॥८॥ (४०)

[तुल्यम्] समान है [च] निश्चय ही [साम्प्रदायिकम्] गुरु-शिष्य-परम्परा (सम्प्रदाय) द्वारा अध्ययन-अध्यापन कर्म।

सूत्र में 'च' पद अवधारण अर्थ में है। यह निश्चय से कहा जा सकता है कि विधिवाक्य और अर्थवादवाक्य दोनों की स्थिति वक्ष्यमाण विषय में समान है। जैसे विधिवाक्यगत पद और उनका अर्थ के साथ सम्बन्ध का ज्ञान अनादि काल से गुरु-शिष्य-परम्परा द्वारा प्राप्त होता आया है, ठीक उसी प्रकार अर्थवादवाक्यों का भी ज्ञान प्राप्त होता आया है। यह स्थिति दोनों प्रकार के वाक्यों के लिए निश्चित रूप से समान है। जैसे विधिवाक्य संप्रदाय द्वारा रक्षित हैं, वैसे अर्थवाद-वाक्य भी। अतः यह कदापि न समझना चाहिए कि अर्थवादवाक्यों का पाठ आपाततः एवं प्रमादपूर्ण है। फलतः विधिवाक्यों के समान अर्थवादवाक्यों का प्रामाण्य भी सुनिश्चित है ॥८॥

प्रस्तुत पाद के द्वितीय सूत्र में जिज्ञासु द्वारा शास्त्रविरोध व दृष्टविरोध के आधार पर अर्थवादवाक्यों के अप्रामाण्य का निर्देश किया गया है। सूत्रकार शास्त्रविरोध का समाधान करता है—

अप्राप्ता चानुपपत्तिः प्रयोगे हि विरोधः स्याच्छब्दार्थस्त्वप्रयोग-भूतस्तस्मादुपपद्येत ॥९॥ (४१)

[अप्राप्ता] प्राप्त नहीं होता [च] और [अनुपपत्तिः] 'सोऽरोदीत्' इत्यादि वाक्यों में अर्थ का—उपपन्न न होना; [प्रयोगे] विधि मानने पर ('सोऽरोदीत्' आदि में 'रोना चाहिए' इत्यादि रूप से) [हि] निश्चय से [विरोधः] विरोध [स्यात्] होता है, [शब्दार्थः] शब्दार्थ ('अरोदीत्' आदि का) [तु] तो [अप्रयोग-भूतः] विधिरूप नहीं है ('रोना चाहिए' इस प्रकार) [तस्मात्] इसलिये [उपपद्येत] उपपन्न होगा ('सोऽरोदीत्' इत्यादि वाक्य)।

जिज्ञासु ने द्वितीय सूत्र द्वारा अर्थवादवाक्यों के विषय में जो शास्त्रविरोध

व दृष्टविरोधरूप अनुपपत्ति प्रकट की है, वह 'सोऽरोदीत्' इत्यादि अर्थवाद-वाक्यों में प्राप्त नहीं होती। क्योंकि इन वाक्यों का जो अर्थ है, वह प्रयोगभूत—क्रियारूप नहीं है। असम्भव होने से न यहाँ क्रिया की कल्पना की जा सकती है। 'सोऽरोदीत् यदरोदीत् तद्गुदस्य रुद्रत्वम्'—दह रोया, जो रोया अथवा जो रोना है, वह रुद्र का रुद्रत्व (रुद्रपना) है। यहाँ प्रयोग = क्रिया अथवा विधि की कल्पना इसी प्रकार की जा सकती है—रुद्र रोया, अन्य को भी रोना चाहिए, अथवा 'अन्य भी रोये'। इसी प्रकार 'प्रजापतिरात्मनो वपामुदक्खिदत्'—प्रजापति ने अपनी वपा (पेट पर चर्बी की झिल्ली) को उखेड़ा, या उचेली; अन्य को भी अपनी वपा उखेड़नी चाहिए, अथवा अन्य भी अपनी वपा उखेड़े। ऐसे ही 'देवा वै देवयजनमध्यवसाय दिशो न प्राजानन्'—देवों ने यज्ञवेदी पर बैठकर यज्ञकाल में दिशाओं को न पहचाना। अन्यो को भी यज्ञकाल में दिशा न पहचाननी चाहिए, अथवा अन्य भी यज्ञवेदी पर दिशाएँ न पहचानें। क्या ऐसे विधिवाक्यों की कल्पना इन अर्थवादवाक्यों में की जा सकती है? यह सर्वथा अशक्य है।

रोना अपनी इच्छा या विधि के द्वारा नहीं होता। अपने आत्मीयजन अथवा प्रिय वस्तु के वियोग एवं शारीरिक या मानसिक आघात आदि से आँसुओं का निकलना 'रोना' है। वह इच्छा या विधि से होना संभव नहीं। न कोई अपनी वपा उखेड़कर या उचेलकर अग्नि में उसे होम कर शृङ्गरहित पशु से यजन कर सकता है। इसी प्रकार देवयजन (यज्ञवेदी) में बैठकर न कोई दिशाओं को भूलता है। शास्त्रविरोध तभी हो सकता है, जब इनमें विधि मानी जाय; पर इन वाक्यों का जो शब्दार्थ है, वह विधिरूप नहीं है। इसीलिए शास्त्रविरोध न होने से ये अर्थवादवाक्य सर्वथा उपपन्न हैं ॥६॥

उपपन्नता किस प्रकार है? सूत्रकार ने बताया—

गुणवादस्तु ॥१०॥ (४२)

[गुणवादः] गुणवाद—गौण कथन है, यह [तु] तो।

सूत्र में 'तु' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है। उक्त अर्थवादवाक्य गौण

१. तैत्तिरीय संहिता में पाठ है—'प्रजापतिर्वा इदमेक आसीत् सोऽकामयत् प्रजाः पशून्सृजेयेति स आत्मनो वपामुदक्खिदत् तामग्नौ प्रागृह्णात् ततोऽजस्तूपरः समभवत् तं स्वायं देवताया आलभत ततो वै स प्रजाः पशून्सृजत् ॥२॥१॥१॥

प्रजापति अकेला था, उसने प्रजा और पशुओं को सर्जन करने की कामना की। उसने अपनी वपा को उखेड़ा, आग में डाला, उससे तूपर (शृङ्गरहित) अज (बकरा) पैदा हो गया। उसे उसकी देवता के लिए आलभन (होम) किया। अनन्तर अथवा उससे प्रजा और पशुओं को बनाया। इसका वास्तविक तात्पर्य अगले सूत्र की व्याख्या में द्रष्टव्य है।

कथन हैं। प्रायः सभी अर्थवादवाक्यों द्वारा कथित अर्थ गौण—औपचारिक होता है, अथवा सम्बन्धी के गुण (स्तुति) का कथन करता है।

‘सोऽरोदीत्’^१ इत्यादि प्रकार के अर्थवाद शाब्दिक रूप में जिस अर्थ को कहते हैं, वह गौण होता है। यह शब्दों का बाहरी अर्थ है; आन्तरिक मुख्य अन्य रहता है, जो वास्तविक रूप में उस सन्दर्भ का प्रतिपाद्य है। कहा जाता है—अर्थवादवाक्य विधिबोधित अर्थ में—उसकी स्तुति द्वारा, रुचि उत्पन्न करने के लिए होता है; परन्तु जहाँ ऐसा नहीं है, वहाँ समस्या खड़ी होती है कि अर्थवाद का वहाँ क्या प्रयोजन है? जैसे ‘वेतसशाखयाऽवकाभिश्चाग्निं विकर्षति’^२—बेत की शाखा और अवका—सिरवाल (जल में उत्पन्न होनेवाली घास) से अग्नि का विकर्षण करता है, बिखरी अग्नि को समेटता है। यहाँ अग्नि के विकर्षण में वेतस और अवका का विधान है; अर्थात् विधिबोधित अर्थ वेतस और अवका है, परन्तु स्तुति जलों की गई है—‘आपो वै शान्ताः’^३ इत्यादि। ऐसे स्थलों में—स्तुति आदि द्वारा अर्थवाद विधेय अर्थ के प्ररोचनार्थ होता है—इस व्यवस्था का उल्लंघन हो जाता है।

ऐसे प्रसंगों में इस दोष के निवारण के लिए सूत्रकार ने ‘गुणवाद’ का सुभाव देकर समाधान किया। स्तोतव्य (वेतस-अवका) की स्तुति के स्थान पर अन्य सम्बन्धी (आपः) की स्तुति किया जाना गुणवाद अर्थात् गौण कथन है। जलों की यह स्तुति गौण है, मुख्य स्तुति वेतस आदि की है। क्योंकि जल वेतस-अवका के उत्पत्ति-स्थान हैं, उत्पत्ति-प्रदेश की स्तुति व प्रशंसा से वहाँ उत्पन्न होनेवाला प्रशंसित होता है। किसी व्यक्ति के आवास्य प्रदेश की स्तुति व प्रशंसा से निश्चित ही वह व्यक्ति स्तुत व प्रशंसित होता है। ऐसे ही यहाँ वेतस-अवका का आवास्य-स्थल ‘आपस्’ की स्तुति से मुख्यरूप में वेतस-अवका की स्तुति प्रस्तुत की जाती है। अतः विधेय की स्तुति द्वारा अर्थवाद उसमें रुचि उत्पन्न करने के लिए है—इस व्यवस्था के उल्लंघन की आशंका करना व्यर्थ है।

जिज्ञासा होती है—‘सोऽरोदीत्’^४ इत्यादि अर्थवादवाक्यों का विधिबोधित अर्थ क्या है, जिसका यह शेष अथवा अङ्ग समझा जाये? आचार्यों ने बताया—‘तस्माद् बहिषि (रजतं) न देयम्’—इसलिए यज्ञ में रजत (चाँदी) दान नहीं करना चाहिए—इस ‘रजत-अदान’ विधि का शेष है ‘सोऽरोदीत्’ इत्यादि अर्थवाद-

१. तै० सं० २।१।१॥

२. तै० सं० ५।४।४॥

३. तै० सं० ५।४।४॥

४. ‘सोऽरोदीत् यदरोदीत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्, यदश्रु अशीर्यत, तद्रजतं हिरण्यम-भवत्, तस्माद्रजतं हिरण्यमदक्षिण्यम्, अश्रुजं हि, यो बहिषि ददाति, पुराऽस्य संवत्सराद्गृहे रुदन्ति, तस्माद् बहिषि न देयम्’—तै० सं० १।५।१॥

वाक्य । न्यायसूत्रकार गौतम आचार्य ने अर्थवाद के चार भेद बताये हैं—स्तुति, निन्दा, परकृति, पुराकल्प । मीमांसाशास्त्र इनको इसी रूप में स्वीकार करता है । 'सोऽरोदीत्' इत्यादि सन्दर्भ का समावेश 'पुराकल्प' नामक अर्थवाद में माना जाता है । 'बर्हिषि रजतं न देयम्' विधि का यह शेष है, इसका आधार है—पदों का साकांक्ष होना । 'सोऽरोदीत्' इत्यादि वाक्य में 'सः' (वह) सर्वनाम-पद किसी प्रकृत अर्थ की अपेक्षा रखता है । 'वह' कहने पर आकांक्षा रहती है—वह कौन, जिसके लिए यह अतिदेश है ? आगे सन्दर्भ है—'तस्य यदश्रु अशीर्यत'—उसके जो आंसू टपके व बिखरे—यहाँ 'तस्य' पद भी पूर्व-प्रकृत की अपेक्षा रखता है । यह पहले कहे गये निन्दा-वचन—'बर्हिषि रजतं न देयम्' का उपपादक है । उसका कारण है—जो यज्ञ में चाँदी देता है, वर्ष के अन्दर उसके घर में रोदन होता है । फलस्वरूप—यज्ञ में रजत न देना चाहिए । इस प्रकार सभी साकांक्ष पद गौण कथन द्वारा विधि के उपकारक होते हैं । रोने (अश्रु) से उत्पन्न रजत को यज्ञ में देनेवाले के घर में वर्ष के अन्दर रोदन होता है; यह रजत-दान के प्रतिषेध का गुण है, जो स्वयं वस्तुतः रोदन नहीं है ।

ऐसी स्थिति में न रोते हुए रुद्र के लिए 'अरोदीत्' कहना, अश्रु से उत्पन्न न होनेवाले रजत के लिए अश्रु से उत्पन्न होना कथन, तथा संवत्सर के अन्दर यज्ञ में रजत देनेवाले के घर में रोदन न होने पर भी रोदन होने का कथन, ये सब गौण कथन हैं । 'रुद्र' पद के निर्वचन के आधार पर उसका रोना 'सोऽरोदीत्' कहा गया । जल-रूप अश्रु के श्वेत वर्ण की समानता के आधार पर अश्रु से रजत का उत्पन्न होना कहा, रजतदाता के घर में संवत्सर से पूर्व रोदन न होने पर भी धनत्याग में दुःख का अनुभव होने से उसे रोदन के रूप में कहा गया । इस प्रकार ये सब गौण कथन हैं, जिनका तात्पर्य केवल यज्ञ में रजतदान की निन्दा प्रकट करना है । इसलिए ये सब कथन उसी (बर्हिषि रजतं न देयम्) के शेष हैं; यज्ञ में रजतदान की निन्दा द्वारा उस विधेय के अंग हैं ।

अन्तर्हित रूप में यह प्रसंग आदिसर्गकालिक सृष्टि-प्रक्रिया का विवरण प्रस्तुत करता है, ऐसा विद्वानों^२ का सुभाव है । जो अर्थवाद 'पुराकल्प' विभाग के अन्तर्गत ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में वर्णित हैं, प्रायः वे सब आंशिक रूप से सृष्टि-प्रक्रिया का विवरण प्रस्तुत करते हैं । वैदिक वाङ्मय में ऐसे उल्लेखों की संख्या अताधिक देखी जा सकती है ।

१. गत पृष्ठ की सं० ४ टिप्पणी देखें ।

२. द्रष्टव्य—जैमिनीय मीमांसा शाबर भाष्य, हिन्दी व्याख्यासहित, पृ० १४८-४९ । व्याख्याता—युधिष्ठिर मीमांसक तथा पं० भगवद्दत्त कृत 'वैदविद्या-विमर्श' ।

‘सोऽरोदीत्’ के समान ‘स आत्मनो वपामुदक्खिदत्’ अर्थवाद भी ‘यः प्रजा-
कामः पशुकामो वा स्यात् स एतं प्राजापत्यं तूपरमालभेत’ विधि का शेष है। यह
अर्थवादवाक्य भी ‘पुराकल्प’ विभाग के अन्तर्गत आता है तथा सृष्टि-प्रक्रिया की
विशिष्ट अवस्थाओं को अभिव्यक्त करता है।^१

इसी प्रकार ‘देवा वै देवयजनमध्यास्य दिशो न प्राजानन्’ अर्थवादवाक्य
‘आदित्यः प्रायणीयश्चरुरादित्य उदयनीयश्चरुः’ इस विधि का शेष है। सोमयाग
के अंगभूत ज्योतिष्टोम में यजमान को दीक्षा देने के अनन्तर उसी दिन प्रारम्भ में
अदिति देवतावाले चरु के साथ प्रायणीय इष्टि का अनुष्ठान किया जाता है, सोम-
याग की समाप्ति पर ‘उदयनीय’ इष्टि का प्रयोग होता है।

विधिवाक्य और उसके शेषभूत अर्थवादवाक्यों का परस्पर सान्निध्य वैदिक
वाङ्मय में देखा जाता है, परन्तु प्रस्तुत विधिवाक्य और अर्थवादवाक्य का
सान्निध्य इसी पठित आनुपूर्वी के साथ कहीं उपलब्ध नहीं है; पर उसी आशय के
पदान्तरों अथवा कतिपय पदों की न्यूनाधिकता के साथ पाठ उपलब्ध^२ है। इसके
अनुसार विधिवाक्य एवं अर्थवादवाक्यों के सान्निध्य का सामंजस्य प्रस्तुत वाक्यों
के विषय में भी सम्भावित माने जाने के लिए कोई विशेष बाधा नहीं है^३ ॥१०॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—‘स्तेनं मनः, अनृतवादिनीवाक्’ इन अर्थवाद-
वाक्यों में गुणकथन का निमित्त क्या है? सूत्रकार आचार्य ने समाधान किया—

रूपात् प्रायात् ॥११॥

[रूपात्] रूप से (रूप=स्थिति की समानता से) [प्रायात्] प्रायोवाद से।

पहला हेतु प्रथम वाक्य में—तथा दूसरा हेतु द्वितीय वाक्य में—आपत्ति के
समाधान के लिए हैं। सूत्र में ‘रूप’ पद का तात्पर्य नील, पीत, हरित आदि वर्ण
नहीं है; वह चोर की स्थिति का बोधक है। चोर जैसे अपनी स्थिति, अपने-आपको
प्रच्छन्न रखता है, कोई उसे जाँच न लेवे, इसी प्रकार मन स्वतः प्रच्छन्न स्थिति-
वाला है। इस समानता से मन को स्तेन कहा। यहाँ मन के लिए ‘स्तेन’ शब्द का
प्रयोग गौण है, औपचारिक है। यह मन का निन्दावचन ‘हिरण्यं हस्ते भवति, अथ
गृह्णाति’ इस विधिवाक्य के हिरण्य की स्तुति का बोधक है।

मीमांसाशास्त्र में यह स्वीकार किया गया है कि निन्दावाक्य वस्तुतः निन्दा

१. द्रष्टव्य—मीमांसा शाबर भाष्य, हिन्दी व्याख्या, पृ० १५०-५३। [यु० मी०]
२. इस विषय में द्रष्टव्य हैं—तै० सं०, ६।१।५॥ मैत्रा० सं०, ३।७।५॥ शं० ब्रा०,
३।२।३।६, ७॥ ऐ० ब्रा०, २।१॥ [षड्गुरुशिष्य टीका—‘सुखप्रदा’ संस्करण।
३. इस प्रसंग के आंशिक सृष्टि-प्रक्रिया विवरण के लिए देखें—शाबरभाष्य,
हिन्दी रूपान्तर, पृष्ठ १५४। [यु० मी०]

के लिए प्रयुक्त न होकर विधेय की स्तुति के बोधक होते हैं।^१ इसके अनुसार 'स्तेनं मनः' अर्थवाद का तात्पर्य पूर्वोक्त विधेय वाक्यगत सुवर्ण की इस प्रकार स्तुति करता है कि वह सब प्रकार के मल (दोष) से रहित होना चाहिए। इसकी स्पष्टता के लिए विधिवाक्य के प्रसंग को समझना आवश्यक है।

सोमयाग के अवसर पर सोम को कूटकर प्राप्त रस को बढ़ाने के लिए जिस जल का उपयोग किया जाता है, उसका नाम यज्ञ-प्रसंग में 'वसतीवरी' है। यह जल सूर्योदय-दशा में नदी से तथा सूर्यास्त-काल में सुरक्षित घट आदि से लिया जाता है। घट से जलग्रहण करने पर हाथ में अग्नि को लेना होता है, नदी से जलग्रहण-काल में प्रवाह के ऊपर हाथ में सुवर्ण धारण किये हुए जल का ग्रहण किया जाता है। जलग्रहण के समय का विधिवाक्य है—'हिरण्यं हस्ते भवति, अथ गृह्णाति।' इसी प्रसंग में अर्थवादवाक्य है—'स्तेनं मनः' इत्यादि। इसी प्रकार ऋतवादिनी वाणी को 'अनृतवादिनी' गौणरूप में कहा गया; क्योंकि लोक में प्रायः वाणी अनृतवादिनी होती है। ये वाक्य विधेय हिरण्य की स्तुति के लिए हैं। मैले मन की निन्दा की गई; अतः स्वच्छ निर्मल मन के समान सर्वथा निर्दोष सुवर्ण होना चाहिए और सच्चा; खोटा व मिलावटी नहीं। फलतः अर्थवादवाक्यों का प्रामाण्य विधिवाक्यों के समान निर्बाध है ॥११॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—शास्त्रविरोध का परिहार हो जाने पर दृष्टविरोध का परिहार होना चाहिए। सूत्रकार ने कहा—

दूरभूयस्त्वात् ॥१२॥

[दूरभूयस्त्वात्] अधिक दूरी के कारण दिन में धूम का और रात्रि में ज्वाला का दिखाई देना—कथन गुणवाद है।

दिन में अग्नि की ज्वाला या दीप्ति सूर्य के तेजस्वी प्रकाश से अभिभूत रहती है, पर द्रष्टा के दूरदेशस्थित होने पर भी आकाश में ऊँचा उठता हुआ धूम ही दिखाई देता है, अग्नि-दीप्ति नहीं। इसके विपरीत रात्रि में धूम अन्धकार में मिला दिखाई नहीं देता, पर अग्नि का प्रकाश दूरस्थित व्यक्ति को भी स्पष्ट प्रतीत होता है।

'सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहेति प्राप्तः' इस मन्त्र से प्रातःकाल होम करना चाहिए। 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहेति सायं जुहोति' इस मन्त्र से सायंकाल होम करे। होम के लिए सायंकाल और प्रातःकाल कौन-सा समय उपयुक्त है? यह आकांक्षा बनी रहती है। इन मन्त्रों के मिश्रित लिङ होने से अर्थवाद अग्नि और

१. मीमांसा में एक 'नहि निन्दा न्याय' है, जिसका खुलासा है—'न हि निन्दा निन्दितुं प्रवर्ततेऽपि तु स्तोतुम्' ॥

सूर्य की स्तुति द्वारा होम के काल-निर्धारण में सहायक है। होम का वह काल उपयुक्त है, जब दोनों देवताओं का सान्निध्य हो। अधिक दूर होने के कारण अग्नि और धूम के अदर्शन का कथन गुणवाद है, औपचारिक है, यथाभूत नहीं ॥१२॥

दृष्टविरोध के अन्य उदाहरण 'न' वैतद्विद्य ब्राह्मणाः स्मोऽब्राह्मणा वेति' का परिहार सूत्रकार ने किया—

अपराधात् कर्तुश्च पुत्रदर्शनम् ॥१३॥

[अपराधात्] अपराध से (स्त्री के) [कर्तुः] कर्ता = उत्पादयिता जार के [पुत्रदर्शनम्] पुत्र का दर्शन होता है। अतः 'ब्राह्मण हैं या अब्राह्मण' यह सन्देहात्मक कथन गुणवाद है।

यज्ञ-प्रसंग में ऋषि प्रवर आदि के वरण करने के अवसर पर ऋषि पितर आदि का निर्देश करना अपेक्षित होता है, जिससे स्पष्ट हो जाय कि यज्ञकर्ता ब्राह्मण है। पर समाज में प्रत्यक्ष से जानने पर यह सन्देह-वचन क्यों ? 'हम नहीं जानते ब्राह्मण हैं या अब्राह्मण' ?

विधिवाक्य है—'प्रवरे प्रवर्यमाणे ब्रूयात्, देवाः पितरः'^१ इसका अर्थवाद-वाक्य है—'न वैतद्विद्य' इत्यादि। प्रवर के (अनुमन्त्रण) कथन से अब्राह्मण भी ब्राह्मण मान लिया जाता है। किसी पुत्र के विषय में यह जानना अति कठिन है कि यह शुद्ध सन्तान है या नहीं ? स्त्री-माता के अपराध से वह जार-पुत्र है अथवा संस्कृत-पिता का पुत्र ? ऐसा सन्देह होना सम्भव है। प्रवर इस संशय को दूर कर देता है; इस प्रकार प्रवर की स्तुति द्वारा यह उसका अर्थवाद है। संशय अथवा अज्ञान कथन गुणवाद है, औपचारिक है। स्त्री-अपराध से भी पुत्र का होना देखा जाता है, इसीलिए सन्तान के विषय में कहा है—'अप्रमत्ता रक्षत तन्तुमेनम्'^२ प्रमादरहित होकर पूरी सावधानता से कुलतन्तु की रक्षा की जानी चाहिए ॥१३॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—स्वर्ग की कामनावाले के लिए ज्योतिष्ठोम याग का विधान किया; अन्यत्र कहा—कौन जानता है ? स्वर्ग है या नहीं ? यह दृष्ट-विरोध है। सूत्रकार ने समाधान किया—

आकालिकेप्सा^३ ॥१४॥

[आकालिकेप्सा] वर्तमान काल में होनेवाले फल की इच्छा उक्त वाक्य से

१. मैत्रायणी संहिता, १।४।११॥

२. मैत्रायणी संहिता, १।४।११॥

३. तन्त्रवातिक में यह कुमारिल ने सूत्रपाठ दिया है—'अकालिकेप्सा' अर्थ किया है—'अ-कालिक-ईप्सा' कालान्तर में होनेवाले फल की उपेक्षा कर तात्कालिक फल की ईप्सा—इच्छा करना।

४. तैत्तिरीय संहिता, ६।१।१॥

जानी जाती है।

ज्योतिष्टोम याग के अनुष्ठान के लिए 'प्राग्वंशशाला' के निर्माण का विधान है। शाला के आधारभूत मध्य का बाँस पूर्व-पश्चिम डाला जाता है। ज्योतिष्टोम याग का कार्यक्रम निरन्तर चलता है, अधिक समय चलता है। ऐसे याग के समय धुआँ का अधिक होना स्वाभाविक है। यज्ञशाला में धुआँ घुटने न पाये, बराबर निकलता रहे, इसके लिए विधिवाक्य है—'दिक्षु अतीकाशान् करोति' दिशाओं में धुआँ निकलने के लिए झरोखों अथवा खिड़कियों का निर्माण करे। इस विधि-वाक्य का शेष है—'को हि तद्वेद यद्यमुष्मिल्लोकेऽस्ति वा न वेति' कौन जानता है उस लोक में स्वर्ग है या नहीं? इसका यही तात्पर्य है कि स्वर्ग का दर्शन तो मरने के बाद होगा, पर यहाँ धुआँ घुटने से मुँह और नाक में धुआँ भरकर तत्काल मृत्यु का दर्शन हो जायगा, इसलिए शाला से धुआँ बाहर निकलने के लिए प्रथम चारों दिशाओं में 'अतीकाश' (झरोखा आदि) बनावें। तात्कालिक दुःख के निवारण के लिए इच्छा का होना स्वाभाविक एवं सर्वानुभव-सिद्ध है। उसके अनुसार कालान्तर में होनेवाले स्वर्ग की निन्दा द्वारा धूम-निर्गमन मार्ग बनाने की आवश्यकता का यह अर्थवाद-वचन स्तावक है। पारलौकिक स्वर्ग-फल में संशय प्रकट करना औपचारिक मात्र है। अतः यहाँ शास्त्रीय दृष्टिविरोध की आशंका व्यर्थ है ॥१४॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—चालू पाद के तृतीय सूत्र-प्रसंग में 'शोभतेऽस्य मुखम्' इत्यादि उदाहरण, अक्रियार्थ-वचन के अप्रामाण्य में दिया; उसका समाधान अपेक्षित है। सूत्रकार ने समाधान प्रस्तुत किया—

विद्याप्रशंसा ॥१५॥

[विद्याप्रशंसा] ज्ञान की प्रशंसा की गई है, उक्त वचन से, अतः 'शोभतेऽस्य मुखम्' इत्यादि वचन गुणवाद है, औपचारिक है।

गर्गत्रिरात्र ऋतु के विधि का यह शेष अर्थात् अंग है। 'शोभतेऽस्य मुखम्' इत्यादि वचन उक्त ऋतु की स्तुति करता है, जब इस ऋतु का विशेषज्ञ होने पर मुख शोभित होता है, तब इसके अनुष्ठान के फल का तो कहना ही क्या? इस प्रकार उक्त अर्थवादवाक्य ऋतु का स्तावक है। यह ज्ञान की प्रशंसा है। मुख-शोभा का कथन गुणवाद है।

उक्त ऋतु का अंगभूत अन्य उदाहरण है—'आज्य प्रजायां बाजी जायते य एवं वेद' जो इस प्रकार जानता है, उसकी सन्तति में अन्नवाला उत्पन्न होता है। यह वेद के अनुमन्त्रण-विधि का शेष है। वेद के अध्ययन आदि से पूर्ण विद्वान् होकर अन्नप्राप्ति में सुविधा होना, विधि का प्रयोजन नहीं है, यह केवल गुणवाद है, विधि का स्तावक है।

भट्ट कुमारिल इस वाक्य को अध्ययन-विधि (स्वाध्यायोऽध्येतव्यः) का शेष मानता है। तन्त्रवार्त्तिक की पार्थसारथि मिश्र कृत 'न्यायसुधा' नामक व्याख्या में उक्त अर्थवादवाक्य का पाठ इस प्रकार उद्धृत किया है—

“धृतवन्तं^१ कुलायिनं रायस्पोषं सहस्रिणं वेदो ददातु वाजिनमित्याह प्र सहस्रं पशूनामाप्नोति अस्य प्रजायां वाजी जायते य एवं वेद ।” [१।२।२५]

इस सन्दर्भ के 'वेदो ददातु' वाक्यांश में 'वेद' पद का अर्थ विवेच्य है। ऋगादि मन्त्रसंहिता के लिए प्रयुक्त 'वेद' पद आद्युदात्त माना है। इसके अतिरिक्त यज्ञ में प्रयोग के लिए कुशमुष्टि (कुश घास की एकत्र बाँधी मुट्ठी) का भी यह वाचक है, यह अन्तोदात्त है। तैत्तिरीय संहिता में यह पद अन्तोदात्त पठित है। अतः वेदाध्ययन-विधि का इसे शेष मानना चिन्त्य हो जाता है ॥१५॥

प्रस्तुत पाद के चतुर्थ सूत्र से बताया—पूर्णाहुति से सब कामनाओं की प्राप्ति हो जाता है, तब अन्य सब अनुष्ठान अनर्थक हैं। इसका समाधान सूत्रकार ने किया—

सर्वत्वमाधिकारिकम् ॥१६॥

[सर्वत्वम्] सबपना—सम्पूर्णता [आधिकारिकम्] अधिकार—प्रसंगप्राप्त विषयक है, अतः औपचारिक है।

'पूर्णाहुत्या सर्वान् कामानवाप्नोति' यह अर्थवाद-वचन 'पूर्णाहुति जुहोति' इस विधि का शेष है। जो कार्य अधिकृत है, प्रारम्भ किया हुआ है, उसको पूर्णता तक पहुँचाना आवश्यक होता है। किसी अनुष्ठान का फल तभी प्राप्त हो सकता है, जब वह सम्पूर्ण रूप से सम्पन्न कर लिया जाता है; अधूरा कार्य निष्फल होता है। 'पूर्णाहुति जुहोति' विधि का यही तात्पर्य है कि जो अनुष्ठान अधिकृत है, प्रारम्भ किया है, उसे पूर्णाहुति तक पहुँचाना चाहिए; तभी कामनाओं की प्राप्ति होती है; अधूरे में छोड़ देने से यथार्थ फलप्राप्ति असम्भव है। इस प्रकार पूर्णाहुति से सब कामनाओं की प्राप्ति होना—अर्थवाद, पूर्णाहुति होमविधि का स्तावक है। वह अपने पदों से बोधित अर्थ को मुख्य-अर्थ के रूप में प्रस्तुत नहीं करता; अतः

१. यह पाठ किस मूल ग्रन्थ से लिया गया है, अभी तक अज्ञात है, (यु० मी०)। वाक्य का अर्थ है—धृत आदि से सम्पन्न, कुल में स्थिर रहनेवाला, पारिवारिक सम्पत्ति के पोषक, अनेक प्रकार के अन्न व पशुओं से सम्पन्न पुत्र को वेद हमें देवे, ऐसा कहा है। जो इस प्रकार जानता है, उसकी सन्तति में अनेकानेक अन्न-पशु आदि से सम्पन्न सन्तान उत्पन्न होती है।

यह मूल पाठ आंशिक रूप से तै० सं० १।६।४ तथा काठक सं० ५।४।२४ में द्रष्टव्य है।

गुणवाद है, औपचारिक कथन है। यह ऐसा ही है, जैसे कोई कहे—‘समस्त अन्न शुद्ध है, निर्दोष है।’ यहाँ ‘समस्त’ या ‘सर्व’ पद केवल घर में सुरक्षित अन्न को लक्ष्य करता है। इसी प्रकार जो अनुष्ठेय क्रतु अधिकृत है, प्रकृत है, चालू है, उसी से सिद्ध होनेवाले फल के विषय में अर्थवादवाक्य प्रवृत्त हुआ है। इससे प्रत्येक अनुष्ठान की पूर्णाहुति-विधि का स्तवन होता है; अन्य अनुष्ठानों की निरर्थकता सिद्ध नहीं होती ॥१६॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—उक्त समाधान से शेष (अर्थवाद) वाक्य की निरर्थकता स्पष्ट हो जाती है। कहा गया—पूर्णाहुति से सब कामनाओं की प्राप्ति हो जाती है, जब कि उक्त समाधान से पता लगा—उससे प्राप्ति कुछ भी नहीं होती, तब यह मिथ्या कथन हुआ। आचार्य ने पूर्वोक्त आपत्ति का अन्य प्रकार से समाधान किया—

फलस्य कर्मनिष्पत्तेस्तेषां लोकवत् परिमाणतः फलविशेषः स्यात् ॥१७॥

[फलस्य] स्वर्गादि फल की [कर्मनिष्पत्तेः] कर्मों के द्वारा सिद्धि होने से [तेषाम्] उन कर्मों के [परिमाणतः] परिमाण से, लघु-गुरु होने के अनुरूप [फलविशेषः] फल-भेद, फल का लघु-गुरु होना [स्यात्] होता है, [लोकवत्] लोक में होनेवाले व्यवहार के समान।

जिस प्रकार लोक-व्यवहार में देखा जाता है—जो अल्प कार्य करता है, वह कार्य का फलरूप पारिश्रमिक भी अल्प पाता है। अधिक कार्य का पारिश्रमिक फल अधिक मिलता है। इसी प्रकार पूर्णाहुति होम-विधि का अर्थवाद सर्वथा निरर्थक न होगा। यदि उतना ही अनुष्ठान कोई करेगा, तो उसे अल्प स्वर्गफल मिलेगा। जो पूर्ण ज्योतिष्टोम अनुष्ठान सम्पन्न करेगा, उसे अधिक अथवा पूर्ण स्वर्गफल प्राप्त होगा। फलप्राप्ति की यह न्यूनाधिकता काल के आधार पर विभाजित समझनी चाहिए। केवल पूर्णाहुति से अल्पकालिक स्वर्ग, तथा पूर्ण ज्योतिष्टोम-अनुष्ठान से चिरकालिक स्वर्गफल-भोग की प्राप्ति होगी। अतः अर्थवादवाक्य नितान्त निरर्थक नहीं है ॥१७॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—चालू पाद के छठे सूत्रतक उभारी गई आपत्तियों में से अभी तक अन्त की दो आपत्तियों का समाधान नहीं हुआ। आचार्य ने बताया—

अन्त्ययोर्यथोक्तम् ॥१८॥

[अन्त्ययोः] अन्त की दो आपत्तियों का समाधान [यथोक्तम्] जैसा पहले की अन्य आपत्तियों का कहा है, उसी के समान समझना चाहिए।

पाँचवें सूत्र 'अमागिप्रतिषेधाच्च' द्वारा आपत्ति प्रकट की है—अग्निचयन^१ न पृथिवी पर करे, न अन्तरिक्ष, न द्युलोक में। द्युलोक, अन्तरिक्षलोक में अग्निचयन प्राप्त ही नहीं, सम्भव भी नहीं। जहाँ प्राप्त है—पृथिवी पर—वहाँ भी निषेध कर दिया। अग्निचयन के बिना ज्योतिष्टोम आदि कहाँ होंगे? अतः ये कथन निरर्थक हैं, अप्रमाण हैं।

सूत्रकार कहता है, इस आपत्ति का समाधान, पहली आपत्तियों के समाधान के समान समझना चाहिए। अर्थात् यह अर्थवाद-वचन एक विधि का शेष है। विधिवाक्य है—'रुक्ममुपदधाति' सुवर्ण का उपधान करता है, तकिया लगाता है। अग्निचयन का उपधान—तकिया—है सुवर्ण। इस विधि का शेष है—'न पृथिव्याम्' इत्यादि। अन्तरिक्ष और द्यु में अग्निचयन प्राप्त नहीं; परन्तु पृथिवी पर भी अग्निचयन अविवक्षित है। सुवर्ण-खण्ड रखकर ही अग्निचयन करना चाहिए। अन्यथा वह श्मशान-अग्निचयन के समान हो जाता है; ऋद्धि-समृद्धि को प्राप्त करानेवाला नहीं रहता। अतः इस सन्दर्भ (न पृथिव्याम्-इत्यादि) के पद अपने मुख्य अर्थ को न कहकर सुवर्णोपधान-विधि के स्तावक हैं, औपचारिक हैं।

अन्तिम छठे सूत्र 'अनित्यसंयोगात्' द्वारा आपत्ति उभारी गई है—वैदिक वाक्यों में अनित्य (कालविशेष में उत्पन्न होनेवाले) व्यक्तियों का उल्लेख देखा जाता है; अतः वैदिक वाङ्मय नित्य, अनादि नहीं कहा जा सकता; इसी-लिए अप्रमाण है।

आचार्य सूत्रकार ने इसका समाधान प्रथम पाद के अन्तिम सूत्रों द्वारा कर दिया है—'परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम्'—व्यक्तिविशेष के लिए लोक में प्रयुक्त

१. अर्थवाद वाक्य है—“न पृथिव्यामग्निश्चेतव्यो नान्तरिक्षे न दिवि इत्याहुः, अमृतं वै हिरण्यम्, अमृते वा एतदग्निश्चीयते, श्मशानचित्तो वा एते चीयन्ते; चित्यां-चित्यां हिरण्यशकलमुपास्यति, तेन वा एषोऽश्मशानचित्, तेन स्वर्गः।” [मैत्रा० सं० ३।२।६]

पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यु में अग्निचयन न करे। 'रुक्ममुपदधाति' विधि द्वारा ऐसा कहा है। हिरण्य अमृत है; अमृत में अग्निचयन किया जाता है। इसके बिना श्मशान-अग्निचयन है। प्रत्येक चयन में सुवर्णखण्ड उपक्षिप्त होता है, तब वह अश्मशान-चयन है। उससे स्वर्ग प्राप्त होता है। इसी के सान्निध्य में 'रुक्ममुपदधाति ऋद्धयै' यह विधिवचन है।

इसका व्यवहार-पक्ष है—सुवर्ण आर्थिक नीति व स्थिति का मूल आधार है। व्यापार व उद्योग आदि में सुवर्ण लगाइए, उससे अनेक गुणा सुवर्ण प्राप्त कर स्वर्ग का भोग कीजिए।

कोई नाम-पद वैदिक वाङ्मय में, विशेष रूप से मन्त्रसंहिता-भाग में कहीं उल्लिखित नहीं हुआ। व्यक्तिविशेष के संज्ञारूप में जो नाम-पद उभयत्र (लोक-वेद में) समान देखे जाते हैं, उनकी समानता—उच्चारण किये जाने पर केवल—सुनने मात्र की है। अथवा यह कह सकते हैं कि उन पदों की वर्ण-मात्रानुपूर्वी केवल समान है, उनके अर्थ में कोई समानता नहीं। लोक में प्रयुक्त वह पद व्यक्तिविशेष का वाचक है; वेद में प्रयुक्त वैसा पद धातु-प्रकृति-प्रत्यय आदि के आधार पर अन्य किसी सामान्य अर्थ का अभिधायक होता है। अतः ऐसे पदों के आधार पर वेद का अनित्यत्व एवं अप्रामाण्य कहना सर्वथा असंगत है। इस प्रकार दोनों सूत्रों [५, ६] द्वारा उभारी गई आपत्तियों का समाधान यथायथ कह दिया गया है। यही कारण है—यास्क ने—व्यक्तिविशेष के प्रतीत होनेवाले ऋग्वेदगत—नहुषः, तुर्वशाः, द्रुह्यवः, आयवः, यदवः, अनवः, पूरवः इत्यादि नाम-पदों को निघण्टु [२।२] में सामान्य मनुष्यवाचक माना है। फलतः उक्त प्रकार वैदिक वाङ्मय का प्रामाण्य सिद्ध होता है ॥१८॥

(विधिवन्निगदाधिकरणम्—२)

इस अधिकरण में अर्थवाद के द्वितीय^१ प्रकार का विचार प्रस्तुत किया गया है। इसी आधार का आश्रय लेकर शिष्य जिज्ञासा करता है—अर्थवादवाक्य प्रायः फल का निर्देश करते हैं, तब उनको फलविधि क्यों न मान लिया जाय ? इससे उनका प्रामाण्य विधिवाक्य होने से ही सिद्ध हो जायगा, विधि की स्तुति आदि के द्वारा उसका प्रामाण्य मानने के द्रविण-प्राणायाम की क्या आवश्यकता है ? आचार्य ने शिष्य की जिज्ञासा को सूत्रित किया—

(पू०) विधिर्वा स्यादपूर्वत्वाद्वादमात्रं ह्यनर्थकम् ॥१९॥

[विधिः] विधिवाक्य [वा] ही [स्यात्] होवे, यह [अपूर्वत्वात्] अपूर्व होने से [वादमात्रम्] स्तुति का कथनमात्र [हि] निश्चय ही, अथवा क्योंकि [अनर्थकम्] अनर्थक है।

यहाँ ऐसे अर्थवादवाक्यों पर विचार है, जो विधि के समान पढ़े गए हैं। उदाहरण है—“औदुम्बरो यूपो भवति, ऊर्जा उदुम्बर ऊर्कः पशवः, ऊर्जवास्मा ऊर्जं पशूनाप्तोति ऊर्जाञ्चरुध्यै ।” [तै० सं० २।१।१] औदुम्बर=उदुम्बर—गूलर का बना हुआ यूप होता है, उदुम्बर निश्चय ही ऊर्जा है, शक्ति है; ऊर्जा पशु-अन्न हैं, ऊर्जा से ही ऊर्जा होती है, अतः पशुओं—अन्नों को प्राप्त करता है, ऊर्जा को रोकने के लिए, अर्थात् ऊर्जा यजमान के पास रुकी रहे—ऊर्जा उसे सदा प्राप्त रहे।

विधि के समान पढ़े गये ऐसे वाक्यों के विषय में संशय होता है—क्या यह (औदुम्बरो यूपो भवति) फलविधि है ? अर्थात् इसका निर्देश्य फल का विधान करना है ? अथवा यह यूपविधि का स्तवनमात्र है ? सूत्रकार ने बताया—यह फलविधि का ही निर्देश मानना चाहिए, क्योंकि यह अपूर्व का कथन करता है—जो अर्थ अन्य किसी वाक्य से प्राप्त नहीं है, ऐसे अर्थ का विधान करता है। ऐसी स्थिति में इस प्रकार के वाक्यों को केवल विधि के स्तुतिपरक कहना निश्चय ही निरर्थक होगा। स्तुति करने या न करने से—वस्तु के बढ़ने-घटने के रूप में कोई अन्तर नहीं पड़ता। सूत्र के 'अनर्थक' पद का तात्पर्य निष्प्रयोजन है। यद्यपि स्तुति का भी प्रयोजन शास्त्र में स्वीकार किया गया है, पर यहाँ स्तुति लक्षणावृत्ति से जानी जाती है, उसका बोधक कोई शब्द यहाँ नहीं है। जहाँ सिद्धार्थ-बोधक वाक्य के प्रामाण्य के लिए अन्य कोई मार्ग न हो, वहाँ लक्षणावृत्ति से विधि की स्तुति द्वारा उसके प्रामाण्य का निर्वाह किया जाता है। पर यहाँ ऐसा नहीं है। फलविधि यहाँ श्रुतिबोधित अर्थ है। लक्षणावृत्ति की अपेक्षा श्रुति बलवती होती है, अतः इसे फलविधि मानना युक्त है ॥१६॥

अन्य शिष्य की एतद्विषयक आशंका को आचार्य ने सूत्रित किया—

लोकवदिति चेत् ॥२०॥

[लोकवत्] लोक में प्रयुक्त स्तुति के समान, वैदिक स्तुति सार्थक हो सकती है, [इति चेत्] ऐसा यदि माना जाय, (तो वह निरर्थक न होगी)।

लोकव्यवहार के समान वैदिक व्यवहार में भी वैसा होना स्वीकार किया जाना चाहिए। लोक में व्यवहार देखा जाता है—यदि गाय खरीदनी है, तो देव-दत्त की गाय खरीदो। वह बहुत दूध देती है, हर बार बछिया डालती है, उसके बच्चे जीवित रहते हैं। यहाँ 'खरीदो' (विधिवाक्य) कहने पर भी कृता गुणों का वर्णन सुनने पर खरीदने के लिए सरलता से तैयार हो जाता है। ऐसे ही वेद में कर्म की स्तुति करने से कर्त्ता की कर्म के प्रति रुचि उत्पन्न होकर वह उसके अनुष्ठान में सरलता से प्रवृत्त हो जाता है। अतः उक्त स्थलों में फलविधि न मानकर उसे अर्थवाद ही समझना चाहिए। इससे सप्तम सूत्रोक्त शास्त्रमर्यादा बनी रहती है ॥२०॥

आचार्य उक्त शंका का निराकरण करता है—

न पूर्वत्वात् ॥२१॥

[न] नहीं ठीक, उक्त कथन [पूर्वत्वात्] अन्य प्रमाणों द्वारा लौकिक व्यवहार की जानकारी होने से।

लोक में केवल विधिवाक्य (गाय खरीदो) से कार्यानुष्ठान में प्रवृत्ति नहीं

होती; वहाँ प्रत्यक्ष आदि अन्य प्रमाणों द्वारा बहुक्षीरत्व आदि की परीक्षा व जानकारी प्राप्त किये जाने से स्तुति का होना सप्रयोजन है। परन्तु वैदिक वाक्य में उदुम्बर ऊर्क—ऊर्जा है, अन्न ऊर्जा है, उदुम्बर का यूप बनाने से ऊर्क का प्राप्त होना आदि किसी अन्य प्रमाण से जाना नहीं जाता, वह केवल वैदिक वाक्य से बोधित होता है। अतः प्रमाणान्तर द्वारा न जानने से अपूर्व होने के कारण वह स्तुति-रूप अर्थवाद न होकर फलविधि है, ऐसा मानना युक्त होगा, अर्थात् उदुम्बर का यूप बनाने से ऊर्कारूप फल की प्राप्ति होती है ॥२१॥

मूलजिज्ञासा का सूत्रकार ने समाधान किया—

उक्तं तु वाक्यशेषत्वम् ॥२२॥

[उक्तम्] कह दिया है [तु] तो [वाक्यशेषत्वम्] वाक्यशेष होना। अर्थ-वादवाक्य विधिवाक्यों के शेष हैं—अंगभूत हैं, यह कह तो दिया है।

सूत्र में 'तु' पद मूल जिज्ञासा के समाधान का द्योतक है। चालू पाद के सप्तम सूत्र [१।२।७] में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि समस्त अर्थवादवाक्य—जो क्रिया का साक्षात् निर्देश नहीं करते—विधिवाक्यों के अंगभूत हैं। विधिवाक्यों द्वारा बोधित अर्थ की स्तुति आदि करना उनका प्रयोजन है। इस रूप में वे विधिवाक्यों के परिवार में आ जाते हैं, उनसे बाहर उन्हें नहीं सम्भन्ना चाहिए।

'औदुम्बरो यूपो भवति' यहाँ 'भवति' क्रियापद वर्तमानकालिक है, विधि-बोधक (लिङ् लकार) क्रियापद नहीं है। इस कारण उक्त वाक्य से यूप का विधान नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त यह निर्देश सोमापौष्ण (सोम और पूषा देवतावाले) पशुयाग के प्रसंग में है^१। अग्निषोमीय पशुयाग प्रकृतिभूत है, सोमापौष्ण उसका विकृतियाग है। प्रकृतियाग में खादिर (खैर वृक्ष के) यूप का विधान है। 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या' इस सामान्य नियम के अनुसार अग्निषोमीय प्रकृतियाग के समान सोमापौष्ण विकृतियाग में भी यूप खादिर (खैर) वृक्ष का होना चाहिए, पर यहाँ विकृतियाग में उसके स्थान पर उदुम्बर (गूलर) के यूप का विधान किया है। ऐसे वाक्यों को साक्षात् विधिवाक्य नहीं माना जाता। यहाँ 'भवति' इस वर्तमानार्थक क्रिया के होने और कामना-बोधक (स्वर्गकाम, इन्द्रिय-काम, ग्रामकाम, पशुकाम आदि) शब्द के न होने से यह फलविधि नहीं है। सोमापौष्ण त्रैतयाग^२ के फल की प्ररोचना के लिए ही 'ऊर्वा उदुम्बर' इत्यादि कहा है।

१. इसके लिए द्रष्टव्य है—तै० सं० २।१।१॥ वहाँ का पाठ इस प्रकार है—
सोमापौष्णं त्रैतमालभेत पशुकामः... औदुम्बरो यूपो भवति, ऊर्वा उदुम्बर ऊर्क पशवः' इत्यादि।

२. 'सोमापौष्णं त्रैतमालभेत पशुकामः' इस वाक्य में व्यवहार्य दृष्टि से 'त्रैत'

यद्यपि उदुम्बर अभिधावृत्ति से ऊर्क् (अन्न) नहीं है, पर लक्षणावृत्ति से अपने

पद विचारणीय है। सोम और पूषा देवतावाले त्रैत 'पशु' का आलभन करे, स्पर्श करे, अथवा प्राप्त करे। यहाँ 'पशु' पद का प्रयोग 'अन्न' के लिए हुआ है। 'अन्नं उ वै पशवः' [जै० ३।१४१], 'पशवो वाऽअन्नम्' [माश० ४।६।६।१] 'पशुर्वाऽअन्नम्' [माश० ५।१।३।७] अन्न को ही पशु कहा जाता है। पूर्वोक्त सन्दर्भ में 'पशुकामः' का अर्थ होगा—अन्नकामः; अन्न की कामना करनेवाला 'त्रैत' का आलभन करे, उसके साथ सम्पर्क करे, उसके साथ सान्निध्य व सम्बन्ध स्थापित करे। 'अन्नमु वै पशवः' इत्यादि वाक्यों का यह अर्थ नहीं है कि पशु-प्राणी (अजा-अवि अदि) अन्न अर्थात् खाद्य हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण [३।६।६।२] में लिखा है—'अपशवो वा एते यदजावयश्चारण्याश्च। एते वै सर्वे पशवः यद्गव्या इति' ये जो अजा (बकरी) अवि (भेड़) और जितने अरण्याचारी प्राणी हैं, सब निश्चय ही 'अपशव' हैं, अखाद्य हैं। ये सब प्राणी ऐसे ही अखाद्य हैं, जैसे गाय। अन्न का 'पशु'-पद से अभिलापन इसी आधार पर किया गया है कि प्रत्येक प्राणी आँखें खुलते (जीवन-लाभ होते) ही सबसे प्रथम अन्न को देखता है, अनुभव करता है। यह प्रत्येक व्यक्ति जानता है—किसी भी योनि का नवजात बत्स अपने खाद्य की ओर लपकता है। अनेक अर्थों के लिए प्रयुक्त होनेवाले पद का प्रवृत्तिनिमित्त अर्थानुसार विभिन्न होता है। इसी के अनुसार 'पशु' पद का प्रयोग अनेक अर्थों में हुआ है; उन्हीं में से अन्यतम अर्थ 'अन्न' है। अन्न का वास्तविक रूप क्या है, एक स्थल पर बताया—'दधि मधु घृतमापो धाना भवन्ति, एतद्वं पशूनां रूपम्' [तै० सं० ३।३।२।८] अन्नों—खाद्य वस्तुओं का यथार्थरूप दधि आदि पदार्थ हैं। इसी प्रसंग में आगे लिखा है—बहुरूपा हि पशवः' अन्न अनेक प्रकार के होते हैं। पूर्ववाक्य में 'धानाः' पद उन समस्त अन्नों का उपलक्षण है, जो विभिन्न ऋतुओं में पृथिवी से उत्पन्न होते हैं।

मूल सन्दर्भ का अर्थ है—अन्न की कामनावाला व्यक्ति त्रैत का आलभन—स्पर्श करे। उसके साथ सम्बन्ध जोड़ उसे (अन्न को) प्राप्त करे। यहाँ 'त्रैत' क्या ? और उसके साथ स्पर्श या सम्बन्ध जोड़ना क्या है ? विचारणीय है।

तीन के समूह का नाम 'त्रित' है, त्रित ही 'त्रैत' कहा जाता है। अभिधावृत्ति से 'त्रित' का अर्थ ठीक तीन है। लक्षणावृत्ति से यह पद 'बहुत्व' अर्थ का द्योतन करता है। पहले अर्थ में—तीन ऋतुओं का समूह 'त्रित' है। वर्ष के तीन ऋतु समयानुसार विभिन्न अन्नों के उत्पादन में निमित्त होते हैं। इनके अतिरिक्त तीन का एक समूह और है, जो अन्नों के उत्पादन में

पके फलों के आधार पर उदुम्बर को ऊर्क् कहना कोई अनुपयुक्त नहीं है। यह

मुख्य साधन हैं—पृथिवी (भूमि), वर्षा (पर्जन्य=जल), आतप (सूर्य)।
वैदिक वाङ्मय में अनेक प्रकार से इस विषय का उल्लेख हुआ है—

इयं हि (पृथिवी) पशूनां योनिः। मँ० सं० ३।७।७॥

अद्भुतो ह्येष ओषधीभ्यः संभवति यत् पशुः। तँ० सं० ६।३।६।४।१॥

आग्नेयाः सर्वे पशव उच्यन्ते। काठ० सं० २६।७॥

इयं (पृथिवी) वा अन्नस्य प्रदात्रिका। मँ० सं० २।१।७॥

आपश्च पृथिवी चान्नं, एतन्मयानि ह्यन्नानि भवन्ति।

—ऐ० आ० २।३।१॥

यह पृथिवी अन्नों की योनि है, अन्नों का उत्पत्तिस्थान। जलों और ओषधियों से यह अन्न सम्भव होता है, इनके सहयोग से अन्न का अपने रूप में आविर्भूत होना सम्भव है। सब अन्न आग्नेय कहे जाते हैं। आतप, गरमी (Heat) अन्नों के उत्पादन में मुख्य साधन होता है, जिसका केन्द्र सूर्य है। पृथिवी समस्त प्राणियों के लिए अन्न प्रदान करती है। इस प्रकार जल, पृथिवी और सूर्य, यह त्रित अन्न के लिए आधारभूत साधन हैं। इनका स्पर्श करना अथवा इनके साथ सम्पर्क स्थापित करने का तात्पर्य है—अन्न-योग्य भूमि को पहचानना, उसे तैयार करना, बीज डालने योग्य स्थिति को परखना, समय पर जल आदि से सींचना, खेत से खरपत आदि को साफ करना, जिससे सूर्यकिरण (आतप) पौधे की जड़ तक अपना प्रभाव पहुँचा सके। इस अनुष्ठान से विपुल अन्न की प्राप्ति होने में कोई बाधा नहीं रहती।

माध्यन्दिनीय शतपथ ब्राह्मण [८।६।२।२] में 'त्रैत' पद का विवरण एक अन्य आधार पर इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

‘त्रिवृद्वाऽअन्नं कृषिवृष्टिबीजम्’

तीन के समूह, तीन के इकट्ठे होने अथवा तीन के मिथुन से अन्न होता है। वे तीन हैं—कृषि, वृष्टि, बीज। पहले पद से भूमि और उसे अन्न के योग्य बनाना अभिप्रेत है। दूसरा पद जल और आतप का बोध कराता है। तीसरे पद से अन्न के उपादानतत्त्व का निर्देश किया है। 'त्रैत' पद से विवृत इन साधनों का अनुष्ठान करने से अन्नकाम यजमान की कामना सफल होने में कोई सन्देह नहीं रहता।

'त्रैत' पद का लक्षणावृत्ति से 'बहुत्व' अर्थ किया गया है। भूमि में एक बीज डालकर अनेक बीजों के प्राप्त होने का भाव इससे द्योतित होता है। 'त्रैतमालभेत पशुकामः' पशु = अन्न की कामना करनेवाला यजमान त्रैत का आलभन = स्पर्श करे; अथवा प्राप्त करे। पूर्वोक्त प्रक्रिया से अन्नयाग

प्रशंसा (स्तुति) सोमापौष्ण पशुयाग^१ की हो, अथवा औदुम्बर यूप की, इसमें कोई विशेष अन्तर नहीं है। तात्पर्य इतना है कि यह फलविधि न होकर स्तुतिरूप अर्थवाद है ॥२२॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—जिन वाक्यों में अभिधावृत्ति से विधि सम्भव है, वहाँ लक्षणावृत्ति के आधार पर स्तुति कहना अन्याय्य होगा। आचार्य ने समाधान किया—

**विधिश्चानर्थकः क्वचित् तस्मात् स्तुतिः प्रतीयेत, तत्सामान्या-
दितरेषु तथात्वम् ॥२३॥**

[विधिः] विधि है [च] और [अनर्थकः] अनर्थक [क्वचित्] कहीं;
[तस्मात्] इसलिए वहाँ [स्तुतिः] स्तुति [प्रतीयेत] जानी जाये, [तत्सामान्यात्]

का अनुष्ठान करनेवाला व्यक्ति अन्न का एक दाना भूमि में डालकर बहुत अन्न को प्राप्त करता है, यह आशय उक्त वाक्य में अन्तर्हित है। आपाततः प्रतीयमान समस्त पशुयाग-प्रक्रिया अन्नोत्पादन की प्रक्रिया के साथ सन्तुलित होती है। यह सामञ्जस्य इस धारणा को पुष्ट करता है कि 'पशुयाग'-पद में 'पशु'-पद अन्न का वाचक है, 'पशु' प्राणी का नहीं।

१. इस पशुयाग अथवा अन्नयाग के देवता सोम और पूषा हैं। सोम—जल तथा पूषा—सूर्य है। पूर्वोक्त टिप्पणी में इसका स्पष्ट विवरण कर दिया है। आचार्यों ने बताया—पशुयाग में 'अग्निषोमीय' प्रकृतियाग है, 'सोमापौष्ण' विकृतियाग। वस्तुतः दोनों यागों के देवताओं में कोई अन्तर नहीं है। प्रकृति याग में 'अग्नि' प्रथम और 'सोम' द्वितीय है। विकृतियाग में इनके पौर्वापर्य का विपर्यय हो गया है। यहाँ 'सोम' प्रथम और 'पूषा' [सूर्य=अग्नि] द्वितीय है। देवताओं का यह क्रम अन्नोत्पादन-प्रक्रिया के एक रहस्य का उद्घाटन करता है।

जब अन्नोत्पादन के लिए भूमि में बीजारोपण किया जाता है, वहाँ उसे अंकुरित होने तक के लिए जल की अपेक्षा ऊष्मा (गरमी) की अधिक आवश्यकता रहती है। सर्वत्र बीजारोपण के अवसर पर 'अग्नि' [उष्णता] का प्राधान्य रहता है। बीज के अंकुरित हो जाने और भूमि से बाहर आ जाने तक 'प्रकृति-याग' की सीमा है। आगे 'विकृति-याग' का प्रारम्भ होता है—फल के आ जाने तक। यहाँ देवता के क्रम में विपर्यय हो गया है। 'सोम'—जल का प्रथम स्थान है; आतप-अग्नि-पूषा का द्वितीय। जब फसल भूमि के ऊपर सिर उठा लेती है, तब जल-सेचन के विषय में विशेष सावधानता बरतनी पड़ती है। 'प्रकृति'-यागगत देवताक्रम के 'विकृति'-याग में विपर्यय का यही रहस्य है।

उसी समानता से [इतरेषु] अन्य वाक्यों में [तथात्वम्] वैसा होना = स्तुति का होना जानना चाहिए।

कहीं-कहीं ऐसे वचन हैं, जहाँ विधिबोधित अर्थ सम्भव नहीं। ऐसे स्थलों में—विधि अनर्थक न हो—इस कारण स्तुति की कल्पना कर लेनी चाहिए। उसी समानता के अन्य वाक्यों में भी स्तुति की कल्पना करना अन्याय्य नहीं है।

वाक्य है—‘अप्सुयोनिर्वा अश्वः’ जल योनिवाला अर्थात् जल से उत्पन्न अश्व है; वाक्यों का अर्थ करने की शास्त्रीय पद्धति के अनुसार इसका अर्थ होगा—‘जल योनिवाला अश्व करना चाहिए, अथवा जल से उत्पन्न अश्व की भावना करे’ यह विध्यर्थ असम्भव है, क्योंकि जल से घोड़े को उत्पन्न करना अशक्य है। अतः यहाँ स्तुति की कल्पना कर ली जाती है—शान्त करनेवाले शीतल जलों से अश्व का सम्बन्ध यजमान के कष्ट को शान्त करनेवाला होवे। इसी प्रकार अन्यत्र भी जहाँ विध्यर्थ असम्भव हो, और स्तुति सम्भव हो, वहाँ स्तुति की कल्पना कर लेने में कुछ भी अन्याय्य नहीं है।

अन्य प्रसंगों में इस व्यवस्था को लागू करें। वाक्य है—‘वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता’ यह वायु में क्षिप्रगामिता की प्रवृत्ति को बोधित करता है। पूर्वनिर्दिष्ट पद्धति के अनुसार इसका अर्थ होगा—वायु को क्षिप्रगामी करना चाहिए अथवा क्षिप्रगामी करे। यह विध्यर्थ असम्भव है, क्योंकि वायु की क्षिप्रगामिता सर्वथा स्वभावसिद्ध है। वह पुरुष के प्रयत्न से साध्य नहीं है। इसलिए पूर्वविहित याग के अङ्गभूत वायु देवता की स्तुति के रूप में इस वाक्य का उपयोग निर्धारित किया गया। ऐसे ही ‘यजमानः प्रस्तरः’ [श० ब्रा०, १।८।३।११] इत्यादि वाक्यों को विधिपरक माना जाना उपयुक्त नहीं है। यजमान को प्रस्तरकार्य में नियुक्त करे—यजमानं प्रस्तरकार्यं नियोजयेत्—ऐसा विधिरूप अर्थ समझना नितान्त अनुपयुक्त है। फलतः इसे स्तुति-वाक्य ही मानना संगत होगा। यह प्रसंग दर्श-पौर्णमास-निरूपण प्रकरण में है। इसका तात्पर्य यजमान की प्रशंसा-रूप स्तुति में है। जैसे प्रस्तर अपने स्वरूप व कार्य में दृढ़ है, ऐसे ही यजमान अपने अभीष्ट अनुष्ठान-कार्यों में दृढ़ व स्थिर रहता है। अतः पूर्वोक्त [सूत्र—१।२।७] व्यवस्था के अनुसार ऐसे प्रसंगों में विशिष्ट वाक्यों को अर्थवाद मानना शास्त्र-सम्मत है ॥२३॥

अन्य प्रसंग में भी एवंभूत वाक्यों को स्तुति माना जाना संगत है, विधि माना जाना नहीं। सूत्रकार ने बताया—

प्रकरणे सम्भवन्नपकर्षो न कल्प्येत, विध्यानर्थक्यं हि तं प्रति ॥२४॥

[प्रकरणे] प्रकरण में—अपने प्रसंग में [च] ही [संभवं] सम्भव होते हुए, [अपकर्षः] दूर खींचना अपने प्रकरण को छोड़ अन्य प्रकरण के साथ सम्बन्ध

जोड़ना रूप, [न] नहीं [कल्प्येत] कल्पना करनी पड़े। [विध्यानर्थक्यम्] विधि का आनर्थक्य होगा [हि] क्योंकि [तं प्रति] उस प्रकरण के प्रति जिसमें वह वाक्य पड़ा है।

जिस प्रकरण में जो वाक्य पड़ा है, स्तुति मानने पर यदि वह संगत है, तो स्तुति मानना प्रासंगिक है। यदि उसे विधि माना जाता है, और उस प्रकरण में विधि का सम्बन्ध सम्भव न होने पर अन्य तत्सम्बन्धी प्रकरण में उस वाक्य को खींचकर ले-जाया जाता है, तो यह अप्रासंगिक होगा, क्योंकि पठित प्रकरण में विधि अनर्थक है। उसका कोई प्रयोजन नहीं।

दर्श-पौर्णमास-प्रसंग में पाठ है—‘यो विदग्धः स नैर्ऋतः, योऽश्रुतः स रौद्रः, यः श्रुतः स सदेवः, तस्मादविदहता श्रुतं कृत्यः स देवत्वाय’ [तै० सं० २।६।३], अनुष्ठान में उपयोग होनेवाले पुरोडाश के विषय में यह कथन है। पकाते समय जो पुरोडाश जल जाय, वह निर्ऋति के लिए है; जो कच्चा रह जाय, वह रुद्र के लिए; जो ठीक पका है—न कच्चा रहा न जला—वह देवता के योग्य है। यदि इसे विधि माना जाता है, तो जिस यज्ञकर्म में निर्ऋति देवता के लिए पुरोडाश का कथन है, वहाँ इस विदग्धता के अंश को ले जाना होगा; क्योंकि दर्श-पौर्णमास-कर्म में निर्ऋति देवता के पुरोडाश के अनुपयोग से विदग्ध-वचन निरर्थक होगा। इसी प्रकार पुरोडाश के अश्रुतता-वचन का सम्बन्ध उस कर्म अथवा प्रकरण से जोड़ना होगा, जहाँ रुद्रदेवताक पुरोडाश का विधान हो। यहाँ वह अनर्थक है।

यह विदग्धता और अश्रुतता-कथन अनर्थक न हो, यहाँ इसे स्तुति मानना संगत है। यह पुरोडाश पाक की प्रशंसा है, वह इस चतुराई से पकाया जाना चाहिए कि न वह जले न कच्चा रहे। इससे प्रत्येक पाक-प्रक्रिया के विषय में यह रहस्योद्घाटन होता है कि उसका यथावत् होना ही शुभावह है, कल्याणप्रद है। अन्यथा जला हुआ पाक पोषक रसों-तत्त्वों से हीन होकर मिट्टी हो जाता है, वह ‘निर्ऋति’ देवता के लिए है। ‘निर्ऋति’ पृथिवी का नाम है, जो मृदूप है; जला हुआ पाक मिट्टी में फँक देने योग्य होता है। अधपका या कच्चा पाक ‘रुद्र’ देवता के लिए है, खलानेवाला होता है। ऐसे अन्न का उपयोग किये जाने पर उदर-शूल आदि होकर रोना ही पड़ता है। यथावत् पाक ही देवों के लिए उपयुक्त है। शरीरस्थ इन्द्रिय-प्राण आदि देवों के लिए भी उचित रीति पर पकाया गया पुरोडाश (भोजन) हितकारी होता है, इसी तथ्य का स्तवन उक्त वचनों में किया गया है ॥२४॥

प्रस्तुत प्रसंग में विधि-वचन मानने पर सूत्रकार दोष बताता है—

विधौ च वाक्यभेदः स्यात् ॥२५॥

१. रामेश्वर सूरि विरचित ‘सुबोधिनी’ व्याख्या के सूत्रपाठ में ‘च’ पद नहीं है।

[विधौ] विधि मानने पर (उक्त प्रसंग में) [च] और [वाक्यभेदः] वाक्य-भेद दोष [स्यात्] होगा।

‘अविदहता श्रपयितव्यः’ जल न जाय अन्न, इस प्रकार पकाना चाहिए, इस विधिवाक्य का स्तुतिपरक होते हुए भी ‘यो विदग्धः स नैच्छंतः’ इत्यादि प्रशंसा-वचन दाहरूप गुण का विधायक भी क्यों न मान लिया जाय ? यह जिज्ञासा होने पर सूत्रकार ने समाधान किया—ऐसा मानने पर वाक्यभेदरूप दोष होगा। कोई वाक्य एक अर्थ को अभिव्यक्त कर चरितार्थ हो जाता है, यदि अन्य अर्थ भी उससे प्रकट किये जाने का प्रयास किया जाता है, तो वाक्यभेद-दोष होगा। शास्त्र में इस प्रकार अर्थाभिव्यक्ति को दोष माना जाता है।

इसी प्रकार ‘औदुम्बरो यूपो भवति’ को यदि विधि माना जाता है, तो इसके स्तुतिपरक वाक्य—‘ऊर्जोऽवरुद्धय’ में वाक्यभेद होगा; इसे दो वाक्यों के रूप में प्रस्तुत कर अर्थ प्रकट करना होगा। पहले वाक्य का अर्थ होगा—औदुम्बर यूप प्रशस्त है; दूसरे का होगा—औदुम्बर यूप ऊर्जा के अवरोधन, स्थिर बनाये रखने के लिए है। वाक्यभेद-दोष से बचने के लिए इसे स्तुतिरूप अर्थवादवाक्य माना गया।

पर यहाँ अन्य आशंका उत्पन्न होती है—यदि इसे (‘औदुम्बरो यूपो भवति’ इत्यादि को) विधि नहीं माना जाता, तो प्रकृतियाग में विहित [खादिरो यूपो भवति] खादिर यूप की यहाँ प्राप्ति होगी; पर वह अभीष्ट नहीं। यहाँ विकृति-याग में औदुम्बर यूप ही अभीष्ट है। इसका समाधान ऐसे समझना चाहिए—यूप का विधान तो प्रकृतियाग से प्राप्त है, उस विहित यूप में प्रस्तुत वाक्य ‘खादिरत्व’ के स्थान पर औदुम्बरत्व का विधान करता है। इस प्रकार औदुम्बर यूप की प्रशंसा में उक्त वाक्य का तात्पर्य परिनिष्ठित होता है। फलतः विधि के समान दीखनेवाले वाक्यों का अर्थवावरूप वाक्य मानना ही शास्त्रसम्मत होगा ॥२५॥

(हेतुमन्निगदाधिकरण—३)

अर्थवाद-विचार के क्रम में प्रथम निर्दिष्ट दो प्रकार के अर्थवादों का गत अधिकरणों (१,२) द्वारा विवेचन किया गया। शेष तीसरे प्रकार के अर्थवादों का विचार चालू अधिकरण में प्रस्तुत करने की भावना से आचार्य सूत्रकार ने पूर्व-पक्ष कहा

हेतुर्वा स्यादर्थवत्त्वोपपत्तिभ्याम् ॥२६॥ (पू०)

[हेतुः] हेतु बताना [वा] ही तात्पर्य [स्तात्] है, प्रसंगगत वाक्यों का, [अर्थवत्त्वोपपत्तिभ्याम्] अर्थवत्ता = अर्थ-प्रयोजनवाला होने से तथा उपपत्ति-युक्ति से।

१. द्रष्टव्य—सूत्र (१।२।७) की अवतरणिका।

चातुर्मास्य यज्ञों के प्रसंग में वाक्य है—‘शूर्पेण जुहोति’, तेन हि अन्नं क्रियते’ शूर्प (सूप, छाज) से होम करता है, क्योंकि उससे अन्न सिद्ध किया जाता है। यहाँ संशय है—इस वाक्य को हेतुविधि माना जाय ? अथवा स्तुतिपरक माना जाय ? स्तुतिपरक मानना युक्त न होगा, क्योंकि श्रुतिवचन (= शूर्पेण जुहोति) साक्षात् शूर्प से होम का विधान कर रहा है, अतः इसे हेतुविधि मानना उपयुक्त होगा; सूप होम का हेतु है, यह वाक्य होम के प्रति सूप की हेतुता का विधान करता है।

प्रश्न हो सकता है, सूप से होम कैसे होगा ? श्रुति ने तत्काल उत्तर दिया, ‘तेन हि अन्नं क्रियते’ क्योंकि उसके द्वारा अन्न शुद्ध-स्वच्छ किया जाता है। यज्ञ में उपयोग होनेवाले अन्न को सूप से जब तक शुद्ध-स्वच्छ न किया जाय, वह यज्ञिय नहीं हो पाता। शुद्ध अन्न के अभाव में यज्ञ न होगा, सूप के बिना अन्न शुद्ध न होगा। अतः सूप होम का साधन है, हेतु है। इसी अर्थ का विधान उक्त वाक्य करता है।

इस हेतुवाद से एक व्याप्ति का रूप सामने आता है—जिस-जिससे अन्न सिद्ध किया जाता है, वह-वह होम का साधन है, हेतु है। इससे चमचा, बटलोई आदि पात्रों का भी ग्रहण हो जाता है, जिनके द्वारा यज्ञिय पुरोडाश आदि पकाया या सिद्ध किया जाता है। ‘तेन हि अन्नं क्रियते’ इस वाक्य में ‘तेन’ यह तृतीया विभक्ति की सार्थकता, सप्रयोजनता इसी में निहित है कि अन्न-सिद्धिकारक दर्वी आदि अन्य द्रव्यों की होमसाधनता स्पष्ट हो जाती है। साक्षात् श्रुतिपठित ‘शूर्प’ पद अन्य होम-साधनों (दर्वी आदि) का उपलक्षण है, यह उपपत्ति भी है। यथाप्रसंग पठित कोई पद अपने समानधर्माओं का उपलक्षण = संग्राहक होता है, यह युक्तिसिद्ध माना जाता है। इन कारणों से ‘शूर्पेण जुहोति’ इत्यादि वाक्यों को अर्थवाद न मानकर हेतुविधि मानना अधिक संगत होगा ॥२६॥

उक्त वाक्यों में हेतुविधि न होकर ये अर्थवाद ही हैं, यह सिद्धान्त-पक्ष प्रस्तुत करने की भावना से सूत्रकार ने कहा—

स्तुतिस्तु शब्दपूर्वत्वादचोदना च तस्य ॥२७॥ (उ०)

[स्तुतिः] स्तुति है यह (यज्ञिय अन्नसाधन शूर्प की), [तु] यह पद सूत्र में पूर्वपक्ष के निराकरण के लिए पठित है। तात्पर्य है—‘तेन हि अन्नं क्रियते’ यह हेतुविधि न होकर शूर्प की स्तुति करता है, [शब्दपूर्वत्वात्] शब्दपूर्वक होने से। [अचोदना] चोदना = विधि न होने से [च] और [तस्य] दर्वी आदि यज्ञिय अन्नसाधन तथा पात्रसमूह की।

‘तेन हि अन्नं क्रियते’ यह विधिवाक्य नहीं है, जो दर्वी आदि का विधायक

माना जाय; क्योंकि 'तेन' यह तृतीयान्त सर्वनाम अपने प्रकरण में पूर्वपठित 'शूर्प' का परामर्शक है, अन्य दर्वी आदि का विधायक नहीं। होम-साधन की आकांक्षा होने पर 'शूर्पेण जुहोति' से वह आकांक्षा पूरी हो जाती है। होम-साधन के रूप में यह वाक्य 'शूर्प' का विधान करता है, तब अन्य किसी होम-साधन के खोज करने की अपेक्षा नहीं रह जाती। फलतः 'तेन हि अन्नं' इत्यादि वाक्य 'शूर्पेण जुहोति' विधि का स्तुतिपरक है। एक ने कहा—अन्न से होम होता है। दूसरे ने कहा—अजी, अन्न से क्या? होम शूर्प से होता है। यदि शूर्प यज्ञिय अन्न को स्वच्छ-शुद्ध न करे, तो होम कैसे हो? इस प्रकार 'तेन हि अन्नं' यह शूर्प की प्रशंसा है। ऐसा मानने पर न तो 'तेन' इस करणार्थक तृतीयान्त सर्वनाम से व्याप्ति की कल्पना करने की अपेक्षा रहती है, और न 'शूर्प' पद को दर्वी आदि का उपलक्षण मानने की आवश्यकता रहती है।

इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान देने योग्य है—'शूर्पेण जुहोति' यह साक्षात् शब्द द्वारा निर्देश होने से विधि प्रत्यक्ष है। 'तेन हि अन्नं क्रियते' इसके आश्रय से व्याप्ति की कल्पना कर दर्वी (कर्छी, चमचा), पिठर (बटलोई) आदि को होम-साधन बताना आनुमानिक है। अनुमान की अपेक्षा प्रत्यक्ष बलवान् माना गया है। अतः 'तेन हि अन्नं' को हेतुविधि न मानकर स्तुतिवचन मानना संगत है ॥२७॥

यज्ञिय अन्न की पूर्णसिद्धि (पकाना आदि) के लिए दर्वी, पिठर आदि का उपयोग शूर्प की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। 'तेन हि अन्नं' से बोधित उनकी हेतुता यदि व्यर्थ है, अर्थात् उसका यह प्रयोजन नहीं है, तो उसे स्तुतिपरक वाक्य कहना भी अनुचित होना चाहिए। शिष्य की आशंका को आचार्य ने सूत्रित किया—

व्यर्थं स्तुतिरन्याय्येति चेत् ॥२८॥

[व्यर्थ] व्यर्थ होने पर ('तेन हि अन्नं' का हेतुविधि प्रयोजन न माने जाने पर), [स्तुतिः] स्तुति है, यह कहना [अन्याय्या] अनुचित है, [इति चेत्] ऐसा यदि कहो—।

यज्ञिय अन्न के उत्कृष्ट साधन (पाक आदि द्वारा) दर्वी-पिठर आदि हैं। शूर्प में तो इस धर्म का नितान्त अभाव है। तब उक्त वचन ('तेन हि अन्नं' इत्यादि) को शूर्प का स्तुतिपरक बताना अनुचित ही कहा जाएगा ॥२८॥

१. जिन सूत्रों के अन्त में 'इति चेत्' पद है, उनको अगले सूत्र से मिलाकर एक सूत्र मानना, यह सभी प्राचीन सूत्रकारों की पद्धति है। सूत्रों के भाष्यकार शबर स्वामी ने सूत्रों का योग-विभाग कर व्याख्यान किया है। अनन्तरवर्त्ती व्याख्याकारों के अनुरूप इस रचना में सूत्रों का वही क्रम (भाष्यानुसारी) रखा गया है।

आचार्य ने उक्त आशंका का समाधान किया—

अर्थस्तु विधिशेषत्वाद्यथा लोके ॥२६॥

[अर्थः] अर्थ-प्रयोजन है [तु] तो, ('तेन हि अन्नं' इत्यादि का), [विधिशेष-त्वात्] विधि का शेष होने से ('शूर्पेण जुहोति' विधिवाक्य का वह शेष—अङ्ग है, उसका स्तावक है, यही उसका ('तेन हि अन्नं' इत्यादि का प्रयोजन है), [यथा] जैसे [लोके] लोक में।

'तेन हि अन्नं क्रियते' वाक्य को हेतुविधि न मानने पर व्यर्थ = निष्प्रयोजन बनाना युक्त नहीं; क्योंकि वह वाक्य 'शूर्पेण जुहोति' विधिविहित 'शूर्प' की स्तुति करता है। अनुमानित दर्वी, पिठर आदि से यज्ञिय अन्न का उत्कृष्ट पाक—अपने अर्थ का परित्याग कर, शूर्प द्वारा की गई अन्न-स्वच्छता का निर्देश करता हुआ 'शूर्प' की प्रशंसा करता है। यदि शूर्प द्वारा अन्न स्वच्छ न होता, तो आगे पाक के लिए पिठर आना सम्भव न था। लोक में ऐसा व्यवहार देखा जाता है। 'सिंहो माणवकः' यह बालक सिंह है, कहने पर 'सिंह' पद अपने वास्तविक प्राणिविशेष अर्थ का परित्याग कर बालक में शूरता व साहस आदि गुण दिखाते हुए उसकी प्रशंसा करता है। ऐसी ही स्थिति उक्त वाक्यों में समझनी चाहिए। अतः 'तेन हि अन्नं' इत्यादि वाक्य निष्प्रयोजन नहीं हैं ॥२६॥

सुजनतोष-न्याय का आश्रय लेते हुए आचार्य का कहना है, यदि यहाँ हेतु-विधि मान लिया जाय, तो विधिवाक्यों में अव्यवस्था की सम्भावना बढ़ जायगी। सूत्रकार ने बताया—

**यदि च हेतुरवतिष्ठेत निर्देशात्, सामान्यादिति चेदव्यवस्था
विधीनां स्यात् ॥३०॥**

[यदि] यदि [च] और (यज्ञिय अन्न की सिद्धि में उपयोगी अन्य दर्वी-पिठर आदि पात्रों को) [हेतुः] अन्नकरण—अन्नसाधन माना जाय, तब भी यह हेतुता शूर्प में ही [अवतिष्ठेत] अवस्थित होगी, स्थिर होगी, टिकेगी [निर्देशात्] निर्देश होने से, शब्द (शूर्पेण जुहोति) द्वारा साक्षात् कथित होने से। [सामान्यात्] 'तेन' इस तृतीया विभक्ति की समानता से अन्य पात्रों को अन्नकरण माना जाय [इति चेत्] ऐसा यदि कहा जाता है, तो [अव्यवस्था] अव्यवस्था—व्यतिक्रम [विधीनाम्] विधिवाक्यों का [स्यात्] हो जाये। तात्पर्य है—शूर्प से होम होने के स्थान पर दर्वी-पिठर आदि—जितने भी अन्न-साधन हैं—सबसे होम की प्राप्ति हो जायगी।

यदि 'तेन हि अन्नं क्रियते' वाक्य का सहारा लेकर, जो भी अन्न का साधन पदार्थ है, सबसे होम का विधान माना जाता है, तो यह क्रम दर्वी-पिठर पर ही

समाप्त नहीं हो जायगा; तब मिट्टी, हवा, पानी, हल, बैल, किसान, गाड़ी, जुआ, जांगी आदि अनेक पदार्थों के अन्नकरणत्व में समावेश को कौन रोकेगा? विधि-वाक्यों की अव्यवस्था हो जायगी। तब 'जुहोति' और 'शूर्पेण जुहोति' में क्या अन्तर रह जायगा? केवल 'जुहोति' कथनमात्र से होमविधान पूरा हो जायगा; चाहे जिस पात्र व साधन से होम कर लिया जाय। यह अव्यवस्था शास्त्र से सह्य न होने से साक्षात् श्रुतिबोधित शूर्प का ही अन्नकरणत्व में समावेश सम्भव है। वस्तुतः अन्न-करणत्व-कथन से शूर्प की स्तुति किया जाना ही अभिप्रेत है। उससे अन्न सिद्ध किया जाता है (तेन हि अन्नं क्रियते), यह तो केवल लोकव्यवहार का कथन है, जो अनुष्ठान में प्ररोचना के लिए किया जाता है। फलतः हेतु-वचनों का प्रयोजन स्तुति आदि अर्थवाद के रूप में ही समझना चाहिए; वे वाक्य विधि [चोदना] की कोटि में नहीं आते ॥३०॥ (इति हेतुवन्निगदाधिकरणम्—)

(अथ मन्त्राधिकरणम्—४)

प्रस्तुत अधिकरण में—मन्त्र सार्थक हैं, या निरर्थक? इस विषय पर विचार किया गया है। क्या मन्त्र—अपने शब्दानुसारी अर्थों को बोधित कर—याग के उपकारक हैं? अथवा उच्चारणमात्र से? यदि उच्चारणमात्र से उपकारक हैं, तो 'बर्हिर्देवसदनं दामि' (देवसदनं बर्हि=कुशा काटता हूँ) का विनियोग नियम से कुशा काटने में ही न होना चाहिए। कुशा काटने से भिन्न कर्म में भी इसका विनियोग हो जाए। यदि मन्त्र को शब्दानुसारी अर्थ-प्रकाशन द्वारा यज्ञ का उपकारक माना जाता है, तो अर्थानुसार जिस प्रसंग में जिस कर्म के साथ मन्त्र का अङ्गभाव जाना जाता है, उससे भिन्न कर्म का वह उपकारक नहीं हो सकता। इसलिए 'बर्हिर्दाति'^३ इस विनियोजक वाक्य के बिना भी उसका विनियोग कुशा के काटने में ही होगा; तब विनियोजक वचन अनावश्यक है। इससे ज्ञात होता है—मन्त्र केवल उच्चारणमात्र से यज्ञ के उपकारक हैं, अतः अनर्थक हैं। सूत्रकार

१. हलायुधकृत 'मीमांसा शास्त्र सर्वस्व' नामक व्याख्या में 'मन्त्रलिङ्गाधिकारम्' नाम दिया है। रामेश्वर सूरि विरचित 'सुबोधिनी' व्याख्या में 'मन्त्राणामर्थ-प्रत्यायनार्थत्वम्, अधि० ४' पाठ है।

२. यज्ञशाला के नियत स्थान पर कुशा बिछाकर उसपर यज्ञ-सम्बन्धी हवि अथवा पात्र रखे जाते हैं, उसका याम 'देवसदन' है।

३. 'बर्हिर्देवसदनं दामि' इसका विनियोजक वाक्य 'बर्हिर्दाति' है। द्रष्टव्य मै० सं० ४।१।२॥

जैमिनि^१ ने इस पक्ष को आगामी नौ सूत्रों से प्रस्तुत किया है। उनमें प्रथम सूत्र है—

तदर्थशास्त्रात्^२ ॥३१॥ (पू०)

[तद्-अर्थ-शास्त्रात्] उस अर्थ का शास्त्र—ब्राह्मणग्रन्थ आदि द्वारा बोध कराने से—मन्त्रों का अनर्थक होना ज्ञात होता है।

संशय है—कर्मनुष्ठान के अवसर पर मन्त्रों का उच्चारण क्या उच्चारणमात्र से किसी अदृष्ट धर्म का जनक है? अथवा कर्म-सम्बन्धी अर्थ का स्मारक होने से कर्म में उसका उपयोग है? ऐसा संशय होने पर पूर्वपक्ष का कथन है—मन्त्रों का कर्म में उपयोग उनके उच्चारणमात्र में ही समझना चाहिए; वे कर्म-सम्बन्धी अर्थ द्वारा कर्म में उपयोगी हों, ऐसा नहीं है। कारण है, मन्त्रों का उच्चारण किये जाने पर भी कर्म के साथ उनका सम्बन्ध ब्राह्मण आदि अन्य ग्रन्थों के वाक्यों द्वारा बनाया जाता है। उदाहरण है—

१. प्रतीत होता है, जैमिनि-काल से पूर्व सम्भवतः अल्पपठित याज्ञिक व पुरोहितों द्वारा इच्छानुसार कोई वेदमन्त्र पढ़कर संस्कारों, यज्ञों के अनुष्ठान की प्रथा चल गई थी। विशेष संस्कार व यज्ञादि कार्यों के साथ मन्त्रार्थ के सामञ्जस्य की उपेक्षा कर दी गई थी। कालान्तर में यह एक दृढ़ सम्प्रदाय बन गया, जिसके पोषक के रूप में यास्क ने निरुक्त [१।१५] में कौत्स नामक व्यक्ति का उल्लेख किया है। यद्यपि जैमिनि ने कौत्स अथवा इस मत के पोषक अन्य किसी आचार्य का नामोल्लेख नहीं किया, पर दोनों [मीमांसा व निरुक्त] में विषय-प्रतिपादन की पर्याप्त समानता है।

कालिदास ने रघुवंश [५।१] में वरतन्तु के शिष्य कौत्स का उल्लेख किया है, जो राजा रघु के पास गुरुदक्षिणा-निमित्त धन प्राप्त करने की अभिलाषा से पहुँचा। वरतन्तु कृष्ण-यजुर्वेद की एक शाखा का प्रवक्ता है। उसके प्रिय शिष्य कौत्स का यजुःशाखाध्यायी होने के आधार पर याज्ञिक होना अधिक सम्भव है। यास्क और कालिदास द्वारा वर्णित कौत्स यदि एक व्यक्ति सम्भव है, तो उसके ऐतिहासिक काल-निर्णय पर इससे कुछ सहायता मिल सकती है।

२. पं० युधिष्ठिर मीमांसक का यह साधार विचार है कि जैमिनि के एक लम्बे सूत्र को पञ्चमी एकवचनान्त पदों को पृथक् कर भाष्यकार शबर स्वामी ने व्याख्या की सुविधा के लिए नौ सूत्र बना दिये हैं। एक सूत्र का रूप यह होगा—तदर्थशास्त्राद् वाक्यनियमाद् बुद्धशास्त्रादविद्यमानवचनादचेतनार्थ-बन्धनादर्थविप्रतिषेधात् स्वाध्यायवदवचनादविज्ञेयादनित्यसंयोगान्मन्त्रानर्थ-क्यम्^३ ।

१. 'चतुर्भिरभ्रिमादत्ते' [श० ब्रा० ६।३।१।४३] अग्निचयन के अवसर पर चार मन्त्रों से 'अभि' का आदान (ग्रहण) करे। ये मन्त्र हैं—'देवस्य त्वा, गायत्रेण छन्दसा, अभिरसि, हस्त आधाय' [यजु० ११, ६-११] इत्यादि। यदि मन्त्र सार्थक होते, तो मन्त्रगत—'बाहुभ्यां'...हस्ताभ्याम्, आददे अभिरसि... त्वया वयमग्निं शकेम खनितुं सधस्थ आ, हस्त आधाय सविता बिभ्रदभ्रिम्' इत्यादि मन्त्र-समुदाय में 'आददे' क्रिया से अभि का आदान (यज्ञकर्म से कार्य के लिए हाथ से उसका उठाया जाना) सिद्ध था; पर मन्त्रों के सार्थक न होने के कारण ब्राह्मण प्रवक्ता यह निर्देश ('चतुर्भिरभ्रिमादत्ते') करता है।

२. इसी प्रकार 'इमामगृष्णन् रक्षनामृतस्य पूर्वं आयुषि विदधेषु कव्या' [यजु०, २२।२]—जानकार याज्ञिक यज्ञों के अवसर पर यज्ञारम्भ में इस रक्षना (लगाम) को ग्रहण करते हैं; इस स्पष्ट मन्त्रलिंग से यज्ञ के प्रारम्भ में रक्षना का ग्रहण करना स्पष्ट हो जाता है, यदि मन्त्रों को सार्थक माना जाय। क्योंकि मन्त्रों का कोई अर्थ नहीं है, इसीलिए ब्राह्मण में 'अश्वाभिधानीमादत्ते' विधान किया गया। उक्त मन्त्र का उच्चारण करने पर—ब्राह्मणवाक्य से यह जाना जाता है कि इससे अमुक कार्य करे। अतः मन्त्र अनर्थक हैं।

३. इसी प्रकार पकाये पुरोदाश को पात्र में फैलाने के अवसर पर 'उरु प्रथस्व' [यजु० १।२२] मन्त्र का उच्चारण किया जाता है। पर प्रथन का विधान 'इति प्रथयति' इस ब्राह्मणवाक्य द्वारा किया गया है। यदि मन्त्र सार्थक होता, तो कर्मानुष्ठानगत प्रथन-प्रक्रिया का वह बोध कराता। फलतः कर्म में मन्त्र के उच्चारण का प्रयोजन अन्य शास्त्र (ब्राह्मणवाक्य आदि) द्वारा बोध कराये जाने से मन्त्र का निरर्थक होना स्पष्ट हो जाता है ॥३१॥

मन्त्रों के आनर्थक्य में अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

वाक्यनियमात् ॥३२॥

[वाक्य-नियमात्] वाक्यों का नियम होने से मन्त्रों में, ज्ञात होता है—मन्त्र निरर्थक हैं।

१. 'अभिः स्त्री काष्ठकुदालः' अमरकोश, १।१०।१३ (वारिवर्ग) 'अभि' और 'काष्ठकुदाल' ये पर्याय पद हैं। इसे भाषा में कुदाली, या कीला कहा जाता है। कुदाली वह है, जिसमें आगे का (लौह) फल लगभग तीन अंगुल चौड़ा, दृढ़ व पैना रहता है, ढण्डा पर्याप्त लम्बा रहता है। जब फल चौड़ा न होकर नुकीला हो, तब यह 'कीला' कहाता है। ग्राम के बाहर तालाब के शुष्क भाग से शुद्ध मिट्टी कुछ गहराई से खोदकर यज्ञ में उपयोग के लिए लाई जाती है। मिट्टी का उपयोग चतुष्कोण 'उखा' गर्त को भरने में होता है। 'अभि' का अग्रभाग काष्ठ आदि का हो, यह सन्दिग्ध है। विचार्य=क्या लौह धातु तब न था ?

मन्त्रों में पद-क्रम की व्यवस्था, नियत आनुपूर्वी मानी जाती है। 'अग्निमीळे पुरोहितम्' अथवा 'अग्निर्मूर्धा दिवः' मन्त्रों के इस पद-क्रम एवं आनुपूर्वी में कोई व्यतिक्रम या विपर्यय नहीं होता। यदि वस्तुतः मन्त्र अर्थ का बोध कराने के लिए हों, तो पदों का व्यतिक्रम = उलट-फेर (ईडेग्निं पुरोहितम्, पुरोहितमग्निमीडे, अग्नि पुरोहितमीडे, अथवा दिवोऽग्निर्मूर्धा, मूर्धाग्निदिवः, दिवो मूर्धाग्निः) होने पर भी अर्थ उसी प्रकार जाना जाता है। यदि मन्त्र अर्थ का बोध कराने के लिए होता, तो पदों की आनुपूर्वी का नियम व्यर्थ हो जाता। अतः पद-क्रम की व्यवस्था से जाना जाता है—मन्त्र अनर्थक है ॥३२॥

इसी प्रसंग में अन्य हेतु प्रस्तुत किया ✓

बुद्धशास्त्रात् ॥३३॥

[बुद्ध-शास्त्रात्] जाने हुए कार्य का शास्त्र से निर्देश किये जाने के कारण ज्ञात होता है, शास्त्र-वाक्य अनर्थक है।

यजानुष्ठान में उसी व्यक्ति का अधिकार माना गया है, जो यज्ञसम्बन्धी क्रिया-कलाप का पूर्ण ज्ञाता हो।^१ 'अग्नीदग्नीन् विहर'^२ यह विधि सोमयाग की है। बहिष्णवमान स्तोत्र के अन्त में अध्वर्यु अग्नीत्-ऋत्विक् को आदेश देता है—हे अग्नीत् ! अग्नियों का विहरण करो, आग्नीध्रोग्नि से अङ्गारों को धिष्ण्य-संज्ञक निर्दिष्ट स्थानों पर ले जाओ [का० श्रौ० १।७।४]। अनुष्ठान-प्रक्रिया के जानकार ऋत्विक् को वही बात जताना ऐसा ही है, जैसे कोई जूता-पहने व्यक्ति को और जूता पहनाने का प्रयास करे। जैसे यह निरर्थक है, ऐसे ही कर्म के जानकार ऋत्विक् को मन्त्र द्वारा निर्देश, मन्त्र की निरर्थकता का द्योतक है।

इसी प्रकार 'बहि स्तृणीहि' 'अग्नये समिध्यमानायानुबृहि'—बहि बिछाओ, प्रज्वलित होते अग्नि के लिए सामिधेनी मन्त्रों का उच्चारण करो, आदि आदेश भी मन्त्रों की निरर्थकता को सिद्ध करते हैं। यदि मन्त्रोच्चारण को धर्म-विशेष अदृष्ट का जनक माना जाता है, तो इसका भी यही तात्पर्य है कि मन्त्र अर्थ द्वारा कर्म का उपकारक न होने से निरर्थक है ॥३३॥

मन्त्र के आनर्थक्य में अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

अविद्यमानवचनात् ॥३४॥

[अविद्यमान-वचनात्] संसार में अविद्यमान पदार्थ का मन्त्र द्वारा कथन किये जाने से मन्त्र का अनर्थक होना सिद्ध है।

यज्ञोपयोमी अथवा मानव-अभ्युदय के उपयोगी अर्थों का प्रकाशन मन्त्र का

१. द्रष्टव्य—मीमांसा सूत्र [३।८।१८]

२. मं० सं०, [३।८।१०, शं० ब्रा० ४।२।१।११]

उद्देश्य माना जाता है; परन्तु अनेक ऐसे मन्त्र हैं, जो अनहोने अर्थ का प्रकाशन करते हैं। 'चत्वारि ऋद्धा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य । त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महोदेवो मर्त्यानि विवेश ।'^१ ऐसा ही मन्त्र है—'चार सींग, तीन इसके पैर, दो सिर, सात हाथ इसके हैं, तीन प्रकार से बँधा हुआ वृषभ बार-बार शब्द करता है, ऐसा महादेव मर्त्या में प्रविष्ट हुआ ।' किसी भी प्रकृतियाग या विकृतियाग में ऐसी वस्तु का उपयोग नहीं देखा जाता, न लोक में ऐसा पदार्थ दृष्टिगोचर है। मैत्रायणी संहिता [१।६।२] के अनुसार इस मन्त्र का विनियोग अग्नि के उपस्थान में है। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र [५।१७।४] के अग्न्याधान-प्रकरण में घृत से लिपटी तीन समिधाओं को इस मन्त्र द्वारा अग्नि में छोड़ने का विधान है। ये विनियोग नितान्त मी मन्त्रार्थ के अनुरूप नहीं हैं। इससे मन्त्र का आनर्थक्य स्पष्ट होता है।

इसी प्रकार 'मा मा हिंसीः' इस वैदिक मन्त्र का विनियोग चातुर्मास्य इष्टि के अवसर पर यजमान के केश-वपन (क्षौर कर्म) में बताया गया है।^२ 'उस्तरे ! मेरी हिंसा मत कर।' परन्तु केशों के काटने में हिंसा होती ही नहीं; ऐसी दशा में हिंसा का प्रतिषेध सर्वथा निरर्थक है। उच्चारणमात्र से मन्त्र का उपयोग अदृष्टार्थ मानने पर मन्त्र का आनर्थक्य स्वतः स्पष्ट हो जाता है ॥३४॥

मन्त्र के आनर्थक्य में अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

अचेतनार्थ-बन्धनात् ॥३५॥

[अचेतन-अर्थ-बन्धनात्] अचेतन पदार्थों को लक्ष्य कर उनसे अर्थ—याच्ना, प्रार्थना का निबन्धन—सम्बन्ध होने से जाना जाता है—मन्त्र अर्थ-हीन हैं।

वैदिक साहित्य में अचेतन पदार्थों को सम्बोधन विभक्ति से अनेकत्र निर्देश किया गया है। उसका एक उदाहरण है—'ऋणोत प्रावाणः'^३ हे सोम को कूटने-पीसनेवाले पत्थरो ! सुनो । क्या जड़ पदार्थ ऐसा कथन या प्रार्थना सुन सकते हैं ? और सुनकर क्या उसका उत्तर या समाधान दे सकते हैं ? कदापि नहीं। इससे ज्ञात होता है, मन्त्र का अर्थ कुछ नहीं, उसका कर्म में अदृष्टार्थक उच्चारणमात्र प्रयोजन है।

अन्य उदाहरण दिया जाता है—'ओषधे त्रायस्त्वेनम्'^४ हे दर्म नामक ओषधे !

१. ऋग्वेद, ४।५८।३॥

२. द्रष्टव्य—कात्यायन श्रौतसूत्र, ५।२।१७॥

३. रामेश्वर सूरि विरचित 'सुबोधिनी' व्याख्या में 'सम्बन्धात्' पाठ है।

४. तैत्तिरीय संहिता, १।३।१३॥

५. " 'ओषधे त्रायस्त्वेनम्' मन्त्र तैत्तिरीय संहिता में चार [१, २, १॥ १, ३, ५ ॥ ६, ३, ३॥ ६, ३, ६] स्थानों पर पठित है। प्रथम स्थान [१।२।१] में यह

इसकी रक्षा करो। केश-वपन (बाल काटने) आदि के अवसर पर इस वाक्य को बोला जाता है। यही इसका विनियोग है। वैदिक वाङ्मय में तीन अवसरों पर इसका विनियोग बताया है—१. यजमान के केशवपन; २. यूपच्छेदन, ३. पशु-च्छेदन। दूध घास के तृण से ऐसी प्रार्थना का कोई सामञ्जस्य न होने के कारण मन्त्र का आनर्थक्य स्पष्ट होता है।

एक अन्य उदाहरण—‘स्वधिते मनं हिंसीः’ [तै० सं०, १।२।१] प्रस्तुत किया जाता है—हे उस्तरे ! इसकी हिंसा मत कर। यजमान के केश-वपन में इसका विनियोग है। उस्तरे से की जानेवाली प्रार्थना के असामञ्जस्य से मन्त्रों का अनर्थक होना सिद्ध है ॥३५॥

मन्त्रों के आनर्थक्य में अन्य हेतु दिया—

अर्थविप्रतिषेधात् ॥३६॥

[अर्थ-विप्रतिषेधात्] अर्थ का विप्रतिषेध—विरोध होने से मन्त्र अनर्थक हैं। यदि यह माना जाता है कि मन्त्र के पदों का वस्तुतः कोई अर्थ है, तो उससे कहे गये अर्थ में स्पष्टतया परस्पर विरोध प्रतीत होता है। मन्त्र है—‘अदितिर्द्यौः-रवित्तिरन्तरिक्षम्’ [ऋ० १।८।१०॥ अथर्व० ७।६।१] यह अदिति द्यौः—

मन्त्र अग्निष्टोम में यजमान के केश काटते समय केशों पर कुशा रखने में; दूसरे स्थान [१।३।५] में तथा तीसरे स्थान [६।३।३] में यूपच्छेदन के समय वृक्ष पर कुशा के दो तृण रखने में; तथा चौथे स्थान [६।३।६] में पशु का पेट छेदन करते समय कुशा के दो तृण रखने में विनियुक्त है।

मैत्रायणी संहिता १।२।१ में यजमान के दीक्षा-प्रकरण में पाठ, तथा ३।६।२ में केश-वपन करते समय केशों पर कुशा के तृण रखने में विनियोग है। मै० सं० १।२।१४ में यूपच्छेदन में पाठ, तथा ३।१।२ में वृक्ष को काटते हुए उसपर कुशा के दो तृण रखने में विनियोग है, और मै० सं० १।२।१६ में पशु-प्रकरण में पाठ, तथा ३।१०।१ में पशु का पेट छेदन करते समय कुशा के दो तृण रखने में विनियोग दर्शाया है।

इस विषय में आपस्तम्ब आदि श्रौतसूत्र भी देखने चाहिए। इसी प्रकार शुक्ल यजुः ४।१; ५।४२; ६।१५ में पठित मन्त्र शतपथ ब्राह्मण के अनुसार क्रमशः यजमान के केशवपन, यूपच्छेदन और पशुच्छेदन के समय कुशतृण रखने में विनियुक्त हैं। इन तीन विनियोगों में तृतीय विनियोग विशेष विचारणीय है। इसपर हमने इस भाग के साथ पूर्वमुद्रित ‘श्रौतयज्ञ-मीमांसा’ के पशुयाग-प्रकरण में विस्तार से विचार किया है। अतः पाठक इस विषय में वही देखें।” [प्रस्तुत सूत्र के शाबर भाष्य हिन्दी व्याख्यान के विवरण में—युधिष्ठिर मीमांसक]।

द्युलोक है, अदिति अन्तरिक्ष है। एक ही अदिति—द्युलोक और अन्तरिक्षलोक दोनों होना—सम्भव न होने से परस्पर विरुद्ध होने के कारण मन्त्र की अनर्थकता को सिद्ध करता है। कहीं-कहीं विरुद्धार्थक मन्त्रांश भी देखने में आते हैं। एक स्थान पर कहा—‘एको रुद्रो न द्वितीयोऽवतस्थे’ रुद्र एक है, दूसरा नहीं। इसके विरुद्ध—‘असंख्याताः सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम्’ कथन करता है। जो रुद्र भूमि पर विद्यमान हैं, वे सहस्रों हैं, असंख्यात हैं। पहले मन्त्र में रुद्र को एक बताया, दूसरे में सहस्रों कहा। ये दोनों मन्त्र परस्पर-विरुद्ध हैं। दूसरे मन्त्र में ‘सहस्रों’ कहकर ‘असंख्यात’ कहना भी परस्पर विरोध है। पहले में संख्या परिमित है, दूसरे में अपरिमित; यह स्पष्ट विरोध है। अतः मन्त्रों का उपयोग उच्चारणमात्र में समझना चाहिए, अर्थ-बोधन में नहीं ॥३६॥

मन्त्रों की अनर्थकता में यह अन्य हेतु है—

स्वाध्यायवदवचनात् ॥३७॥

[स्वाध्यायवत्-अवचनात्] स्वाध्याय के समान अर्थ के कथन का विधान न होने से।

मन्त्र का उच्चारणरूप में पाठमात्र करना ‘स्वाध्याय’ कहा जाता है। स्वाध्याय के लिए शास्त्र में विधि उपलब्ध है—‘स्वाध्यायोऽध्येतव्यः’^१ [माश० ११।५।७।१०, सौ० प्रा० २।१।५।७] स्वाध्याय अर्थात् वेदमन्त्र का उच्चारण करते हुए पाठमात्र से अध्ययन—अक्षराभ्यासरूप में स्मरण करना चाहिए। परन्तु अर्थज्ञान के विधान का निर्देश कहीं उपलब्ध नहीं होता।

वेदाध्ययन के अवसर पर ‘पूणिका’ नाम की स्त्री याज्ञिय उपयोग के लिए धान कूट रही है। आकस्मिक रूप से छात्र धान कूटने में विनियुक्त मन्त्र को उच्च स्वर से बोलते हुए स्मरण कर रहा है। धान कूटना और उसमें विनियुक्त मन्त्र का पाठ करना दोनों समकालिक हैं; फिर भी छात्र द्वारा किये जाते मन्त्रपाठ का प्रयोजन धान कूटने की क्रिया का बोध कराना नहीं है। वह केवल मन्त्र कण्ठस्थ कर रहा है। तात्पर्य है, अर्थबोध के बिना भी धान कूटा जाता है, मन्त्रार्थ का वहाँ कोई उपयोग नहीं। अतः मन्त्र को निरर्थक मानना युक्त है ॥३७॥

मन्त्रों के आनर्थक्य में अन्य हेतु दिया—

अविज्ञेयात् ॥३८॥

[अविज्ञेयात्] अनेक मन्त्रगत पदों के अर्थ जानने योग्य न होने से मन्त्र अनर्थक हैं।

१. द्रष्टव्य—श० ब्रा० ११।५।७।१०; तै० आ० २।१।५।७॥

अनेक मन्त्र ऐसे हैं, जिनका अर्थ जानना अशक्य है। वहाँ ऐसे पदों का प्रयोग हुआ है, जिनके अर्थ जानने में कोई पद्धति असन्दिग्ध कारगर नहीं रहती। उदाहरणार्थ कुछ मन्त्र हैं—

अभ्यक् सा त इन्द्र ऋष्टिरस्मे सनेभ्यम्वं मरुतो जुनन्ति ।

अग्निश्चिद्धि ध्मातसे शुशुक्वानापो न द्वीपं दधति प्रयासि ॥

—ऋ० १।१६।३

सूष्येव जर्भरी तुर्फरीतु नंतोशेव तुर्फरी पर्फरीका ।

उदन्यजेव जेमना मदेरू ता मे जराय्वजरं मरायु ॥—ऋ० १०।१०।६।६

एकया प्रतिधापिबत् साकं सरांसि त्रिशतम् ।

इन्द्रः सोमस्य काणुका ॥ —ऋ० ८।७७।४

इन मन्त्रों का क्या कोई यज्ञोपयोगी अथवा मानव-जीवनोपयोगी अर्थ किया जा सकता है ? इससे मन्त्रों की अनर्थकता स्पष्ट है ॥३८॥

मन्त्रों के आनर्थक्य में अन्तिम हेतु प्रस्तुत किया—

अनित्यसंयोगान्मन्त्रानर्थक्यम् ॥३९॥

[अनित्यसंयोगात्] अनित्य पदार्थों का सम्बन्ध होने से मन्त्रों में [मन्त्रा-नर्थक्यम्] मन्त्र अनर्थक हैं ।

जब मन्त्र का प्रयोजन, यज्ञोपयोगी आदि अर्थ का अभिव्यक्त करना माना जाता है, तदनुसार अर्थ करने का प्रयास होता है, तब एक अन्य बाधा सन्मुख आती है कि मन्त्रों के साथ अनित्य पदार्थों का सम्बन्ध है। तात्पर्य है, मन्त्रों में स्पष्ट ही ऐसे पदार्थों का वर्णन है, जो अनित्य हैं। जब मन्त्र अनादि-नित्य हैं, तो अनन्तर होनेवाले अनित्य पदार्थों का वर्णन उसमें कैसे सम्भव है ? उदाहरणार्थ एक मन्त्र है—

किं ते कृष्वन्ति कीकटेषु मावो नाशिरं बुन्हू न तपन्ति धर्मम् ।

आ नो भर प्रमगन्दस्य वेदो नैचाशाखं मघवन् रन्ध्या नः ॥

—ऋ० ३।५३।१४

यहाँ 'कीकट' किसी देशविशेष का नाम है, प्रमगन्द नाम का कोई राजा है, नैचाशाख किसी नगर का नाम है। ऐसा अर्थ इन पदों का किया जाता है। यदि मन्त्र का यही अर्थ है, और अर्थ की अभिव्यक्ति उसका प्रयोजन है, तो इन देश, नगर व राजा की स्थिति से पहले मन्त्र का अस्तित्व माना जाना सम्भव न होगा, जो अभीष्ट नहीं, क्योंकि मन्त्र को अनादि नित्य माना गया है। अतः मलाई इसी में है कि मन्त्र को अनर्थक माना जाय, और यज्ञादि में उच्चारणमात्र उसका प्रयोजन स्वीकार किया जाय, जो याज्ञिक के प्रति किसी अदृष्ट धर्म-विशेष का जनक होता है ॥३९॥

इकत्तीसवें सूत्र से लगाकर उन्तालीसवें सूत्र तक कुल नौ हेतुओं के आधार पर यज्ञों में मन्त्रों के उच्चारणमात्र की उपयोगिता बताई गई और स्पष्ट किया गया कि मन्त्र अपने अर्थ द्वारा यज्ञसम्बन्धी क्रिया का निर्देश करे; ऐसा कोई प्रयोजन उसका नहीं है। यह सम्भावित हेतुओं के आधार पर पूर्वपक्ष की भावना को सूत्रकार ने अभिव्यक्त किया। उसके समाधान की भावना से अब आचार्य सिद्धान्त-सूत्र का अवतरण करता है—

अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः ॥४०॥

[अविशिष्टः] विशिष्ट—भिन्न नहीं है, [तु]तो[वाक्यार्थः]वाक्यार्थ मन्त्रों का। तात्पर्य है—मन्त्रों का वाक्यार्थ लौकिक वाक्यार्थ से भिन्न नहीं होता। जहाँ तक वाक्यार्थ का प्रश्न है, लोक और वेद में यह समान है।

सूत्र में 'तु' पद पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति का द्योतक है। अभी तक गत सूत्रों द्वारा जो विस्तृत पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया गया, वह समाप्त हुआ; अब उसका समाधान किया जाता है। मन्त्र, पद-वाक्य-समूह हैं। प्रत्येक पद का अपना सामान्य अर्थ होता है; जब क्रिया-कारक आदि अनेक पद मिलकर वाक्य बनाते हैं, तब वह एक असाधारण अर्थ का कथन करते हैं। अर्थबोधन की यह पद्धति लौकिक वाक्य एवं वैदिक वाक्य दोनों जगह समान है। इसलिए लौकिक वाक्य यदि अर्थवान् है, तो वैदिक वाक्य के सार्थक होने में कोई बाधा नहीं है।

यदि कहा जाय—लोक में बोद्धा और बोधयिता दोनों चेतन आमने-सामने उपस्थित होकर क्रिया-कारकरूप पद-समूह = वाक्य से अर्थ का बोधन करते-कराते एक-दूसरे के उपकारक होते हैं, परन्तु यह स्थिति वैदिक वाक्य में नहीं है; वेद में अदृश्य देवता और अचेतन यज्ञाङ्गों के साथ वार्त्तालाप यज्ञ का कोई उपकारक नहीं होता। परन्तु मन्त्र का पाठ यज्ञार्थ ही हुआ है, इसलिए यज्ञ से उसका सम्बन्ध अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिए। वह सम्बन्ध यज्ञकाल में मन्त्रोच्चारण द्वारा ही सम्भव होगा, जिसका प्रयोजन अदृष्ट धर्मविशेष को उत्पन्न करना है जो गत-सूत्रों द्वारा विस्तार से प्रतिपादित हुआ है।

यह कथन वस्तुतः ठीक नहीं; क्योंकि यज्ञों में मन्त्रों का उच्चारण यज्ञसम्बन्धी अर्थ का ज्ञान कराने के लिए होता है। अदृश्य देवताओं तथा यज्ञाङ्गों का संलाप निरर्थक नहीं है; यज्ञ एवं यज्ञाङ्गों के सम्बन्धी क्रिया-कलाप का प्रकाशन ही उसका प्रयोजन है। यज्ञसम्बन्धी क्रियासमूह के जाने बिना यज्ञ का अनुष्ठान असम्भव होगा। यज्ञ का क्षेत्र महान् विस्तृत है; विश्वरचना में विविध नैसर्गिक परिस्थितियों का क्रमानुक्रम यज्ञ का ही रूप है, जिनकी गहराइयों को मन्त्र द्वारा अभिव्यक्त किया जाना सम्भव होता है। अतः मन्त्रों के सार्थक होने में किसी प्रकार के संशय का अवकाश नहीं ॥४०॥

शिष्य आशंका करता है—तब क्या 'तां चतुर्भिरादत्ते' विधिवाक्य अनर्थक माना जाय ? आचार्य ने समाधान किया—

गुणार्थेन पुनः श्रुतिः ॥४१॥

[गुणार्थेन] चार की संख्यारूप—गुणलाभ के लिए [पुनः] फिर [श्रुतिः] पाठ किया गया है।

यज्ञोपयोगी कार्य के लिए अग्नि का आदान 'आददे' इस मन्त्रलिङ्ग से स्पष्ट होने पर भी 'तां चतुर्भिरादत्ते' यह विधान मन्त्रों की चार संख्यारूप गुण के लाभार्थ पुनः पढ़ा गया है। कार्य-सम्पादनार्थ अग्नि (कुदाली) को हाथ से पकड़ने के अवसर पर यजु' के चार मन्त्रभाग विनियुक्त हैं। वहाँ संख्या का कोई निर्देश नहीं है। ऐसी दशा में 'ब्रीहिभिर्यजेत, यवैर्यजेत' के समान विकल्प प्राप्त होगा। यज्ञ करने में जैसे धान और जौ का विकल्प है—चाहे धान से यज्ञ करे, चाहे जौ से करे; जो उपस्थित हो, उसी से कर लो, इसी प्रकार मन्त्रों के चार होने पर भी विशेष विधि के अभाव में विकल्प सम्भव है, चाहे एक मन्त्र से अग्नि का आदान करे, चाहे अधिक से अथवा समुच्चित चारों से। ऐसी स्थिति में 'तां चतुर्भिरादत्ते' यह विधि चारों मन्त्र-भागों के समुच्चय का नियमन करती है।^१ मन्त्रों से अग्नि का आदान प्राप्त होने पर इस विधि से केवल चार संख्यारूप विशेष गुण का नियमन हुआ है। इसके द्वारा मन्त्र की सार्थकता में कोई बाधा नहीं आती। अग्नि का आदान मन्त्र-लिङ्ग से ज्ञात हो जाता है। अतः मन्त्र निरर्थक नहीं ॥४१॥

शिष्य पुनः जिज्ञासा करता है—'इमामष्टमणन्' इति 'अश्वाभिधानीमादत्ते' विधि में विशेष कथन क्या माना जाएगा ? आचार्य ने समाधान किया—

परिसंख्या ॥४२॥

[परिसंख्या] परिसंख्या, स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं रह जाती, जबकि 'इति अश्वाभिधानीमादत्ते' वाक्य अश्वाभिधानी आदान का प्रत्यक्ष निर्देश कर रहा है।

सन्दिग्ध स्थलों में शास्त्र द्वारा निर्णय के लिए तीन प्रकार या मार्ग सुभाये गये हैं—विधि, नियम, परिसंख्या। कर्मानुष्ठान के अवसर पर किसी विशेष क्रिया की पद्धति आदि के विषय में सन्देह हो जाता है कि अमुक क्रिया को किस प्रकार किया

१. द्रष्टव्य—यजुर्वेद, ११।६-११॥ मन्त्रों का निर्देश ३१ सूत्र की व्याख्या में देखें।

२. सूत्रकार ने स्वयं इस विषय में आगे [अ० १२, पा० ३, सूत्र २६-३०॥ यह सूत्र-संख्या 'रामेश्वर सुरि विरचित सुबोधिनी व्याख्या के सूत्रपाठानुसार है] विवेचन प्रस्तुत किया है।

जाय ? जहाँ कार्य अन्य किसी प्रकार से प्राप्त न हो, वैदिक वाक्य द्वारा साक्षात् उसका विधान किया जाय, वह 'विधि' नामक प्रकार है। जैसे—'ज्योतिष्ठोमेन यजेत स्वर्गकामः' स्वर्ग की कामनावाला ज्योतिष्ठोम याग करे। 'ऐन्द्र्या गार्हपत्य-मुपतिष्ठते' इन्द्र देवतावाली ऋचा से गार्हपत्य अग्नि का उपस्थान करता है, इत्यादि।

जिस कार्य के लिए समान बलवाले दो आधार हों, वहाँ विकल्प प्राप्त होता है; ऐसे अवसर पर दोनों में से एक का नियमन करना होता है, वह 'नियम-विधि' है। जैसे—'उदिते जुहोति, अनुदिते जुहोति' उदित-अनुदित होम के दोनों वाक्य समान-बल हैं। तब होता एक का नियम करता है—उदित में ही होम करूँगा अथवा अनुदित में ही होम करूँगा। कहीं यदि ऐसा नियमन अपेक्षित नहीं रहता, तो वहाँ 'विकल्प' मान लिया जाता है। जैसे—'ब्रीहिभिर्यजेत, यद्वैर्यजेत' धान अन्न से याग करे; जौ अन्न से याग करे। यहाँ नियमन न होने से विकल्प है; जो उपस्थित हो अथवा सुलभ हो, उसी से याग कर ले। 'परिसंख्या विधि' वह कहाती है, जहाँ इष्ट और अनिष्ट दोनों में कार्य-प्राप्ति होने पर अनिष्ट के परित्याग का विधान किया जाता है। जैसे—'इमामगृभ्णन् रक्षनामृतस्य' [यजु० २२।२] मन्त्र के 'अगृभ्णन्' पद से घोड़ा और गदहा दोनों की लगाम (रक्षना) पकड़ना प्राप्त होता है। घोड़े की लगाम पकड़ना इष्ट है, गदहे की लगाम पकड़ना इष्ट नहीं है। ऐसी दशा में 'अश्वाभिधानीमादत्ते' वाक्य घोड़े की लगाम पकड़ने का विधान करता है। परन्तु घोड़े की लगाम पकड़ना, सामान्यरूप में 'इमामगृभ्णन् रक्षनामृतस्य' इस मन्त्र-सामर्थ्य से प्राप्त है। तब 'अश्वाभिधानीमादत्ते' वाक्य का तात्पर्य—गदहे की लगाम न पकड़े—यह करना होगा। ऐसा अर्थ 'परिसंख्याविधि' के आधार पर किया जाता है।

किसी वाक्य का तात्पर्य 'परिसंख्याविधि' के आधार पर निकालने से तीन दोष सामने आते हैं—स्वार्थ का त्याग, पदार्थ की कल्पना, सामान्यतः प्राप्त अर्थ की बाधा। 'अश्वाभिधानीमादत्ते' वाक्य का जब यह तात्पर्य निकाला जाता है कि 'गदहे की लगाम न पकड़े' तब इस वाक्य का जो अपना अर्थ है—'घोड़े की लगाम पकड़ता है' उसका परित्याग करना पड़ता है; यह पहला दोष है। उक्त वाक्य का जो अपना अर्थ नहीं है—'गदहे की लगाम न पकड़े' उसकी कल्पना करनी पड़ती है; यह परार्थकल्पना दूसरा दोष है। मन्त्र-सामर्थ्य से सामान्य रूप में जो अर्थ प्राप्त होता था—'गदहे की लगाम पकड़े' उसे बाधित करना पड़ता है। यह तीसरा दोष है।

सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र द्वारा यह स्पष्ट किया है कि 'अश्वाभिधानीमादत्ते'

१. 'अश्वाभिधानीमादत्ते' प्रसंग 'अभि-आदान' के प्रकरण में ही पठित है। आहवनीय के पूर्व में 'उक्षा' नामक चौकोर गर्त को भरने के लिए शुद्ध मिट्टी

वाक्य में 'परिसंख्याविधि' की योजना अनावश्यक है। कारण यह है—'इमाम-गृष्णन् रशनामृतस्य' केवल इतने सन्दर्भ से अभिमत वाक्यार्थ पूरा नहीं होता, प्रत्युत 'इमामगृष्णन् रशनामृतस्य, इति अश्वभिन्नानीमादत्ते' इतने सन्दर्भ से वाक्यार्थ पूरा होता है। इसका अर्थ है—ऋत की इस रशना को पकड़ा, यह बोलते हुए घोड़े की लगाम पकड़ता है। इतने समुचित सन्दर्भ का इकट्ठा अर्थ करने पर 'गदहे की लगाम पकड़ना'-रूप सामान्य अर्थ प्राप्त ही नहीं होता, तब उसके परिहार के लिए 'परिसंख्याविधि' का प्रयोग अनावश्यक है, अतः उक्त तीनों दोषों की सम्भावना भी नहीं रहती ॥४२॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—'उरु प्रथस्व इति पुरोडाशं प्रथयति' वाक्य के विषय में क्या समझना चाहिए ? आचार्य ने बताया—

अर्थवादो वा ॥४३॥

[अर्थवादः] अर्थवाद है यह, [वा] पद पूर्वोक्त पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है।

प्रथम यह कहा गया कि 'उरु प्रथस्व' मन्त्र से ही पुरोडाश का प्रथन = फैलाना ज्ञात हो जाता है, फिर इस मन्त्र को बोलकर 'इति पुरोडाशं प्रथयति' कहना अनावश्यक है, यदि मन्त्र सार्थक हो। क्योंकि मन्त्रोच्चारण के अनन्तर आवश्यक रूप से यह वाक्य बोला जाता है, इससे मन्त्र का निरर्थक होना ज्ञात होता है। इस पूर्वपक्ष का प्रस्तुत सूत्र द्वारा आचार्य ने समाधान किया—'उरु प्रथस्व' मन्त्र से पुरोडाश का प्रथन प्राप्त होने पर 'इति पुरोडाशं प्रथयति' वाक्य का प्रयोजन कर्म की स्तुति करना है, अतः इसे स्तुतिरूप अर्थवाद समझना चाहिए।

ग्राम से बाहर किसी तालाब के शुष्क भाग से खोदकर लाई जाती है। उस मिट्टी को ढोने के लिए वाहन आवश्यक है, जो घोड़े या गदहे के रूप में उपलब्ध रहता है। घोड़े को लगाम लगाकर पकड़े हुए तथा गदहे को बिना लगाम लाया-लेजाया जाता है। उसी विषय में यह विधान है। उस समय और आज घोड़े व गदहे को कार्यनिमित्त लाने-लेजाने का यह क्रम तदवस्थ विद्यमान है।

याज्ञिक प्रसंगों में एक समय ऐसा आया, जब यज्ञ में बाह्य आडम्बरों का बोलबाला हुआ, यज्ञ की मूल भावनाओं को भुला दिया गया। क्रिया-विषयक साधारण बातों को अनावश्यक महत्त्व देकर उनपर लम्बी परिचर्चाएँ चलाई जाती रहीं। उसी का परिणाम यह घोड़ा-गदहा-विषयक सूक्ष्म विवेचन है। केवल मिट्टी ढोकर लाना आवश्यक है। सुविधानुसार दोनों या किसी एक के द्वारा यह कार्य किया जा सकता है। किसी विशिष्ट पद्धति के आश्रय से अनुकूल अदृष्ट की कल्पना दुराशामात्र है।

गोल पुरोडाश पिण्ड को पूरे कपाल (गोल मृत्पात्र—मृष्मय तश्तरी) पर फैलाना 'प्रथन' है। इसमें पुरोडाश का गुरुत्व (भार) तो नहीं बढ़ता, परन्तु परिमाण बढ़ जाता है। जो पुरोडाश-पिण्ड मुट्ठी में आ रहा था, अब पूरे कपाल पर फैलकर उसका परिमाण जैसे बढ़ गया है; उसी प्रकार वह कर्म यज्ञकर्त्ता को पुत्र-पशु आदि प्राप्ति की कामनापूर्ति से बढ़ानेवाला हो, यह प्रथन कर्म की प्रशंसा है। मन्त्र से प्रथन-कर्म प्राप्त होने पर पुनः उसका कथन, प्रथन-कर्म की प्रशंसा द्वारा यज्ञकर्त्ता की वृद्धि का द्योतक होने से अर्थवाद है। इसीलिए कहा—'उरु प्रथस्व, इति पुरोडाशं यत्प्रथयति, यज्ञपतिमेव तत्प्रथयति।'

इस प्रकार 'तां चतुर्भिरभ्रिमादत्ते, इति अश्वाभिधानीमादत्ते, इति पुरोडाशं प्रथयति' इत्यादि वाक्यों के विभिन्न प्रयोजन गत सूत्रों द्वारा स्पष्ट किये गये। इनके आधार पर मन्त्रों का निरर्थक सिद्ध किया जाना नितान्त अयुक्त है ॥४३॥

शिष्य पुनः जिज्ञासा करता है—मन्त्रों की नियत पदानुपूर्वी का क्या समाधान होगा? आचार्य ने बताया—

अविरुद्धं परम् ॥४४॥

[अविरुद्धम्] विरुद्ध नहीं है [परम्] अगला 'वाक्यनियम' हेतु।

मन्त्रों का सार्थक मानने पर मन्त्रों की नियत पदानुपूर्वी उसका (मन्त्रों के सार्थक होने का) विरोध नहीं करती। मन्त्र का नियत पदानुपूर्वी के साथ उच्चारण करने पर जो अर्थ ज्ञात होता है, वही अर्थ व्यतिक्रम-पाठ में भी रहता है। तात्पर्य है—नियत आनुपूर्वी में पद एवं वाक्यों का अर्थ निरस्त हो जाता हो, तथा व्यतिक्रम पाठ में अभिव्यक्त होता हो, ऐसा नहीं है। अतः मन्त्रों की नियत पदानुपूर्वी मन्त्रों को निरर्थक सिद्ध नहीं करती। यदि गम्भीरतापूर्वक सूक्ष्मदृष्टि से विचार किया जाय, तो व्यतिक्रम पाठ में स्वर आदि के आधार पर मन्त्र का यथावत् अर्थ, कहीं अन्यथा हो जाय, ऐसी सम्भावना बनी रह सकती है। नियत पदानुपूर्वी में मन्त्रपाठ के साथ कर्मानुष्ठान, अनुकूल अदृष्ट (अपूर्व धर्म) का जनक हो, यह भी साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों का मुभाव है।

वस्तुतः मन्त्र की नियत पदानुपूर्वी का रहना अत्यावश्यक है। यही मन्त्र की मन्त्रता है; यदि यह न होता, तो आज हमारे सामने मन्त्र न रहा होता, यह कब का विच्छृङ्खलित हो गया होता। मन्त्र की नित्यता का यह एक विशेष आधार है ॥४४॥

शिष्य पुनः जिज्ञासा करता है, सम्प्रैष—आदेश के विषय में क्या कहा जायगा? जाने हुए को जताना व्यर्थ होता है। आचार्य ने बताया—

सम्प्रैषे कर्मगर्हाऽनुपालम्भः संस्कारत्वात् ॥४५॥

[सम्प्रैषे] सम्प्रैष मन्त्र में [कर्मगर्हा] जाने हुए को जताना—रूप जो कर्म-

विषयक गृहीत-दोष या न्यूनता है, वस्तुतः वह [अनुपालम्भः] उपालम्भ-दोष नहीं है, [संस्कारत्वात्] संस्कार होने से याज्ञिक का।

‘अग्नीदग्नीन् विहर’ यह प्रैष—आदेश मन्त्र है। अध्वर्यु अग्नीध्र को आदेश देता है—हे अग्नीत् ! अग्नियों को—अंगारों को धिष्य-नामक स्थान में ले जाओ। अग्नीत् याज्ञिक जानता है कि इस अवसर पर मुझे क्या कार्य करना है। जाने हुए को फिर जताना दोष है; साधारण लोक-व्यवहार में भी यह दोष समझा जाता है। प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार कहता है कि वस्तुतः यह दोष नहीं है। इस प्रैष—आदेश-रूप कथन से आदिष्ट याज्ञिक का संस्कार किया जाता है। जैसे यज्ञ में उपयोग के योग्य होने पर भी ब्रीहि=घान को जल आदि से पुनः प्रोक्षण (धोने के) द्वारा संस्कृत (संस्कारयुक्त) किया जाता है, ऐसे ही प्रैष मन्त्र से अग्नीत् याज्ञिक का संस्कार किया जाना अभिप्रेत होने से इसमें कोई दोष नहीं। अतः मन्त्र के आनर्थक्य का बोधक यह नहीं कहा जा सकता।

इसी प्रकार ‘प्रोक्षणीरासादय’ प्रैष मन्त्र है। प्रोक्षणी—संज्ञक जलों को यहाँ लाकर रक्खो। कर्मिक याज्ञिक यद्यपि अपने कर्तव्य-कार्य को जानता है, फिर भी आदेश द्वारा उसे स्मरण कराना उसका संस्कार है। कार्य के अवसर पर जानकारी में विस्मृति की सम्भावना बनी रह सकती है, वह स्थिति न आवे। यही प्रैष मन्त्र का प्रयोजन है। इसी को स्मृति अथवा स्मर्त्ता का संस्कार होना कहा गया है। याद कराने के अन्य साधन भी हो सकते हैं, पर यज्ञ के अवसर पर मन्त्र द्वारा याद कराया जाय; यही शास्त्रीय व्यवस्था है। इससे मन्त्र का आनर्थक्य सिद्ध नहीं होता ॥४५॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—अनेक मन्त्रों में अविद्यमान पदार्थ का वर्णन है तथा अचेतन पदार्थों को सम्बोधन करके बात कही गई है। इनके विषय में क्या समझा जाय ? आचार्य ने बताया—

अभिधानेऽर्थवादः ॥४६॥

[अभिधाने] कथन करने में (अविद्यमान व अचेतन पदार्थविषयक), [अर्थ-वादः] अर्थवाद है।

प्रस्तुत सूत्र द्वारा आचार्य ने उन आक्षेपों का समाधान किया है, जो अविद्यमान पदार्थ का वर्णन तथा अचेतन पदार्थों से प्रार्थना आदि के सम्बन्ध के

१. यज्ञ के अवसर पर ब्रीहि आदि अन्न को शुद्ध करने के लिए ‘अग्निहोत्रहवणी’ नामक पात्र में जो निर्दोष पवित्र जल सुरक्षित रहता है, वह ‘प्रोक्षणी’ कहा जाता है।

इन जलों को आपस्तम्बियों के मत में गार्हपत्य के आगे, और कात्यायनीयों के मत में प्रणीता और आहवनीय के मध्य में रखते हैं। (यु० मी०)

आधार पर किये गये हैं। जिन मन्त्रों में ऐसे वर्णन हैं, वे सब अर्थवाद—स्तुतिरूप गौण कथन हैं। जहाँ गौण अर्थात् औपचारिक वर्णन है, ऐसे मन्त्र के उच्चारण से कोई अदृष्ट धर्मविशेष उत्पन्न होता हो, इसमें कोई प्रमाण नहीं है।✓

अविद्यमान अर्थ के वर्णन में 'चत्वारि शृङ्गा' इत्यादि ऋचा का उल्लेख किया जाता है। यह मन्त्र ऋग्वेद, यजुर्वेद दोनों में पठित है। इसका देवता सूर्य अथवा अग्नि है। उन्हीं की स्तुति में मन्त्र का प्रयोग है। 'चत्वारि' आदि पदों से इनके कल्पित अङ्गों व कार्य-वर्णन द्वारा इनकी प्रशंसा की गई है। सूर्यपक्ष में यह वर्णन निम्न प्रकार समझना चाहिए।

चत्वारि शृङ्गा—चार सींग, सूर्य से सम्बद्ध अथवा उपलक्षित दिन के चार याम = प्रहर सूर्य के चार शृंगस्थानीय हैं।

त्रयो अस्य पादाः—इसके तीन पैर—शीतकाल, उष्णकाल, वर्षाकाल तीन प्रधान ऋतु हैं।

द्वे शीर्षे—दो सिर—दो अयन हैं, उत्तरायण और दक्षिणायन।

सप्त हस्तासो अस्य—इसके सात हाथ—सात थोड़े अर्थात् सात प्रकार की रश्मियाँ हैं।

त्रिधा बद्धः—तीन प्रकार से बंधा हुआ है। वे तीन प्रकार तीन सवन हैं—प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन, सायं सवन^३।

वृषभः—वर्षा का निमित्त होने से वृषभ है।

रोरवीति—शब्द करता है; शब्द का निमित्त है, वृष्टि एवं विद्युत्संपात आदि द्वारा।

महादेवः—यह स्वरूप से महान् देव है।

मर्त्यान् आ विवेश—सभी प्राणी-अप्राणी जगत् को प्रकाश-प्रदान आदि द्वारा उनमें आविष्ट है, उनसे सम्बद्ध है, उनमें जीवनप्रद शक्तियों के आवेशन का तथा उनके अस्तित्व के प्रकाशन का प्रयोजक है।

सूर्य का प्रतीक पृथिवी पर 'यज्ञाग्नि' है, जो उससे अभिन्न माना जाता है। उसको लक्ष्य कर ऋचा के पदों का अर्थ निम्न प्रकार किया जाता है—

'यज्ञाग्नि' के चार सींग के समान चार ऋत्विज् हैं—ब्रह्मा, उद्गाता, अध्वर्यु,

१. चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।

त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महादेवो मर्त्यान् आ विवेश॥

—ऋ० ४।५।३॥ यजु० १७।६१

२. यह व्याख्या रामेश्वर सूरि विरचित 'सुबोधिनी' टीका से अनुप्राणित है।

३. छहदिनसाध्य ज्योतिष्टोम के पाँचवें दिन प्रधान आहुति सोम की दी जाती है। आहुतियों के लिए दिन तीन भागों में बाँटा, जिनके ये नाम हैं।

होता, जो यज्ञाग्नि के चार ओर बैठते हैं। तीन सवन उसके तीन पैर के समान हैं। पत्नी और यजमान ये दो उसके सिर कहे जाते हैं। इसके सात हाथ हैं—यज्ञाग्नि में अनुष्ठान के अवसर पर उच्चारण किये जाते मन्त्रों के सात छन्द।

यह यज्ञाग्नि तीन प्रकार से बँधा है। समस्त अनुष्ठान यज्ञाग्नि में मन्त्रोच्चारण के साथ किये जाते हैं। वे मन्त्ररचना की दृष्टि से—ऋक्, यजुः, साम—तीन भागों में विभक्त हैं। ऋक्-संज्ञक वे मन्त्र हैं, जो छन्दोबद्ध हैं। जो मन्त्र गद्यरूप हैं, वे 'यजुः' कहे जाते हैं। यज्ञानुष्ठान के अवसर पर जिन मन्त्रों का प्रयोग गीति (संगीत के अनुसार गान) के रूप में होता है, वे मन्त्र 'साम' हैं। इन तीन प्रकारों में चारों वेदों का समावेश हो जाता है।^१ इन तीन प्रकारों से 'यज्ञाग्नि' बँधा हुआ है। यह 'वृषभ' है, वर्षा आदि का निमित्त होता है^२ एवं यजमान की कामनाओं को पूर्ण करने के रूप में समस्त कल्याणों की वर्षा करनेवाला है। मन्त्रोच्चारणरूप में तथा प्रज्वलनरूप में शब्द करनेवाला है। यह मानवमात्र में आविष्ट है। समस्त मनुष्यों को यज्ञाग्नि साधन द्वारा धर्मानुष्ठान का अधिकार है, यह ऋचा के अन्तिम पदों से स्पष्ट होता है।

ऋचा के द्वारा यज्ञ, यज्ञाग्नि एवं सूर्य की यह प्रस्तुति इस प्रकार की है, जैसे कोई कवि नदी की स्तुति करने के लिए कहता है—नदी के दोनों किनारों पर बैठे चकवा-चकवी जिसके स्तनों के सदृश हैं; किनारे पर पंक्तिबद्ध बैठे हंस जिसकी दन्तावलि है; किनारों पर फैला काश (कांस नामक घास) का जंगल जिसके वस्त्र हैं; शैवाल (सिरवाल, जल के अन्दर पैदा होनेवाली घास) जिसके केश हैं; श्वेत फेन जिसका हास्य है; ऐसी यह नदी सुशोभित हो रही है।^३ एक वनिता के रूप में यह नदी की स्तुति है। इसी प्रकार उक्त ऋचा यज्ञ आदि की स्तावक होने से अर्थवाद है। इससे अविद्यमान अर्थ के वर्णन की कल्पना कर मन्त्र को निरर्थक बनाना नितान्त निराधार है।

१. गोपथ ब्राह्मण (पृ० २।१७) तथा निरुक्त (१३।७) में 'चत्वारि ऋङ्गा' पदों का अर्थ चार वेद किया है। 'त्रिधाबद्धः' का अर्थ—मन्त्र, ब्राह्मण और कल्प—इन तीन से बँधा हुआ बताया है।
२. यज्ञाग्नि में दैव कर्मानुष्ठान से चर-अचर के भरण-पोषण प्रसंग द्वारा मनुस्मृति [३।७६] में कहा है—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।

आदित्या जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥

३. इस आशय का श्लोक साहित्य में उपलब्ध है—

चक्रवाकस्तनी हंसवन्ता शैवालकेशिनी ।

काशाम्बरा फेनहासा नदी कापि विराजते ॥

इसी प्रकार अचेतन तत्त्वों को सम्बोधन कर प्रार्थना रूप—‘शृणोत ग्रावाणः, ओषधे त्रायस्वैनम्, स्वधिते मैनं हिंसीः’ इत्यादि वाक्य भी अर्थवाद हैं। ये गौण अर्थात् औपचारिक प्रयोग हैं। अचेतन में चेतन के समान उपचार = व्यवहार से ये प्रयोग किये गये हैं। ऐसे प्रयोगों में उपचार के निमित्त, स्थिति के अनुसार विभिन्न होने से कोई आपत्ति या बाधा नहीं मानी जाती। इन प्रयोगों के आधार पर मन्त्र की निरर्थकता सिद्ध करना अन्याय्य है ॥४६॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—‘अदितिर्द्यौ रदितिरन्तरिक्षम्’ इत्यादि में परस्पर विरुद्ध कथन का समाधान क्या होगा ? आचार्य ने बताया—

गुणादविप्रतिषेधः स्यात् ॥४७॥

[गुणात्] गुण से—गुणकथन से [अविप्रतिषेधः] विप्रतिषेध—विरोध का न होना, या न रहना [स्यात्] है।

‘अदितिर्द्यौ रदितिरन्तरिक्षम्’ इत्यादि सन्दर्भ में ‘अदिति’ पद विश्व के मूल उपादानकारण प्रकृति का पर्याय है। द्यु और अन्तरिक्ष लोक में जितनी रचनाएँ हैं, वे सब प्रकृति के कार्य हैं। उक्त सन्दर्भ में अदिति को द्यु और अन्तरिक्ष कहा है। अदिति कारण और द्यु एवं अन्तरिक्ष कार्य हैं। शास्त्रीय विधि के अनुसार यह कारण का कार्य में उपचार = व्यवहार कहा जा सकता है। यदि उक्त सन्दर्भ का यह अर्थ किया जाता है कि द्यु और अन्तरिक्ष ‘अदिति’ हैं, तो इसे नैमित्तिक (कार्य) का निमित्त (कारण) में उपचार समझना चाहिए। ‘आयुर्वै धृतम्, आपो वै प्राणाः’ इत्यादि औपचारिक प्रयोग लोक-वेद में उभयत्र बहुत देखे जाते हैं। गत सूत्र की व्याख्या में कहा गया—ऐसे प्रयोगों के निमित्त, स्थिति के अनुसार अनेक होते हैं। प्रकृत में अदिति और द्यु आदि का कारण-कार्यभाव विशेष गुण अभिद्योत्य है, इसी आधार पर ये प्रयोग हैं।^{१२}

‘एको रुद्रः, शतं रुद्राः’ इत्यादि वाक्यों में रुद्र की अतिशय शक्ति को अभिव्यक्त करने के लिए ‘एक, शत’ आदि पदों का प्रयोग होने से ये गौण हैं। ये अपने अभिधावृत्ति बोध्य अर्थ को न कहकर शक्त्यतिशय का बोध कराते हैं, अतः ये गौण प्रयोग हैं। लोक आदि में ऐसे प्रयोग अबाधरूप से होते रहते हैं। गुरु

१. द्रष्टव्य—न्यायदर्शन, २।२।६३॥ सुदर्शनाचार्य-व्याख्यासहित वात्स्यायन-भाष्य का गुजराती प्रेस, बम्बई संस्करण, सम्बत् १९७८।

२. इसी के अनुसार परम देव परमात्मा के प्रति भक्ति एवं आत्म-समर्पण की भावना से अतिप्रसिद्ध एक सन्दर्भ इस प्रकार कहा जाता है—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विश्वा द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्वं मम देव देव !!

गोविन्दसिंह ने सिकखों में समयानुसार एक विशिष्ट आत्म-बल ज्योतिरूप में प्रज्वलित किया था, जिसके अनुसार एक सिकख अपने-आपको अन्य साधारण सवा लाख व्यक्तियों के समान समझता व वैसा व्यवहार करता है। यह सब व्यवहार औपचारिक है। व्यक्ति के एक होने पर अनेक व्यक्तियों के साथ उसकी सम-कक्षता का निर्देशन उसके शक्त्यतिशय का ही अभिव्यञ्जन करता है। ठीक यही स्थिति रुद्रविषयक निर्देशन में समझनी चाहिए। यदि 'रुद्र' पद को 'प्राण' पर्याय समझा जाता है, तो असंख्यात प्राणों में समवेत 'प्राणत्व' जाति के आधार पर रुद्र में एकत्व, तथा व्यक्तियों के आधार पर 'शत, सहस्र' आदि पदों का प्रयोग है, जो प्राण की संख्यातीत स्थिति को अभिव्यक्त करते हैं। इस आधार पर मन्त्र को निरर्थक बताना युक्त न होगा ॥४७॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—अध्ययन-विधि के समान अर्थज्ञान के लिए कोई विधान उपलब्ध नहीं; तथा अर्थज्ञान के बिना भी यज्ञिय कार्य होता देखा जाता है, इसका क्या समाधान होगा? आचार्य ने बताया—

विद्यावचनमसंयोगात् ॥४८॥

[विद्या-अवचनम्] विद्या—अर्थज्ञान का अवचन—अकथन (ऐसा विधान नहीं है) तभी सम्भव है, जब [असंयोगात्] स्वाध्याय के साथ अर्थज्ञान का संयोग—सम्बन्ध न हो। स्वाध्याय के साथ अर्थज्ञान का सम्बन्ध न मानने से ऐसा कहा जा सकता है कि अर्थज्ञान का कहीं विधान नहीं है।

'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' यह विधिवाक्य मन्त्रपाठ और उसके अर्थज्ञान दोनों का विधान करता है। 'स्वाध्याय' पद का तात्पर्य केवल पाठ रटना नहीं है; पद, पदार्थ को यथावत् रूप में समझना इसी के अन्तर्गत है। स्वाध्याय में मन्त्र और मन्त्रार्थज्ञान दोनों अभिप्रेत हैं। जो ऐसा नहीं समझते, उनके लिए निरुक्त [१।१८] में किसी वैदिक वाङ्मय से उद्धृत सन्दर्भ कहा है—

स्याणुरयं भारहारः किलामूढधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम् ।

योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ॥

ऐसा व्यक्ति ठूँठ के समान नीरस केवल भार ढोनेवाला है, जो वेद को पाठमात्र पढ़कर उसके अर्थ को नहीं जानता। निश्चित ही जो अर्थ का जानकार है, वह समस्त कल्याण का भोग करता है, तथा अन्त-समय देहावसान पर, वेद-ज्ञानानुकूल आचरण से सब पापों-बुराइयों को ध्वस्त कर शाश्वत आनन्द को प्राप्त करता है। इसी भावना से तैत्तिरीय ब्राह्मण [३।१।१६] में कहा है—'नावेब-विमनुते तं ब्रह्मन्'—महान् परब्रह्म परमात्मा को नहीं जान पाता, जो वेदार्थ से शून्य है। इससे प्राचीन वैदिक आचार्यों का यह अभिमत स्पष्ट होता है कि स्वाध्याय-विधि में, वेद का अर्थसहित अध्ययन अभिप्रेत है। अतः मन्त्रार्थज्ञान के

लिए विधि का अभाव बनाना असंगत है ।

यदि माणवक पाठ याद करते समय अवहनन (धान कूटने में विनियुक्त) मन्त्र को उच्च स्वर में बोलता हुआ कण्ठ कर रहा है, तथा उसी समय पूर्णिका धान कूट रही है, इसमें मन्त्रार्थ का कोई उपयोग न होने से धान कूटने के प्रति मन्त्र को निरर्थक बनाना भी युक्त नहीं है । क्योंकि माणवक द्वारा मन्त्रोच्चारण का प्रयोजन अवहनन-क्रिया का बोध कराना नहीं है; उसका प्रयोजन केवल मन्त्र का कण्ठस्थ करना है । अतः तात्कालिक क्रिया के साथ उसका कोई सम्बन्ध न होने से (असंयोगात्) मन्त्रों का निरर्थक बताना असंगत है ॥४८॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—जिन मन्त्रों का अर्थ सम्भव नहीं—‘सृण्वेव जर्भरी तुर्फरीतू’ इत्यादि, उनका क्या समाधान है ? आचार्य ने बताया—

सतः परमविज्ञानम् ॥४९॥

[सतः] होते हुए [परम्] अन्य कारण से जो अर्थ का न होना कहा है, वह [अविज्ञानम्] जानने—अर्थग्रहण करने की अयोग्यता के कारण समझना चाहिए ।

अनेक बार साधारण मन्त्रों के अर्थ भी हृदयंगम नहीं हो पाते । इसके कारण अन्यमनस्कता, आलस्य, प्रमाद आदि विभिन्न रूप सम्भव हैं । जिन पदों के व्याकरण-निरुक्त आदि प्रक्रिया-सुलभ निर्वचन एवं प्रकृति-प्रत्यय आदि का अनायास पता नहीं लगता, उनको प्रौढ़वाद से अनर्थक कह दिया जाता है । वेद के पद को अनर्थक कहना दुस्साहसमात्र है; प्रत्येक पद का कुछ-न-कुछ प्रयोजन रहता है । उदाहृत प्रस्तुत मन्त्र में सब पद सार्थक हैं । यह ऋग्वेद के दशम मण्डल का १०६वाँ सूक्तगत मन्त्र है । इस सूक्त का देवता ‘अश्विनौ’ है, तथा ऋषि का नाम ‘भूतांश’ है ।

‘अश्विनौ’ दो जुड़े (अन्योन्य मिथुनीभूत) ऐसे देवता हैं, जो कभी एक-दूसरे से अलग नहीं हो सकते । यदि अलग होते हैं, तो उनका अस्तित्व ही नहीं रहता । वेद में देवताओं के जोड़े और भी हैं—‘मित्रावरुणौ, अग्नीषोमौ’ आदि । परन्तु ये जोड़े टूटनेवाले हैं । जैसे कहीं ये मिलित रूप में वर्णित हैं, वैसे अलग-अलग भी वर्णित हैं । मित्र, वरुण, अग्नि, सोम का स्तुतिरूप वर्णन अनेक सूक्तों में पृथक् रूप से हुआ है, परन्तु ‘अश्विनौ’ का पृथक् रूप में स्तवन-वर्णन कहीं उपलब्ध नहीं है । यह जोड़ा अटूट है । इस सूक्त का प्रारम्भ ही ‘उभौ’ पद से होता है । दो मिलकर ही ‘अश्विनौ’ इकाई बनती है । सूक्त में इसके सब विशेषण द्विवचनान्त हैं । विशेषज्ञ विद्वानों ने सुझाव दिया है—वेद के ‘अश्विनौ’ आधुनिक विज्ञान के पॉजिटिव-नैगेटिव (Positive, Negative) विद्युत्-सम्बन्ध; तत्त्व हैं, जो सदा मिलकर ही अपने अस्तित्व को बनाये रह सकते हैं; इनका पार्यक्य कल्पनातीत है,

क्योंकि उस दशा में इनका अस्तित्व ही खटाई में पड़ जाता है। इस सूक्त का ऋषि नाम 'भूतांशः' इस कथा की पुष्टि की ओर संकेत करता प्रतीत होता है।

यह नाम 'भूत + अंश' दो पदों का समुच्चय है। विद्युत्-सम्बन्धी विवेचन—वर्णन—स्तवन आधिभौतिक विभाग द्वारा किया जाना सर्वथा उपयुक्त है। इस आधार की छाया में प्रस्तुत ऋचा^१ के प्रतिपद-अर्थ पर विचार कीजिए—

सृण्याऽइव—'सृणि' लोक में अंकुश का नाम है, जो हाथी के विचलित हो जाने पर उसे बश में करने तथा कम चलने पर संचालित करने के उपयोग में आता है। ये सृणि के दो कार्य अथवा दो प्रकार हुए—१. बिखरते-विचलित होते हाथी को अपनी सीमा में खींचकर रखना; २. आगे गति बढ़ाने के लिए धकेलना। यह विशेषण अथवा उपमा 'अश्विनौ' के दो प्रकारों—रूपों को बताता है—पकड़ना और धकेलना जो विद्युत् में स्पष्ट पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त 'सृणि'-पद गत्यर्थक 'सृ' धातु से बना है, जिसका अर्थ है—सरणशील धारारूप में तीव्र-गति से सरकने के स्वभाववाला। विद्युत् की तीव्रगति सर्वविदित है। इस पद में विद्युत् की समता को प्रकट करने का एक अन्य अन्तर्हित भाव है—सृणि—अंकुश का तीक्ष्ण नुकीला होना; विद्युत् की धारा इतनी नुकीली है कि लक्ष्य में प्रवेश के लिए क्षण भी नहीं लगाती।

जर्भरी—यह पद 'जृभ जृभि गात्रविनामे' धातु से बना है। धात्वर्थ है—शरीर का अदृश्य-जैसा होना। विद्युत्-रूप अश्विनौ का शरीर ऐसा ही है। अथवा यह पद 'भृ' धातु से भी सिद्ध होता है, जिसका अर्थ धारण व भरण-पोषण है। विद्युत् के सदुपयोग पर ये विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं।

तुर्फरीत्—हिसार्थक 'तृफ' धातु से यह पद निष्पन्न होता है। विद्युत्-रूप 'अश्विनौ' हिंसक भी हो जाते हैं, मार डालते हैं, वस्तु को भस्म कर डालते हैं। यह तभी होता है, जब इनके उपयोग अथवा स्थिति में किसी प्रकार की न्यूनता हो। ऐसी अवस्था में यह तत्काल अपने विरोधी विजातीय तत्त्व पर प्रभावी होकर उसका विनाश कर देता है। यह धातु 'तृप्ति' अर्थ में भी है। उद्योग आदि द्वारा प्रयोक्ता को सम्पदाओं से भरकर तृप्त भी करता है।

नैतोशाऽइव—यह उपमा-पद है। 'नितोश' धातु वध कर देने अर्थ में प्रयुक्त होता है। वध करनेवाला 'नितोश' कहा जाता है। उसकी क्रिया व उसकी परम्परा

१. ऋचा है—सृण्येव जर्भरी तुर्फरीत् नैतोशेव तुर्फरी पर्फरीका।

उदन्यजेव जेमना मदेरू ता मे जराध्वजरं मरायु ॥

पद-पाठ निम्न प्रकार है—

सृण्याऽइव । जर्भरी । तुर्फरीत् । नैतोशाऽइव । तुर्फरी । पर्फरीका । उदन्य-
जाऽइव । जेमना । मदेरू । ता । मे । जरायु । अजरम् । मरायु ॥

में आनेवाला 'नैतोश' है। तात्पर्य है—वध की क्रिया तथा उसे करनेवाला उक्त पद का वाच्य है। उसके समान हैं, 'अश्विनौ' [ऐतोशा—'शौ' इव]। उसके समान अश्विनौ क्या करते हैं? यह अगले पद से बताया—

तुफरी—इस पद के धातु का निर्देश प्रथम कर दिया है। हिंसा और वध में थोड़ा अन्तर है। न्यूनाधिक चोट-फेंट आदि लग जाना जैसे हिंसा में आता है, वैसे जीवन से सर्वथा रहित कर देना हिंसा का रूप 'वध' है। हिंसार्थक 'तृफ' धातु के वधरूप अर्थ को यहाँ इस पद से—'नैतोशा' (वधकर्त्ता) की उपमा देकर—स्पष्ट किया है। 'अश्विनौ' की यह विशेषता (चोट-फेंट से लेकर वध-पर्यन्त हिंसा कर देने की क्षमता) मन्त्र में दो स्थानों पर समान पद रखकर अभिव्यक्त की है। एक स्थान पर विशेषण-रहित पद है; दूसरे स्थान पर उपमा-सहित विशेषण के साथ।

पर्फरीका—मन्त्र के पूर्वार्द्ध का यह अन्तिम पद है। 'त्रिफला विशरणे' धातु से 'पर्फरीकादयश्च' [४।२०] उणादि सूत्र के अनुसार सिद्ध होता है। 'विशरण' का तात्पर्य होता है—तोड़-फोड़कर बखेर देना, छिन्न-भिन्न कर देना। पहले व्याख्याकारों ने 'शत्रूणां विदारयितारौ' अर्थ किया है। तात्पर्य है—विरोधी वस्तुओं व तत्त्वों को छिन्न-भिन्न कर देना। विद्युत्-रूप 'अश्विनौ' में यह अपना विशेष सामर्थ्य है।

इस पद की सिद्धि 'प पालनपूरणयोः' धातु से भी की जाती है। जो 'अश्विनौ' के स्तोता यथार्थ ज्ञाता एवं सद्गुणोक्ता हैं, उनको ये देवता ऐश्वर्य, सम्पत्तियों एवं विभूतियों से पूर्ण, सम्पन्न करनेवाले हैं। विद्युत्-रूप 'अश्विनौ' की यह क्षमता आज लोकप्रसिद्ध है।

उदन्यजाइव—'उदन्यजौ' पद 'उदक' और 'जनी प्रादुर्भावि' धातु से मिलकर निष्पन्न होता है। 'उदन्य' का अर्थ है उदक—जल में होनेवाला। यह जल में होनेवाली एक क्रियाविशेष है। वैसे अपनी सामान्य गति या प्रसरण—बहावरूप क्रिया जल में रहती है, पर यह क्रियाविशेष उससे भिन्न है, जिसका संकेत ऋचा करती है। वह क्रिया है—सामूहिक रूप में जब जल ऊपर से नीचे की ओर बँधा हुआ गिरता है और एक दबाव (प्रेशर=Pressure) को बनाता है। उस दबाव से उत्पन्न होनेवाले हैं—'अश्विनौ', जो ऋचा में 'उदन्यजा' पद से कहे गये हैं। तात्पर्य है—उदक में होनेवाली क्रियाविशेष से उत्पन्न। 'अश्विनौ' का यह विशेषण-पद उनके वास्तविक स्वरूप व स्थिति को स्पष्ट करता है। पानी के दबाव-रूप सहयोग से उत्पन्न की जानेवाली विद्युत्—हाइड्रो-इलेक्ट्रिसिटी (Hydro Electricity) के आज अनेकों प्लाण्ट (Plant) नहरों और नदियों पर छोटे-बड़े रूप में लगे हैं, जो राष्ट्र की अतुल सम्पत्तियों एवं विभूतियों के लिए अनुपम स्रोत हैं।

जेमना—जेमनी, जयशीली (अश्विनी), सदा विजय की स्थिति में रहने-वाले । तात्पर्य है—ये अन्य पदार्थों पर प्रभावी रहते हैं; अन्य पदार्थ इनपर कोई प्रभाव नहीं डाल पाते ।

मदेरू—अतिशय शक्ति के कारण मत्त, उत्कर्षशील स्थितिवाले; अथवा सदा हृष्ट-पुष्ट अवस्था में रहनेवाले । इस रूप में सदा इनकी स्तुति-प्रशंसा की जाती है । 'अश्विनी' के ये स्वरूप व विशेषताएँ व्यवहार्य विद्युत् में सदा देखे जाते हैं ।

ता—ती—वे अश्विनी । **मे—मम—मेरे** । **जरायु**—जराजीर्ण तथा शिथिल होनेवाले, अतएव, 'मरायु'—मरणशील विनाशी शरीर व जीवन को अजरम्—जरारहित करनेवाले हों ।

प्राचीन भारतीय वाङ्मय में 'अश्विनी' को देवों का चिकित्सक बताया गया है । 'देव' पद का तात्पर्य चाहे विद्वान् समझा जाय, अथवा कोई अदृश्य आधि-भौतिक शक्तियाँ, जो प्राणि-जीवन अथवा विशेष रूप से मानव-जीवन की दीर्घ स्थायिता के लिए महत्त्वपूर्ण प्रयोजक मानी जाती हैं, अश्विनी उन सबके उपकारक हैं । जब 'देव' पद से हमारे सामने विद्वान् आते हैं, तब स्पष्ट है—'अश्विनी' के वास्तविक जानकार, उनकी गतिविधियों को अन्तस्तल तक समझनेवाले मर्मज्ञ विद्वान् उनके सहयोग से अपने विविध रोगों—न्यूनताओं का निवारण कर मानव-जीवन के स्थायित्व, सुविधाओं के वृद्धि के रूप में उत्तम परिणामों को प्रस्तुत करने में समर्थ होते हैं । इस रूप में 'अश्विनी' देवों के स्पष्ट चिकित्सक हैं । इसके विपरीत यदि 'अश्विनी' किसी मूर्ख-अनजान के हाथ पड़ जाते हैं, अथवा ऐसा ही कोई उनसे खिलवाड़ करना चाहता है, तो उसे नष्ट करने में भी वे क्षण नहीं लगाते । 'अश्विनी' के चिकित्सक-रूप को बनाये रखने में विद्वान् ही समर्थ रहता है । अश्विनी को—देवों का चिकित्सक—कहे जाने में यही रहस्य है ।

'देव' पद यदि आधिभौतिक अदृश्य शक्तियों का निर्देशक माना जाता है, तो निस्सन्देह ये 'अश्विनी' अपने निरन्तर व निरवधिक संचार से उन ओषधि-वनस्पति-गत अथवा वातावरणीय शक्तियों को हृष्ट-पुष्ट व जीवनोपयोगी बनाये रखने में महत्त्वपूर्ण योगदान द्वारा अपने चिकित्सक होने के स्वरूप को प्रमाणित करते हैं । भौतिक जगत् में जिस अनवरत अज्ञातप्राय विद्युत्-संचार—मानव-जीवनोपयोगी तत्त्व—अपने सुस्थ-स्वस्थ रूप में सदा अवस्थित रहते हैं, प्रस्तुत मन्त्र द्वारा उसी स्थिति को अभिव्यक्त करने का प्रयास हुआ है । जैसे यह स्थिति प्रच्छन्न एवं अस्पष्ट-सी रहती है, मन्त्र में पदों का प्रयोग भी प्रायः वैसा ही हुआ है ।

अन्य उदाहरण

मन्त्रों को अनर्थक कहनेवाले वादी ने कतिपय अन्य मन्त्रों का उल्लेख किया है उनमें एक यह है—

एकया प्रतिधापिबत् साकं सरांसि त्रिशतम् ।

इन्द्रः सोमस्य काणुका ॥ —ऋ० ८।७७।४

मन्त्र की अनर्थकता दिखाने के लिए व्याख्याग्रन्थों में ऋचा के प्रायः अन्तिम चरण का उल्लेख किया जाता है। उतने अंश के पदों का अपना अर्थ होते हुए भी पदसमूह का कोई उपयुक्त अर्थ नहीं हो पाता, क्योंकि ऋचा के अन्य पदों के साथ सम्बद्ध होकर ही ये पद पूरे अर्थ की अभिव्यक्ति करते हैं। अर्थ की स्पष्टता के लिए पदों का अन्वय इस प्रकार होगा—

इन्द्रः सोमस्य त्रिशतं काणुका सरांसि एकया प्रतिधा साकं अपिबत् ।

लोकभाषा के अनुसार इसका यह अर्थ किया जा सकता है—इन्द्र सोम के भरे तीस कान्तियुक्त कुण्ड एक भटके के साथ, एक-साथ (एक साँस में) पी गया। यह अर्थ स्वतः अटपटा लगता है। इन्द्र कौन है? सोम क्या है? वे तीस कुण्ड या पात्र क्या हैं? कैसे हैं? तीस ही क्यों हैं? न्यूनाधिक क्यों नहीं? यह सब स्पष्ट नहीं होता। कहा जा सकता है—इन्द्र कोई बड़ा मानवाकृति देव है, सोम कोई मद्यसदृश उन्मादकारी पेय पदार्थ है, जो तीस पात्रों में भरा है। इन्द्र उसे एक-साथ एक साँस में पी जाता है। वेदार्थ के साथ वस्तुतः यह मजाक है। इस रूप में कहने को यह भले ही अच्छा लगे, पर साधारण रूप में भी यह व्यवहार्य कदापि नहीं। ऐसे बेसिर-पैर के वेदार्थ को सुनकर निश्चित ही वेद को निरर्थक बताने का साहस उभरकर ऊपर आता है।

मनीषी आचार्यों ने मन्त्र का अर्थ बताया है—वेद में 'इन्द्र' पद प्रायः द्युस्थान सूर्य के लिए प्रयुक्त हुआ माना जाता है। सूक्त के देवता इन्द्र का अपर नाम सूर्य है। सूर्य की नक्षत्रक्रान्ति प्रतिमास होती है। चित्रा नक्षत्र से विशाखा, विशाखा से ज्येष्ठा, ज्येष्ठा से अषाढ़ा आदि। प्रत्येक नक्षत्र में स्थिति का काल प्रायः तीस दिन है। इन दिनों में सूर्य की किरणें और चन्द्रमा की ज्योत्स्ना (जो सूर्य की ही किरणें हैं) ओषधि-वनस्पतियों एवं वातावरण में जीवनी शक्तियों का संचार किया करती हैं; वही सोम है, जो तीस दिन रूपी पात्रों में ओषधि आदि आधार पर भरा जाता है। उतने दिन के अनन्तर वह क्रम एक-साथ एक भटके में समाप्त हो जाता है, जैसे ही सूर्य एक नक्षत्र के क्रान्तिवृत्त को लाँघकर अगले नक्षत्र के वृत्त में दिखाई देने लगता है। यही इन्द्र का त्रिशत पात्रों के सोम का एक-साथ पी जाना है। अगले नक्षत्रकाल के अनुसार सोमनिर्माण (त्रिशत पात्रगत सोमपूर्ति) का कार्यक्रम पुनः प्रारम्भ हो जाता है। सूर्य जब से चमका, और जब तक चमकता रहेगा, यही क्रम चालू रहता है। वह सोम—जीवनी शक्तियाँ 'काणुका' हैं; पूर्ण कान्तियुक्त हैं, उनका उपयोग प्राणी के लिए कान्तिप्रद एवं जीवन का आधार है। यही सब-कुछ प्रस्तुत ऋचा में बताया गया है। इससे मन्त्र की सार्थकता स्पष्ट होती है।

मन्त्र के निरर्थकवादी ने ऐसा एक और मन्त्र प्रस्तुत किया—

अम्यक् सा त इन्द्र ऋष्टिरस्मे सनेम्यम्बं मरुतो जुनन्ति ।

अग्निश्चिच्छिद्यमातसे शुशुक्वानापो न द्वीपं दधति प्रयांसि ॥

—ऋ० १।१६६।३

मन्त्र का पदपाठ इस प्रकार है—

अम्यक् । सा । ते । इन्द्र । ऋष्टिः । अस्मे । सनेमि । अम्बम् । मरुतः । जुनन्ति ।
अग्निः । चित् । हि । स्म । अतसे । शुशुक्वान् । आपः । न । द्वीपम् । दधति ।
प्रयांसि ।

सूक्त का ऋषि अगस्त्य और देवता इन्द्र होने से प्रस्तुत ऋचा के ऋषि-देवता वही हैं। ऋचा में शक्तिशाली सूर्य की मेघवृष्टि के द्वारा स्तुति के साथ उसके सहयोगी मरुतों की भी प्रशंसा की गई है—हे इन्द्र ! तुम्हारी वह प्रसिद्ध शक्ति (ऋष्टि), हम प्राणियों के कल्याण के लिए उपयुक्त स्थान पर पहुँच गई है (=अम्यक्) । मेघों में भरे पुराने (=सनेमि) जलों (=अम्बं) को बरसाने के लिए अब मरुत् भी सन्नद्ध हो गये हैं। जैसे सूखे काष्ठ (=अतसे) में अग्नि दीप्त होता है, ऐसे ही तुम (इन्द्र=सूर्य) विद्युत्-रूप से मेघों में दीप्त होते हो। जल जैसे द्वीप (जलों के मध्य में भूस्थल) को घेरे रहते हैं, ऐसे ही मेघों ने जलों को अपने बीच घेरा हुआ है, धारण किया हुआ है। तुम्हारी शक्ति ने मरुतों के सहयोग से वर्षारूप में उसे पृथिवी पर प्राणियों की सुख-सुविधा के लिए बिखेर दिया है।

ऋतु के अनुसार सूर्य की प्रचण्ड किरण पृथिवी-आवरण के अन्तरिक्षस्थ वातावरण को प्रतप्त कर वर्षोन्मुख बना देती हैं। वैदिक वाङ्मय में 'मरुतः' पद से अन्तरिक्षस्थ अनेक वातावरणों का निर्देश अपेक्षित होता है, जिनकी कुल संख्या ४६ है। परन्तु यहाँ केवल उन मरुतों (वात-आवरणों) का निर्देश अभीष्ट है, जो वर्षा को लाने में सहायक होते हैं। उनको आधुनिक भाषा में मॉनसून (Monsoon) और लौकिक संस्कृत में 'पुरोवात' कहा जाता है। इन्द्र (सूर्य) और मरुतों के सहयोग से वर्षा किस प्रकार होती है, इसी का दिग्दर्शन प्रस्तुत ऋचा द्वारा कराया गया है। ऐसी दशा में मन्त्रों को निरर्थक कहना अपनी अज्ञानता प्रकट करना है। आचार्यों ने बताया—

नैष स्थाणोरपराधो यदेवमन्धो न पश्यति ।

सामने उपस्थित वस्तु को यदि अन्धा नहीं देख पाता तो वह वस्तु का अपराध, दोष नहीं है। मन्त्रार्थ को जानना भी अध्ययन-चिन्तनादिगत प्रयास-सापेक्ष है ॥४६॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—वेद में अनित्य पदार्थों के वर्णन का समाधान क्या है ? आचार्य ने बताया—

उक्तश्चानित्यसंयोगः ॥५०॥

[उक्तः] कह दिया है [च] पूर्व ही [अनित्यसंयोगः] अनित्य पदार्थों के साथ संयोगरूप दोष का समाधान ।

प्रथमाध्यायगत प्रथमाह्निक के 'वेद अपौरुषेय हैं' नामक अन्तिम अधिकरण में 'परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम्' [१।१।३१] सूत्र द्वारा वेदार्थ के विषय में इस आक्षेप का समाधान कर दिया गया है कि वेदमन्त्रों में अनित्य पदार्थों का सम्बन्ध अथवा उनका वर्णन है। जैसे 'प्रावाहृणि' आदि पद व्यक्तिविशेष के वाचक नहीं हैं, ऐसे ही 'कीकट, प्रमगन्द, नैचाशाख' आदि पद किसी देशविशेष अथवा व्यक्ति-विशेष के वाचक नहीं हैं। प्रथम पद साधारणरूप से उन अनार्य व्यक्तियों का बोधक है, जो वैदिक यज्ञ-यागादि धार्मिक कार्यों में आस्था नहीं रखते तथा 'खाओ, पीओ और मस्त रहो' के सिद्धान्त को माननेवाले हैं, कृपण हैं, अन्य की भलाई में पाई खर्च नहीं करना चाहते ।

प्रायः ऐसे लोग आधिक्य से जिस प्रदेश में रहते हों, वह भी 'कीकट' कहा जा सकता है। परन्तु ऋचा में यह अर्थ न होकर पूर्वोक्त सामान्य व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त है ।

'मगन्द' पद कुसीदी—सूदखोर व्यक्ति का बोधक है। मेरे पास दुगुना-तिगुना होकर यह धन वापस आयेगा,—इस भावना से धन देनेवाला व्यक्ति 'मगन्द' कहा जाता है। अत्यधिक सूदखोर तथा सूदखोर-परिवारों में उत्पन्न होनेवाला व्यक्ति 'प्रमगन्द' कहा जाता है ।

'नैचाशाख' पद भी नीच कुलों में उत्पन्न होनेवाले, धर्माचरण से विमुख, कुत्सित प्रवृत्तियों में डूबे व्यक्तियों के सम्बन्ध में प्रयुक्त हुआ है। इन पदों के आधार पर मन्त्रों में अनित्य पदार्थों के संयोग को बताना निराधार है। यह सामान्य कथन है, किसी स्थानविशेष या व्यक्तिविशेष आदि का निर्देश नहीं ॥५०॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—मन्त्रों को निरर्थक बताने में जो आक्षेप किये गये थे, उनका समाधान हो जाने पर, क्या मन्त्रों की अर्थवत्ता में कोई स्वतन्त्र हेतु भी है? आचार्य ने बताया—

लिङ्गोपदेशश्च तदर्थवत् ॥५१॥

[लिङ्गोपदेशः] लिङ्ग=देवताबोधक शब्द का मन्त्र में निर्देश [च] और [तत्] उस मन्त्र के [अर्थवत्] सार्थक होने का बोधक है ।

'आग्नेय्याऽऽग्नीध्रमभिमृशेत्'² [तृ० सं० ३।१।६] अग्निदेवतावाली ऋचा

१. रामेश्वर सरि विरचित 'सुबोधिनी' व्याख्या में सूत्रपाठ 'तदर्थत्वात्' है, अर्थ में कोई विशेष भेद नहीं ।

२. शाबर भाष्य में 'आग्नेय्याऽऽग्नीध्रमुपतिष्ठते' पाठ है। इस आनुपूर्वी के पाठ का मूलस्थान अज्ञात है ।

से आग्नीध्र^१ का स्पर्श करे। जिस ऋचा का स्तोतव्य अथवा प्रतिपाद्य विषय अग्नि देवता है, उस ऋचा से आग्नीध्र के स्पर्श करने का कथन सिद्ध करता है कि मन्त्र सार्थक है। अमुक ऋचा या मन्त्र का देवता—प्रतिपाद्य विषय या स्तोतव्य अग्नि है, यह कथन तभी सम्भव है, जब मन्त्र को सार्थक माना जाय। इसलिए मन्त्र में लिङ्ग अर्थात् देवताबोधक शब्द का उपदेश मन्त्रों की सार्थकता को सिद्ध करता है ॥५१॥

आचार्य ने इसी की सिद्धि में अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

ऊहः ॥५२॥

[ऊहः] ऊह का उपदेश भी मन्त्र के सार्थक होने का बोधक है।

गत सूत्र से 'उपदेशश्च तदर्थवत्' पदों की अनुवृत्ति प्रस्तुत सूत्र में समझनी चाहिए। इसी के अनुसार सूत्रार्थ निदिष्ट है।

इस प्रसंग में 'ऊह' का समझना आवश्यक है। वैदिक कर्मकाण्ड में याग 'प्रकृतियाग' और विकृतियाग' नाम से दो भागों में विभक्त कहे जाते हैं। 'प्रकृति-याग' बड़े याग हैं; उन्हीं के अवान्तर होनेवाले अनेक अनुष्ठान 'विकृतियाग' कहे जाते हैं। अवान्तर यागों में होनेवाली अनेक क्रियाओं का वहाँ निर्देश नहीं होता, पर वे अनुष्ठित की जाती हैं। निर्देश न होने की दशा में यह व्यवस्था है कि प्रकृति के अनुरूप वह विकृति में कर लिया जाय—'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या'। परन्तु ऐसा करने में कभी असामञ्जस्य उपस्थित हो जाता है, जैसे—ज्योतिष्टोम प्रकृतियाग में अग्निषोमीय पशु-सम्बन्धी मन्त्र है—'अन्वेनं मातानुमन्यतामनु पितानु भ्राता सगन्धोऽनु सखा सयूध्यः' [तै० ब्रा० ३।६।६]। जब किसी विकृति में 'बहुपशुकयाग' होता है, तब प्रकृतियाग के अनुरूप पूर्वोक्त मन्त्र का ही उच्चारण करना प्राप्त होता है। परन्तु उस दशा में एक असामञ्जस्य सामने आता है। वह है—प्रकृतियाग में सामान्य रूप से पशु एक है, उसके अनुसार मन्त्र में 'एनं, माता, पिता, भ्राता' आदि एकवचनान्त पद उपयुक्त हैं; परन्तु विकृति में पशु अनेक होने से एकवचनान्त पद का प्रयोग असामञ्जस्यपूर्ण होगा। तब 'ऊह' का अवसर आता है—मन्त्रगत एकवचनान्त पदों के स्थान पर बहुवचनान्त पदों—'एनान्, मातरः, पितरः, भ्रातरः, सखायः' का ऊह कर लेना चाहिए। इस प्रकार 'ऊह' का स्वरूप हुआ—प्रकृतिगत मन्त्र का विकृति में प्रयोग होने पर, विकृति-विषयक अर्थ

१. उत्तरवेदिके दक्षिण में चात्वाल-संज्ञक स्थान की मृत्तिका से एक हाथ चौकोर चार हाथ ऊँचा जो स्थान बनाया जाता है, वह आग्नीध्र खर कहाता है। (श्रौत पदार्थ निर्वचन, पृ० १५४, सन्दर्भ १६७ की अन्तिम दो पंक्तियाँ, यु० मी०)।

के अनुरूप पदों का मन्त्र में प्रक्षेप करना। परन्तु आचार्यों ने इस प्रसंग में 'ऊह' का निषेध किया है। प्राप्त का ही निषेध होता है (प्राप्ती सत्यां निषेधः) इस व्यवस्था के अनुसार 'ऊह' की प्राप्ति उसी दशा में सम्भव है, जब मन्त्रगत पदों को सार्थक माना जाता है। अन्यथा ऊह और उसके निषेध का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार ऊह का उपदेश मन्त्र की सार्थकता को सिद्ध करता है।

इसी प्रकार प्रकृतियाग दर्श-पौर्णमास में आग्नेय हवि के निर्वाप (आहुति-दान के लिए हवि का तैयार करना आदि) का विधान है; उसके लिए विनियुक्त मन्त्र का भाग है—'अग्नये जुष्टं निर्वपामि' [तै० सं० १।१।४]। दर्श-पौर्णमास की विकृति में ब्रह्मवर्चस्काम के लिए सौर्येष्टि का विधान है—'सौर्यं चरं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चस्कामः'^१। 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या' इस व्यवस्था के अनुसार सौर्येष्टि में प्रकृतिगत 'अग्नये जुष्टं निर्वपामि' मन्त्र प्राप्त होता है। प्रकृति में अग्निदेवताक पुरोडाश-निर्वाप के लिए 'अग्नये' पद अर्थ के अनुरूप है। परन्तु विकृति सौर्येष्टि में सूर्य देवता होने के कारण 'अग्नये' पद अर्थानुरूप नहीं है। ऐसी स्थिति में मन्त्र को सौर्येष्टि के अनुरूप बनाने के लिए 'अग्नये' पद के स्थान में 'सूर्याय' पद का प्रक्षेप किया गया जाता है। यही 'ऊह' है। इसके अनेक भेदों में एक 'विभक्ति-ऊह' अथवा 'वचन-ऊह' है, जहाँ विभक्ति अथवा वचन का परिवर्तन हो जाता है। प्रस्तुत प्रसंग में पहला उदाहरण—'अन्वेनं मातानुमन्यताम्' इत्यादि 'वचन-ऊह' का है, जिसमें एकवचन का बहुवचन में परिवर्तन किया जाता है। ऊह की कल्पना मन्त्र को सार्थक माने बिना सम्भव नहीं, अतः ऊह का निर्देश मन्त्र की अर्थवत्ता को सिद्ध करता है ॥५२॥

आचार्य ने इसी की पुष्टि में अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

विधिशब्दाश्च ॥५३॥

[विधिशब्दाः] विधिशब्द [च] भी मन्त्रों की सार्थकता के साधक हैं।

किसी अर्थतत्त्व का विधान करनेवाले शब्द प्रायः मन्त्रों के व्याख्यानभूत होते हैं अथवा उसी अर्थ का अनुवाद करते हैं, जो मन्त्रों द्वारा विवक्षित व उपपादित होता है। जैसे—'शतं हिमाः' [यजु० ३।१८] मन्त्र के पदों का अर्थ करते हुए कहा—'शतं हिमाः शतं वर्षाणि जीव्यास्म—इत्येतदेवाह'^३ मन्त्र के 'शतं हिमाः'

१. पुरा मन्त्र है—'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनो ब्रह्म्यां पूषणो हस्तान्यामग्नये जुष्टं निर्वपामि।'

२. सौर्यं धृते चरं निर्वपेत् शुक्लानां ब्रीहीणां ब्रह्मवर्चस्कामः। मै० सं० २।२।२॥ यो ब्रह्मवर्चस्कामः स्यात्, तस्मा एतं सौर्यं चरं निर्वपेत्। तै० सं० २।३।२॥

३. श० ब्रा० [२।३।४।२१] में पाठ है—'शतं हिमाः' इति शतं वर्षाणि जीव्यास्म—इत्येवंतदेवाह। [तै० सं० १।५।८] में पाठ है—'यथा यजुरेवंतत्—'शतं हिमा' इत्याह—शतं त्वा हेमन्तान् इन्धिषीय, इति।'

इन पदों से यही कहा गया है कि मैं सौ वर्ष तक जीवित रहूँ । यहाँ विधिशब्द यह स्पष्ट करते हैं कि 'शतं हिमाः' मन्त्रपदों का अर्थ है—सौ वर्ष तक जीवित रहने की आशा करना । इससे मन्त्रों की सार्थकता सिद्ध होती है ।

इस यजुर्मन्त्र का विनियोग आहवनीय अग्नि के उपस्थान में बताया गया है । उसी के अनुसार पूर्व-टिप्पणी में दिया तैत्तिरीय संहिता के एतद्विषयक पाठ में बताया—'शतं हिमाः' मन्त्र यह कहता है कि मैं (यजमान) तुझ अग्नि को सौ हेमन्त (ऋतु पर्यन्त, अर्थात् सौ वर्ष) तक प्रदीप्त रखूँ । संहिता के ये विधिशब्द यजुर्मन्त्र की अर्थवत्ता का बोध कराते हैं ।

गत विस्तृत प्रसंग से—कौत्स आदि याज्ञिकों के—मन्त्र-निरर्थकताविषयक विचारों का विवेचन कर आचार्य सूत्रकार ने यह स्थापित किया कि मन्त्र सार्थक हैं, एवं मानवमात्र के चतुरस्र अभ्युदय का निर्देशन करते हैं ॥५३॥

इति जैमिनीय मीमांसादर्शन-विद्योदयभाष्ये

प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

अथ प्रथमाध्याये तृतीयः पादः

(स्मृतिप्रामाण्याधिकरणम्—१)

गत अधिकरण में वेद एवं वैदिक वाङ्मय के प्रामाण्य का निरूपण किया गया; अब स्मृति के प्रामाण्य का निरूपण प्रस्तुत है। जिस क्रियानुष्ठान आदि के विषय में कोई वैदिक शब्द विधायक उपलब्ध नहीं होता, परन्तु स्मृतिकार उसका विधान करते हैं—अमुक अनुष्ठान इस प्रकार किया जाना चाहिए, इसका यह प्रयोजन है—इत्यादि रूप में जो स्मृति-कथन उपलब्ध होते हैं, उनके प्रामाण्य का विचार करना अपेक्षित है। उन अनुष्ठानों को क्या उसी प्रकार किया जाय जैसे वे स्मृति में कथित हैं, अथवा उन्हें अवैदिक होने से उपेक्षित किया जाए? उन क्रियानुष्ठानों में कतिपय उदाहरणार्थ निम्नलिखित हैं—अष्टका-संज्ञक कर्म करना चाहिए; गुरु का अनुगमन करना—उसकी आज्ञानुसार चलना चाहिए; तालाब का निर्माण कराना चाहिए; प्याऊ बँठानी चाहिए; क्षौर कर्म कराना चाहिए—इत्यादि ऐसे कर्तव्य हैं, जिनका विधान वेद-शब्दों में उपलब्ध नहीं है, पर लोक में ये सब कर्म अभीष्ट माने जाते हैं और केवल स्मृति-विहित हैं।

इस विषय पर ऊहापोहपूर्वक विवेचन की भावना से सूत्रकार ने प्रथम पूर्व-पक्ष सूत्र कहा—

धर्मस्य शब्दमूलत्वादशब्दमनपेक्षं^१ स्यात् ॥१॥

[धर्मस्य] धर्म के [शब्दमूलत्वात्] शब्दमूलक=वेदमूलक होने से [अशब्दम्] जो कर्म अशब्द—शब्दमूलक—वेदमूलक नहीं है, वह [अनपेक्षम्] अनपेक्षित—अनावश्यक—अकर्तव्य [स्यात्] है।

लोककर्त्ता मार्गदर्शक आचार्यों ने बताया है—‘वेदोऽखिलो धर्ममूलम्’ [मनु० २।६] धर्म का मूल सम्पूर्ण वेद है। जब धर्म का मूल आधार वेद को माना गया, तो जो कर्म वेदप्रतिपादित नहीं है, उसे कर्तव्य—आचरण के योग्य नहीं माना जाना चाहिए। स्वयं सूत्रकार ने प्रारम्भ [१।१।२] में ही निर्देश किया है—वेद

१. ‘स्मृतिप्रामाण्यम् । अधि० १ ।’ सुबोधिनीवृत्ति का पाठ ।

२. सुबोधिनीवृत्ति में ‘अनपेक्ष्यं’ पाठ है। अर्थ में कोई विशेष अन्तर नहीं ।

जिस कर्म की प्रेरणा देता है, वही धर्म है। धर्म का आचरण करना मानव का श्रेष्ठ कर्तव्य है।

यदि कहा जाय—इन कर्मों के अनुष्ठाता उनकी पद्धति आदि को यथावत् जानते हैं और वह सब परम्पराप्राप्त है, तब उसके प्रामाण्य को क्यों न मान लिया जाय ? यह कहना युक्त न होगा। क्योंकि किसी कर्म और उसके अनुष्ठान की पद्धति का जानना तथा उसकी परम्परा का चालू रहना, उसके प्रामाण्य के प्रयोजक नहीं माने जा सकते। जानकारी और परम्परा अच्छे-बुरे दोनों प्रकार के कार्यों की हो सकती है। चोर चोरी करने की और डकैत डाका डालने की पद्धतियों के अच्छे जानकार होते हैं; यह परम्परा भी पुरानी है; फिर भी इसे धर्म नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह वैदिक शब्द से प्रेरित नहीं है। अष्टका-संज्ञक आदि कर्म भी इसी प्रकार के हैं; अतः अवैदिक होने से कर्तव्य-कर्म की श्रेणी में उन्हें नहीं माना जाना चाहिए। अच्छे-बुरे अथवा कर्तव्य-अकर्तव्य का विवेचन वेद-शब्द पर ही आधारित है।

वेद में अपठित अष्टका नामक आदि कर्मों के परम्परानुगत अनुष्ठाताओं की स्मृति (अनुभवजन्य स्मरण—क्रमानुगत याददाश्त) के आधार पर भी—वेद की अविच्छिन्न परम्परा के समान—इनका प्रामाण्य स्वीकार किया जाना युक्त न होगा। क्योंकि ऐसी स्मृति का होना अनुभव के अभाव में सर्वथा असम्भव है। वेद की अविच्छिन्न परम्परा का उदाहरण इस प्रसंग में अनुपयुक्त है; क्योंकि वेदग्रन्थों की विद्यमानता में उनका अनुभव और तज्जन्य स्मृति का होना सम्भव है; परन्तु अष्टका कर्म और उसकी पद्धति आदि के विधायक वेद शब्द का अभाव होने से उसके अनुभव का प्रश्न ही नहीं उठता, तब उसकी स्मृति का होना कैसे सम्भव है ? यह ऐसा ही कथन है, जैसे कोई जन्मान्ध कहे कि मुझे फूल के सुन्दर रूप का स्मरण है। अथवा वन्ध्या अपना स्मरण बताये—यह मेरे दौहित्र (लड़की के लड़के) का किया हुआ कार्य है। फलतः वेद में अपठित अष्टका-संज्ञक आदि कर्मों का प्रामाण्य संदिग्ध ही समझना चाहिए ॥१॥

आचार्य सूत्रकार ने उक्त आक्षेप का समाधान किया—

अपि वा कर्तृसामान्यात् प्रमाणमनुमानं स्यात् ॥२॥

[अपि वा] पद पूर्वपक्ष के निराकरण का निर्देश करते हैं, अर्थात् स्मार्त कर्म अप्रमाण नहीं है। हेतु दिया—[कर्तृसामान्यात्] कर्त्ता—अनुष्ठाताओं के समान होने से [प्रमाणम्] प्रमाण है, स्मार्त कर्म। इससे इसके मूलभूत शब्द का [अनुमानम्] अनुमान [स्यात्] होता है।

स्मार्त कर्म वे हैं, जो केवल स्मृति-प्राप्त हैं। 'स्मृति' पद के यहाँ दो अर्थ हैं—
१. वेदानुयायी धर्मशास्त्र; २. स्मरण। कतिपय स्मार्त कर्म वे हैं, जिनका प्रेरणार्थक

वैदिक पद से साक्षात् विधान उपलब्ध नहीं होता, परन्तु स्मृतिरूप सूत्रग्रन्थों— (श्रौत, गृह्य, कल्प, धर्मसूत्रों) में उल्लेख किया गया है। ऐसे स्मार्त कर्म पहले विभाग में आते हैं, क्योंकि ये ग्रन्थ वेदानुगामी हैं, तथा उन अनुष्ठाताओं द्वारा ही इनका अनुष्ठान किया जाता है, जो साक्षात् प्रेरक वैदिक शब्द द्वारा विहित कर्मों का अनुष्ठान करते हैं। इस आधार पर इन स्मार्त कर्मों का प्रामाण्य मानना चाहिए; और इनके मूलभूत प्रेरक वैदिक पदों का अनुमान कर लेना चाहिए। वे पद इन कर्मों के प्रारम्भ होने के समय रहे होंगे, पर अब सम्भवतः अध्येताओं आदि के आलस्य-प्रमाद आदि के कारण विस्मृत हो चुके हैं।

अन्य कतिपय स्मार्त कर्म ऐसे संभव हैं, जिनका उल्लेख सूत्रग्रन्थों में भी नहीं है, जो केवल स्मरण के आधार पर परम्परा द्वारा चले आ रहे हैं क्योंकि इनके भी अनुष्ठाता वे ही व्यक्ति हैं, जो वैदिक कर्मों के अनुष्ठाता हैं, अतः 'कर्त्तृ सामान्य' के आधार पर इनका प्रामाण्य भी स्वीकार किया जाना चाहिए, तथा इनके भी प्रेरक वैदिक वाक्यों के अस्तित्व का अनुमान कर लेना चाहिए, जो वाक्यसमूह आज अध्येताओं के आलस्य-प्रमाद तथा उन कुलों के नष्ट हो जाने से लुप्त हो चुका है।

इसमें सन्देह नहीं कि समय-समय पर अनेक तात्कालिक कारणों से बहुसंख्य वैदिक ग्रन्थों का विलोप हुआ है, जो आज नाममात्र शेष हैं, तथा अनेकों के नाम का भी पता नहीं। परन्तु इस वैदिक वाङ्मय के विनाश की आड़ में चाहे जिस वाद के लिए वैदिक आधार ढूँढने या कहने की कल्पना करना सर्वथा अनुचित है।^१

१. वस्तुतः केवल स्मरण-परम्परा के आधार पर अनुष्ठेय स्मार्त कर्मों के प्रामाण्य का कोई औचित्य नहीं है। "आज के वैदिकों में अनेक कर्म ऐसे व्यवहृत हैं जिन्हें वे दृढ़तर स्मरण के आधार पर अनुपलब्ध श्रुतिमूलक मानते हैं। उदाहरण के लिए मूर्तिपूजा को ही लीजिए। मूल वेद, शाखायें, ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषद् और श्रौत-गृह्य-धर्मसूत्ररूप जितना वैदिक वाङ्मय है, इनके परिशिष्ट भागों को छोड़कर, मूलग्रन्थों में कहीं भी मूर्तिपूजा के विधान का लेशमात्र भी नहीं है। दर्शनशास्त्रों में भी इसकी गन्ध तक नहीं है। फिर भी साम्प्रतिक विद्वान् इसे वैदिक कर्म मानते हैं। यहाँ तक कि अद्वैतवादी, जिनके मत में जगत् भी मिथ्या है, तथा नवीन संन्यासी जिनके लिए सन्ध्या-अग्निहोत्रादि वैदिक कर्म भी अकर्त्तव्य हो जाते हैं, विशेष करके शांकरमता-नुयायी संन्यासी भी मूर्तिपूजा में लिप्त देखे जाते हैं। क्या इन लोगों का दृढ़तर स्मरण मूर्तिपूजा के प्रामाण्य-बोधन में प्रमाण हो सकता है? हमारा अपना मत है कि इस हेतु में यदि वैदिक ग्रन्थों के अन्तिम प्रवचन की सीमा स्वीकार कर ली जाए, तो केवल एक पशुयाग को छोड़कर समस्त विवादग्रस्त मन्तव्य स्वयं अप्रमाण हो जाते हैं। इस प्रवचन में शाखाओं, ब्राह्मणग्रन्थों एवं कल्पसूत्रों के परिशिष्ट की गणना त्याज्य होगी, क्योंकि वे मूलग्रन्थ के भाग नहीं हैं।" [यु० मी०]

अष्टका-संज्ञक कर्म का उल्लेख गृह्यसूत्रों में उपलब्ध है। आश्वलायन गृह्य-सूत्र [२।४।१] में पाठ है—‘हेमन्तशिशिरयोश्चतुर्णामपरपक्षाणामष्टमीषट्काः ।’ कौषीतकि गृह्यसूत्र में पाठ है—‘ऊर्ध्वमाश्रहायण्यास्तिस्रोऽष्टमीष्वष्टकास्वपर-पक्षेषु ।’ इसके अनुसार अगहन की पौर्णमासी के अनन्तर (अमान्त मास के क्रम से) अगहन-पौष-माघ-फागुन महीनों के कृष्ण पक्ष की चार अष्टमी तिथियों में इस कर्म का अनुष्ठान किया जाता है। दर्श-पौर्णमास के अन्तर्गत निर्दिष्ट पितृयज्ञ के समान यह एक पितृकर्म है। उणादि कोष [३।१४८] सूत्र की व्याख्या में ऋषि दयानन्द ने ‘अष्टका वैदिककर्मविशेषो वा’ लिखकर स्पष्ट किया कि यह एक वैदिक कर्म है। इसका उल्लेख अन्य गृह्यसूत्रों में भी उपलब्ध होता है। ‘अष्टका’ देवतावाला एक सूक्त [३।१०] अथर्ववेद में उपलब्ध है। ऐसे वेदानुसारी कर्मों का प्रामाण्य स्वीकार किया जाना चाहिए, भले ही उनके प्रेरक वैदिक वाक्य सम्प्रति उपलब्ध न होते हों। इसी प्रकार गुरु-अनुगमन, तड़ाग-निर्माण, प्रपा-प्रवर्तन (प्याऊ बैठाना) आदि के विषय में समझना चाहिए।

गुरु-अनुगमन—यह एक शिष्टाचारमूलक व्यवस्था है। इसका दृष्ट प्रयोजन है। इससे कोई अपूर्व धर्म की उत्पत्ति होती हो, ऐसा एकान्त कथन नहीं है। गुरु का अनुसरण, गुरु की आज्ञा का पालन करना, उसके प्रति निष्ठापूर्ण आदर-भाव रखना, स्वयं को विनयसम्पन्न बनाना आदि गुरु की प्रसन्नता के ये कारण होते हैं। प्रसन्न गुरु शास्त्र की गहन ग्रन्थियों को शिष्य के लिए स्पष्ट कर देता है, यह दृष्ट प्रयोजन है। यही इसके प्रामाण्य का आधार है।

यदि यहाँ ‘गुरु’ पद का अर्थ वृद्धजन (बुजुर्ग) समझा जाता है, तो भी इनके अनुसरण से प्रयोजन में कोई विशेष अन्तर नहीं आता। वृद्धजनों के अनुसरण का दृष्ट प्रयोजन मनु के कतिपय श्लोकों से स्पष्ट होता है—

ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति धूनः स्यविर आयति ।

प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिपद्यते ॥२।१२०॥

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।

चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम् ॥२।१२१॥

वृद्धजन को आते देखकर युवावर्ग के प्राण बाहर निकलने लगते हैं; पर उनके प्रति आदरभाव से खड़े हो जाने और अभिवादन कर लेने से फिर वापस आ जाते हैं।

अभिवादनशील और वृद्धोपसेवी व्यक्ति को चार फलों की प्राप्ति होती है—आयु, विद्या, यश और बल। यह गुरु एवं वृद्धजनों के अनुसरण का दृष्ट प्रयोजन स्पष्ट है। इन कर्मों के प्रामाण्य का यही आधार है। भारतीय समाज में साधारण शिष्टाचार की यह एक व्यवस्था रही है।

इसी प्रकार तड़ाग-निर्माण, प्रपा-प्रवर्तन आदि के भी दृष्ट प्रयोजन सर्वजन-

विदित हैं। शिखा-कर्म अथवा चूडाकर्म एक वर्णाश्रमगत शास्त्रानुकूल सामाजिक धर्म है। वह वर्ण एवं आश्रम की स्थिति को प्रकट करता है।

प्रस्तुत सूत्र के 'कर्तृसामान्यात्' हेतु पद का महत्त्व केवल इस आधार पर नहीं समझना चाहिए कि कर्त्ता—वैदिक कर्मों के अनुष्ठाता हैं, वे ही स्मार्त कर्मों के हैं, अतः स्मार्त कर्मों का प्रामाण्य स्वीकार्य माना जाय; क्योंकि वैदिक कर्मों का अनुष्ठाता भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा आदि दोषों के कारण ऐसे कर्मों का अनुष्ठाता भी हो सकता है, जो वाञ्छनीय अथवा अभिनन्दनीय नहीं कहा जा सकता, तथा जिसके लिए कोई मूलभूत दृढ़ आधार उपलब्ध नहीं। इसलिए 'कर्त्ता' की समानता का आधार वैदिक कर्मानुष्ठाता के साथ न जोड़कर स्मृति-ग्रन्थों (श्रौत, गृह्य, कल्प, धर्मसूत्रों) के प्रवक्ताओं के साथ जोड़ना अधिक उचित-उपयुक्त व निर्दोष होगा।

इस विचार में वेद और स्मृतियों के प्रतिपाद्य विषय की समानता अभिव्यक्त होती है, जिससे वेद के स्वतःप्रामाण्य की छाया में वेदानुसारी स्मृतिरूप वैदिक वाङ्मय का प्रामाण्य सुस्पष्ट होता है। गौतमीय न्यायसूत्र के भाष्यकार वात्स्यायन मुनि ने प्रसंगवश भाष्य में दो स्थलों पर इसका संकेत किया है। भाष्यकार का लेख है—

१. द्रष्टृप्रवक्तृसामान्याच्चाऽनुमानम् । य एवाप्ता वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्च त एवायुर्वेद प्रभृतीनाम् ॥२॥१।६८॥

२. द्रष्टृप्रवक्तृसामान्याच्चाप्रामाण्यानुपपत्तिः । य एव मन्त्रब्राह्मणस्य द्रष्टारः प्रवक्तारश्च ते खल्वितिहासपुराणस्य धर्मशास्त्रस्य चेति ॥

—४।१।६२॥

द्रष्टा और प्रवक्ता के समान होने से स्मृतिवाङ्मय के प्रामाण्य का अनुमान किया जाता है। जो साक्षात्कृतधर्मा ऋषि वेदार्थ के द्रष्टा हैं, वे ही आयुर्वेद, श्रौत-धर्मसूत्र आदि के प्रवक्ता हैं। वेदार्थ का गम्भीर अध्ययन करने के अनन्तर लोकोपकार की भावना से विभिन्न आप्तपुरुषों ने विविध विषयों को लक्ष्य कर ग्रन्थों का प्रवचन किया। वेद परब्रह्म परमात्मा का ज्ञान होने से स्वतः प्रमाण है। उस ज्ञान को आत्मसात् कर ऋषियों ने श्रौत, गृह्य आदि स्मृति-वाङ्मय का प्रवचन किया, अतः वेदमूलक होने से इसका प्रामाण्य है। वेदार्थ के द्रष्टा तथा स्मृतिवाङ्मय के प्रवक्ताओं के समान होने से स्मृतिवाङ्मय का अप्रामाण्य अनुपपन्न है। श्रौत-स्मार्त कर्मों के प्रामाण्य का यही मुख्य आधार है। इसी भावना की छाया में सूत्रार्थ को समझने का प्रयास प्रामाणिक होगा। वात्स्यायन मुनि ने शब्द-प्रामाण्य के लिए आप्तोक्तता पर ही बल दिया है। उसकी चरम-सीमा परब्रह्म परमात्मा है, यह स्पष्ट किया है ॥२॥ (इति स्मृतिप्रामाण्याधिकरणम्—१)

(श्रुतिविरोधे' स्मृत्यप्रामाण्याधिकरणम्—२)

शिष्य जिज्ञासा करता है—जहाँ श्रुति के साथ स्मृति का विरोध हो, वहाँ स्मृति के प्रामाण्य का क्या आधार होगा ? आचार्य ने समाधान किया—

विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम् ॥३॥

[विरोधे] श्रुति-स्मृति का परस्पर विरोध होने पर [तु] तो [अनपेक्ष्यम्] अपेक्षा—आदर के योग्य नहीं, अर्थात् अप्रमाण [स्यात्] होती है—स्मृति । [असति] विरोध न होने पर [हि] निश्चयपूर्वक [अनुमानम्] अनुमान कर लिया जाता है—स्मृतिमूलक श्रुति का ।

जहाँ श्रुति-स्मृति का परस्पर विरोध हो, वहाँ स्मृति अनादरणीय है, अप्रमाण है । यदि स्मृति का श्रुति के साथ कहीं कोई विरोध नहीं है, तो स्मृति के श्रुति-मूलक प्रामाण्य के लिए सम्प्रति अनुपलब्ध श्रुति की सम्भावना मान ली जाती है । ऐसी स्मृति का प्रामाण्य अक्षुण्ण रहता है ।

व्याख्याकारों ने इस विषय के कतिपय उदाहरण प्रस्तुत किए हैं, परन्तु उनमें अनेक का मूल वर्तमान वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध नहीं है । एक उदाहरण है—'औदुम्बरीः सर्ववेष्टनम्' उदुम्बर—गूलर की शाखा को कपड़े से पूरा लपेट देना चाहिए; यह याज्ञिकों की स्मृति के आधार पर है । सोमयाग के अन्तर्गत मण्डप के मध्य यजमान-प्रमाण एक गूलर की शाखा गाड़ी जाती है । उसका भूमिगत भाग यजमान-प्रमाण से कुछ अधिक रहता है ।^१ उसपर पूरा कपड़ा लपेटने की प्रथा केवल याज्ञिकों के स्मरण के आधार पर है । इसके लिए कोई वैदिक वचन उपलब्ध नहीं । परन्तु अन्य वैदिक वचन—'औदुम्बरीं स्पृष्ट्वा उद्गायेत्'^२ उसके विरुद्ध जाता है । औदुम्बरी शाखा का स्पर्श करते हुए उद्गाता सामगान करे । शाखा का कपड़े से लपेटे जाने पर—स्पर्श किया जाना सम्भव नहीं । अतः साक्षात् स्पर्शविधि के साम्मुख्य में 'कपड़े से लपेटे जाना' स्मृतिप्राप्त कथन अनादरणीय हो जाता है । शाखा-पर्यवेष्टन स्मृतिमूलक श्रुति की कल्पना, अथवा सम्भावना की अपेक्षा साक्षात् पठित स्पर्शविधि बलवान् होने से स्मृतिबोधित कार्य अप्रमाण हो जाता है ।

इसी प्रकार का अन्य उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है—सोमयाग में दीक्षित यजमान के अन्न का ग्रहण करना साधारण रूप से निषिद्ध है—'तस्माद्वा एतस्यान्न-

१. सुबोधिनी व्याख्या में 'श्रुतिप्राबल्यम् । अधि० २' पाठ है ।

२. इसका विधि-विधान द्रष्टव्य है—कात्या० श्रौ० सू०, ८।१।२६॥

३. वर्तमान वैदिक वाङ्मय में यह वाक्य उपलब्ध नहीं, परन्तु शबर स्वामी आदि व्याख्याकारों ने इसे श्रुतिवाक्य बनाया अथवा माना है ।

मनाद्यम् (०मन्नाद्यम्)' [मै० सं०, ३।६।७] । उसके अपवादरूप में याज्ञिक स्मरण के आधार पर व्यवस्था है—'क्रीतराजको भोज्यान्ः'—जब यजमान सोम-राजा का क्रय कर ले, तब उसके अन्न का ग्रहण किया जा सकता है। सोमक्रय यजमान के दीक्षित होने से दूसरे दिन हो जाता है। परन्तु इसके विपरीत—'तस्मादाग्नीषोमीये संस्थिते यजमानस्य गृहे अशितव्यम्' [मै० सं० ३।७।८] श्रुति के अनुसार दीक्षा से चौथे दिन होनेवाले अग्निष्टोमीय कर्म के अनन्तर यजमान के घर अन्न-ग्रहण की अनुमति दी गई है। स्पष्ट ही इससे स्मार्त-व्यवस्था का विरोध है। उस (स्मार्त) व्यवस्था के अनुसार दीक्षा के दूसरे दिन यजमान के घर अन्न-ग्रहण किया जाना प्राप्त होता है; साक्षात् श्रुति [मै० सं० ३।७।८] के आधार पर चौथे दिन। इस प्रकार श्रुति के विरोध में स्मृति अनादरणीय-अप्रमाण है।

ऐसे स्थलों में विधि के विकल्प की सम्भावना नहीं की जा सकती कि चाहे दूसरे दिन अन्न-ग्रहण कर ले, चाहे चौथे दिन। विकल्प वहीं सम्भव होता है, जहाँ समानबल श्रुति उपलब्ध हों। जैसे 'ब्रीहिभिर्यजेत, यवैर्यजेत' ब्रीहि से याग करे, जौ से याग करे। यहाँ तुल्यबल श्रुति होने से विकल्प मान्य है।^१ यथोपलब्ध ब्रीहि अथवा जौ से याग किया जा सकता है। पूर्व-प्रसंग में ऐसा नहीं है; क्योंकि वहाँ स्मार्त व्यवस्था की मूलभूत श्रुति की कल्पना, साक्षात् पठित श्रुतिबोधित विधि व व्यवस्था से बाधित हो जाती है। फलतः श्रुति-विरोध में स्मृति का अप्रमाणित होना निश्चित है ॥३॥

श्रुति के विरोध में स्मृति के अप्रामाण्य के लिए सूत्रकार ने अन्य निमित्त प्रस्तुत किया—

हेतुदर्शनाच्च ॥४॥

[हेतुदर्शनात्] हेतु देखे जाने से [च] भी, श्रुति के विरोध में स्मृति अप्रमाण है।

इस विषय में प्रथम उदाहरण दिया गया है—औदुम्बरी शाखा का पूर्णरूप में कपड़े से लपेटा जाना। सम्भव है, कपड़े के लोभी किन्हीं याज्ञिकों ने यह प्रथा प्रारम्भ की; उसी ने कालक्रम से स्मृति का रूप धारण कर लिया। कपड़े के लोभ में उन्होंने यह न सोचा कि ऐसी स्थिति में श्रुति-बोधित शाखा-स्पर्श कैसे सम्भव

१. इस आशय की भावना मनुस्मृति [२।१४] में अभिव्यक्त की है—

श्रुतिद्वेषं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावभौ स्मृतौ।

उभावपि हि तौ धर्मौ सम्यगुक्तौ मनीषिभिः ॥

जहाँ दो प्रकार की श्रुति उपलब्ध हों, वहाँ दोनों धर्मों को मननशील आचार्यों ने ठीक बताया है।

होगा ? ऐसे स्मार्त कर्म का हेतु लोभ हो सकता है।

इसी प्रकार किन्हीं क्षुधात यज्ञिकों ने दीक्षा के दूसरे ही दिन सोमक्रय-विधि के अनन्तर यजमान का अन्न ग्रहण कर लिया; उसी को स्मार्त कर्म का रूप मिल गया। चौथे दिन अग्निष्टोमीय कर्म के अनन्तर श्रुतिबोधित यजमान-अन्न के ग्रहण की अनुज्ञा को उपेक्षित कर दिया। यहाँ भी स्मार्त कर्म का हेतु क्षुधात होना सम्भव है। इन निमित्तों से श्रुति-बोधित कर्तव्य की उपेक्षा किया जाना सम्भव है। अतः श्रुति के साम्मुख्य में इन तात्कालिक निमित्तों के आधार पर उभारे गये स्मार्त कर्म सर्वथा अमान्य हैं।

तृतीय पाद के इन प्रारम्भिक दो अधिकरणों में श्रुत्यनुसारिणी स्मृति का प्रामाण्य तथा श्रुतिप्रतिगामिनी स्मृति का अप्रामाण्य बताया गया है। परन्तु इसके अतिरिक्त मन्त्र तथा उसके व्याख्यानभूत ब्राह्मण एवं संहिता-ग्रन्थों का परस्पर विरोध-अविरोधमूलक अप्रामाण्य तथा प्रामाण्य का विवेचन भी इन अधिकरणों का प्रतिपाद्य विषय सम्भव है। पहले विवेचन में 'श्रुति' और 'स्मृति' पदों से क्या विवक्षित है, वहाँ स्पष्ट कर दिया गया है। प्रस्तुत विवेचन में 'मन्त्र' एक कोटि है, जो 'श्रुति'-पदबोध्य है। दूसरी कोटि ब्राह्मण तथा संहिता- (तैत्तिरीय संहिता आदि)-ग्रन्थ हैं। इनमें पहली कोटि स्वतः-प्रमाण और दूसरी कोटि, पहली के आनुकूल्य में प्रमाण तथा प्रातिकूल्य (विरोध) में अप्रमाण समझनी चाहिए ॥४॥ (इति श्रुतिविरोधे स्मृत्यप्रामाण्याधिकरणम्, श्रुतिप्राबल्याधिकरणं वा—२)।

(दृष्टमूलक^१ स्मृत्यप्रामाण्याधिकरणम्—३)

व्याख्याकारों ने अकेले चतुर्थ सूत्र का भिन्न अधिकरण भी स्वीकार किया है। गत अधिकरण में अनुपलब्ध श्रुतिमूलक स्मार्त कर्म के अप्रामाण्य, अथवा दोनों के विरोध में श्रुति के प्राबल्य का निरूपण किया गया। परन्तु जिन स्मार्त कर्मों को श्रुतिमूलक कहा जाता है, उनके अप्रामाण्य को सूत्रकार ने बताया—

हेतुदर्शनाच्च ॥४॥

[हेतुदर्शनात्] कारण के देखे जाने से [च] और, जिन स्मार्त कर्मों की प्रवृत्ति में लोभ आदि कारण देखा जाय, उन्हें अप्रमाण मानना चाहिए।

वचन है—'वैसर्जनहोमीयं वासोऽध्वर्युर्गृह्णाति'। वैसर्जनहोम-सम्बन्धी वस्त्र

१. इस विषय में जो महानुभाव अधिक विस्तार से जानना चाहें, उन्हें पं० युधिष्ठिर मीमांसककृत मीमांसा शाबर भाष्य के हिन्दी रूपान्तर का प्रस्तुत प्रसंग देखना अपेक्षित होगा।

२. 'दृष्टमूलकस्मृत्यप्रामाण्यम्। अधि० ३।' सुबोधिनीवृत्ति में ऐसा पाठ है।

को अध्वर्यु ले लेता है। इसी प्रकार अन्य वाक्य है—‘यूपहस्तिनो दानमाचरन्ति’ यूप पर लपेटे वस्त्र का दान कर दिया जाता है। ये कर्म उन्हीं व्यक्तियों के द्वारा किये जाते हैं, जो श्रौत-स्मार्त कर्मों के अनुष्ठाता हैं, अतः इन स्मार्त कर्मों को प्रमाण मानना चाहिए, इस आशंका पर ‘हेतुदर्शनात्’ सूत्र का अवतरण होता है।

वैसर्जनहोमीय वस्त्र—अग्निष्टोम याग में चौथे दिन मध्याह्नोत्तर विसर्जन-होम का विधान है।^१ होम प्रारम्भ होने से पहले यजमान अपने समान-दायभागी अथवा सपिण्ड यजमान का स्पर्श करता है और अध्वर्यु सपिण्ड यजमानों को वस्त्र ओढ़ाता है।^२ सपिण्डों को जो वस्त्र ओढ़ाये जाते हैं, उन्हीं का नाम है—‘वैसर्जन-होमीय वस्त्र’। अध्वर्यु इन वस्त्रों को होम के अनन्तर ग्रहण करता है, अर्थात् ये वस्त्र उसी के हो जाते हैं।

इसी प्रकार यूप पर लपेटे वस्त्र का नाम—‘यूपहस्ती’ है। उसके दान कर देने का तात्पर्य यही है कि वह यज्ञ करानेवाले ऋत्विजों को दे दिया जाता है। याज्ञिकों ने इन स्मार्त कर्मों अथवा प्रथाओं को चलाया। इन प्रवृत्तियों के पीछे लोभ—कारण देखे जाने से ऐसे स्मार्त कर्म शास्त्रीय दृष्टि से अभिनन्दनीय न होने के कारण अप्रमाण माने जाते हैं ॥४॥ (इति दृष्टमूलकस्मृत्यप्रामाण्याधिकरणम्—३)।

(पदार्थप्राबल्याधिकरणम्—४)

शिष्य जिज्ञासा करता है—आचमन, यज्ञोपवीत-धारण आदि यज्ञ-प्रारम्भ से पूर्व करने चाहिए तथा यज्ञ-कार्य में दक्षिण हाथ का उपयोग होना चाहिए, ऐसे वचन उपलब्ध होते हैं—‘आचान्तेन कर्तव्यम्, यज्ञोपवीतिना कर्तव्यम्, दक्षिणा-चारेण कर्तव्यम्’ इत्यादि। क्या इनको श्रुति के अनुकूल माना जाए? या विरुद्ध? आचार्य ने पूर्वपक्षरूप में समाधान किया—

शिष्टाऽकोपेऽविरुद्धमिति चेत् ॥५॥

[शिष्टाऽकोपे] शिष्ट-शास्त्र द्वारा उपदिष्ट कर्म के अकोप-अकुपित-सुव्यवस्थित रहने पर [अविरुद्धम्] अविरुद्ध—श्रुति के विरुद्ध नहीं हैं आचमन आदि स्मार्त कर्म [इति चेत्] ऐसा यदि कहो—(तो वह ठीक नहीं; यह अगले सूत्र के साथ सम्बद्ध है)।

रचना के आधार पर पाँचवाँ-छठा एक ही सूत्र है। पर शबर स्वामी भाष्यकार ने व्याख्या की सुविधा का विचार कर सूत्र को विभक्त कर व्याख्यान किया है। प्रायः समस्त शास्त्र में भाष्यकार ने इसी पद्धति को अपनाया है। सूत्र का

१. द्रष्टव्य—शतपथ ब्राह्मण ३।६।३।१-४॥

२. इस विधि के लिए द्रष्टव्य—कात्यायन श्रौतसूत्र, ८।६।२०-३१; ३४-३५॥

तात्पर्य है—आचमन आदि स्मार्त कर्म से शास्त्र द्वारा उपदिष्ट वैदिक कर्मानुष्ठान में कोई प्रकोप-अव्यवस्था आने की सम्भावना नहीं है, अर्थात् वैदिक कर्मानुष्ठान में इन (आचमन आदि) कार्यों से कोई बाधा-गड़बड़ नहीं होती, अतः इन्हें श्रुति के अविरोध समझकर प्रमाण मानना चाहिए।

इस विचार का निराकरण पूर्वपक्षी अपनी ओर से करता है, यदि ऐसा (पूर्वोक्त विचार) मानो, तो वह—॥५॥

न शास्त्रपरिमाणत्वात् ॥६॥

[न] नहीं, पूर्वोक्त विचार युक्त नहीं, [शास्त्रपरिमाणत्वात्] शास्त्र द्वारा परिमित—सीमित—सुबद्ध होने से, वैदिक कर्मानुष्ठान के।

आचमन आदि से वैदिक कर्मानुष्ठान में कोई बाधा न आएगी, यह कथन युक्त नहीं है। कारण यह है कि वैदिक कर्मानुष्ठान शास्त्रीय व्यवस्था से बंधा हुआ है। शास्त्र में कर्मानुष्ठान का जो क्रम बंधा हुआ है, उस निर्धारित क्रम के अनुसार ही उसका अनुष्ठान होना चाहिए। आचमन आदि से उसमें बाधा का आना सम्भव है। जैसे—‘वेदं कृत्वा वेदिं कुर्वीत’ वाक्य है। ‘वेद’ पद का यहाँ अर्थ है—कुशा या दर्म घास की मुट्टी (गुच्छा) बांध देना, या बना देना। तात्पर्य है—कुशा की मुट्टी बनाकर वेदि का निर्माण करे। यहाँ ‘कृत्वा’ पद का प्रयोग होने से वेद (कुशामुष्टि) के निर्माण के तत्काल अनन्तर—अर्थात् बिना किसी भी व्यवधान के—उत्तरकाल में वेदि का निर्माण किया जाना मान्य है। ‘आचान्तेन कर्तव्यम्’ इस स्मार्त विधान के अनुसार वेदि-निर्माण से पूर्व यदि आचमन किया जाता है, तो वेद-वेदि-निर्माण का अव्यावहित क्रम टूट जाता है, एवं व्यवस्थित वैदिक कर्मानुष्ठान में बाधा आ जाती है। बाधा न आय, इसके लिए आवश्यक है, स्मार्त विधान का प्रामाण्य स्वीकार न किया जाय। यज्ञोपवीत-धारण के विषय में भी यही बात समझनी चाहिए। अकेले दाहिने हाथ से यज्ञिय पदार्थों के उठाने-धरने या व्यवस्था करने में प्रधान कर्मानुष्ठान के लिए काल-विलम्ब की सम्भावना हो सकती है। प्रधान कर्म अपने निर्धारित काल में ही होना चाहिए। अध्वर्यु द्वारा अकेले हाथ से कार्य करने पर हाथ थक सकता है, भारी वस्तु के स्थानान्तरण में हाथ के धीरे चलने से प्रधान कर्म के काल का उल्लंघन हो जाना सम्भव है। अतः इस स्मार्त विधान की उपेक्षा कर दोनों हाथों का उपयोग वाञ्छनीय है, जिससे प्रधान कर्मानुष्ठान में कोई बाधा न आए। इस प्रकार उक्त स्मार्त विधियों का अप्रामाण्य मानना उपयुक्त होगा ॥६॥

उक्त जिज्ञासा का यथावत् समाधान सूत्रकार ने बताया—

अपि वा कारणाग्रहणे प्रयुक्तानि प्रतीयेरन् ॥७॥

‘अपि वा’ पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिए हैं। प्रस्तुत शास्त्र में इन पदों का उक्त अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिए प्रायः प्रयोग हुआ है। तात्पर्य है—आचमन, यज्ञोपवीत-धारण आदि कर्म अप्रमाण नहीं हैं। [कारणाग्रहणे] लोभ आदि किसी कारण के अग्रहण—न देखे जाने पर, ये कर्म [प्रयुक्तानि] याज्ञिक आदि शिष्ट पुरुषों द्वारा प्रयोग में लाए गये, प्रवृत्त किए गये हैं, ऐसा [प्रतीयेरन्] जानना चाहिए। ऐसे स्मार्त कर्मों का—जिनके प्रवृत्त होने में कोई लोभ आदि निन्दित भाव कारण नहीं जाने जाते, उनका—प्रामाण्य अभीष्ट है।

यथार्थता यह है कि आचमन, यज्ञोपवीत-धारण आदि कर्मों से किसी वैदिक कर्मानुष्ठान का विरोध नहीं होता। ये सब कार्य अपने अवसर पर होते हैं। जो अनुष्ठान अवान्तर कार्यों के अनुक्रम में बंधे हैं, वे उसी रूप में किए जाते हैं। आचमन आदि यज्ञ के विशिष्ट अङ्ग हैं; जहाँ अपेक्षित हों, वहाँ इनका किया जाना उपयुक्त है। यज्ञ में क्रियारूप जो अर्थ जहाँ प्राप्त है, वहाँ उसका होना आवश्यक है। यज्ञ में वह अर्थ प्रधान तथा क्रम गौण माना जाता है। अपेक्षित क्रियानुष्ठान के साम्मुख्य में क्रम की उपेक्षा की जा सकती है। वस्तुतः इस प्रकार के अपेक्षित अनुष्ठानों से क्रम में कोई विशेष बाधा नहीं आती। आचमन मध्य में हो भी जाय, तो वेद-वेदि-निर्माण के पौर्वापर्य में कोई वैपरीत्य नहीं आता। तब बाधा का प्रश्न कहाँ रहा ? क्रियानुष्ठान के क्रम का प्रसंग तब आता है, जब उससे सम्बद्ध सब पदार्थ (क्रिया के विषय अथवा क्रिया में उपयोगी वस्तुसमूह) प्राप्त हो जाते हैं। उनकी प्राप्ति के अवसर पर क्रम का प्रसंग ही नहीं, तब उसमें आचमन आदि से बाधा का अवकाश कहाँ ?

इसी प्रकार काल की अनुकूलता रहते यदि कर्म में दक्षिण हाथ का उपयोग न किया जाय, तो इससे वास्तविक क्रियानुष्ठान में कोई विकार नहीं आता। फलतः आचमन, यज्ञोपवीतधारण, दक्षिण हाथ से व्यवहार आदि सब कर्तव्य-कर्म यागादि के अंग हैं, उसमें व्यवधान डालनेवाले ये नहीं होते। इसलिए इनका प्रामाण्य शास्त्रसम्मत है ॥७॥ (इति पदार्थ-प्राबल्याधिकरणम्—४)।

(शास्त्रप्रसिद्धपदार्थ-प्राबल्याधिकरणम्—५)

शिष्य जिज्ञासा करता है—कतिपय यज्ञिय पदार्थ ऐसे हैं, जिनके अर्थ-विषय में दो प्रकार की प्रसिद्धि से विकल्प होना सम्भव है। यहाँ मान्य क्या होगा ? निर्धारण की दृढ़ता के लिए आचार्य ने प्रथम शिष्य-जिज्ञासा को स्पष्ट किया—

तेष्वदर्शनाद् विरोधस्य समा विप्रतिपत्तिः स्यात् ॥८॥

[तेषु] उन ‘यव’ आदि पदों में [अदर्शनात्] न देखे जाने से [विरोधस्य] विरोध के, [समा] समान, बराबर [विप्रतिपत्तिः] विशेष ज्ञान [स्यात्] होना चाहिए।

यज्ञोपयोगी वस्तुओं के विषय में कतिपय वाक्य हैं—‘यवमयश्चरुः’—जौ का बनाया गया ‘चरु’ होता है। ‘वाराही उपानहौ’—वराह=सूअर की खाल से बने जूते। ‘वैतसे कटे संचिनोति’—वैतस चटाई पर इकट्ठा करता है। इन सन्दर्भों में ‘यव, वराह, वैतस’ पद पठित हैं। विभिन्न वर्ग अथवा व्याख्याता इन पदों परस्पर भिन्न अर्थ करते हैं। ‘यव’ पद का अर्थ एक ने ‘जौ’ किया, दूसरे ने ‘माल-कंगनी’। ‘वराह’ पद का एक ने सूअर अर्थ किया, दूसरे ने काला पक्षी अर्थात् काला कौआ। ‘वैतस’ पद का अर्थ एक ने बेंत किया, दूसरे ने जामुन। इन अर्थों में किसी के सबल-दुर्बल न देखे जाने से दोनों प्रकार के अर्थ समानबल प्रतीत होते हैं। अतः दोनों अर्थों के स्वीकार्य होने पर, यज्ञ में यथावसर अथवा यथोपलब्ध कहीं पहले और कहीं दूसरे अर्थ का उपयोग किए जाने से इन विधियों में विकल्प स्वीकार किया जाना उपयुक्त होगा ॥८॥

आचार्य सूत्रकार ने उक्त जिज्ञासा का समाधान किया—

शास्त्रस्था वा तन्निमित्तत्वात् ॥९॥

[शास्त्रस्था] शास्त्रगत—शास्त्रबोधित अथवा शास्त्रज्ञबोधित अर्थज्ञान-रीति प्रमाण है; ‘वा’ पद पूर्वपक्ष के निराकरण का द्योतक है—अर्थात् दोनों प्रकार के वर्गों अथवा व्याख्याकारों में प्रसिद्ध अर्थ समानबल होने के आधार पर प्रमाण नहीं माने जा सकते; क्योंकि [तन्निमित्तत्वात्] पदों के अर्थज्ञान में शास्त्र अथवा शास्त्रज्ञ शिष्टजनों के निमित्त होने से।

किसी पद का अर्थ इस आधार पर निश्चित नहीं किया जा सकता कि यह अर्थ अमुक वर्ग में प्रसिद्ध है, अथवा किसी व्याख्याता ने ऐसा अर्थ किया है। प्रत्युत पद के वास्तविक अर्थ का निश्चय शास्त्र-प्रतिपादित पद्धति शिष्टजन-व्यवहार के अनुसार प्रमाण माना जाता है। पहले उदाहृत वाक्य में ‘यव’ पद का निश्चित अर्थ ‘जौ’ है, जिसकी बाल पर तीखे लम्बे तूड़ (दीर्घ शूक) उभरे रहते हैं। यह कहना प्रामाणिक न होगा कि यव और प्रियंगु (मालकंगनी) में—अन्य सस्यों (अन्नों) के सूख जाने पर भी हरे-भरे बने रहने की—समानता के आधार पर दोनों का प्रामाण्य माना जाय; क्योंकि प्रामाण्य का आधार केवल शास्त्र है, और शास्त्र में जहाँ यवमय चरु अथवा पुरोडाश के पात्रों का विधान है, उस प्रसंग में पाठ है—‘यत्रान्या ओषधयो म्लायन्ति तदैते मोदमाना वर्धन्ते’ [श०ब्रा० ३।६।-१।१०] जब अन्य ओषधियाँ मुरझा जाती हैं, तब ये [दीर्घशूक यव] हरे-भरे बढ़ते दिखाई देते रहते हैं। उक्त सन्दर्भ में ‘एते [यवाः] पद ‘जौ’-अन्न के लिए स्पष्ट निर्देश है, जो अटूट परम्परा से इसी अर्थ के अभिव्यक्त करने में प्रयुक्त होता आ रहा है। अतः प्रियङ्गु (मालकंगनी) के अर्थ में इसका प्रयोग गौण है। फलतः चरु या पुरोडाश जौ का बनाया जाना चाहिए,—यह निश्चित होता है।

इसी प्रकार 'वाराही उपानही उपमुञ्चते' [तै० ब्रा० १।७।६] सन्दर्भ राजसूय प्रकरण में पठित है। राजा वराह^१-चर्म-निमित्त जूतों को 'मन्युरसि' [तै० सं० १।८।१५] मन्त्र को पढ़ते हुए उतारता है। यहाँ 'वराह' पद का अर्थ सूअर (शूकर) समझना चाहिए क्योंकि अन्यत्र 'तस्माद्वराहं' गावोजुधावन्ति'

१. कतिपय व्याख्याकारों ने 'वराह' पद का अर्थ—'कृष्णशकुनि = वायस अर्थात् 'कौआ' किया है। कौए के दो भेद देखने में आते हैं—एक, मैदानी इलाकों में हल्के काले रंग, गर्दन पर और भी हल्के मटियाले (धुएँ जैसे) रंग का पाया जाता है; दूसरा, पहाड़ी कौआ शरीर में कुछ भारी और पूरे शरीर पर गहरे काले रंग का होता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण के वाक्य में वाराही जूते का उल्लेख है। कौए की खाल से जूता बनना सम्भव नहीं। अतः उक्त प्रसंग में वराह पद का 'सूअर' अर्थ समझना प्रामाणिक है।

इस विषय के विशेषज्ञ से जिज्ञासा करने पर ज्ञात हुआ—शूकर का चर्म उतारना बड़े हस्तलाघव का कार्य है। इस चर्म का सन्धान व मार्जन (Tanning) और भी कठिन है। इसके लिए उपयोगी विशिष्ट साधन-सामग्री एवं शिल्पी का अनुभव व चातुर्य अपेक्षित होता है। सन्धित चर्म मलमल-जैसा कोमल हो जाता है। राजा के जूते के लिए इसका उपयोग नितान्त अनुकूल है। इससे इतना स्पष्ट होता है—उस अति प्राचीन काल में चर्मसन्धान की प्रक्रिया कितने उच्च स्तर पर थी जबकि श्रम व शिल्प-साध्य कोमल चर्म का संस्कार [सन्धान-मार्जन, Tanning] भी सुविधापूर्वक किया जा सकता था।

जिन व्याख्याकारों ने 'वराह' पद का अर्थ—'कृष्णशकुनि = वायस, कौआ किया है, कदाचित् उनकी यह भावना रही हो कि 'वाराही उपानही' का अर्थ वराह चर्म के रूप-रंग (Colour) का जूता होना चाहिए, उसका उपादानतत्त्व कुछ भी हो। इस भावना में कौए का रंग भी अटपटा नहीं लगेगा।

२. सन्तुलित करें—'तस्माद्वराहे गावः संजानते' [श० ब्रा० ५।४।३।१६]—इसलिए वराह के विषय में अथवा वराह की उपस्थिति में गायें चौंकती हैं, सतर्क हो जाती हैं। गाय और वराह के सम्बन्ध में ब्राह्मण का यह खण्ड अच्छा प्रकाश डालता है। वहाँ बताया—देवों ने अग्नि में घृतकुम्भ प्रविष्ट किया। उससे वराह प्रकट हुआ। इसलिए वराह मेदुर (चर्बी से भरा) घृत-पूर्ण कुम्भ है। अतः वराह के विषय में गायें हैरान रहती हैं। वे इस रस (मेदस्) को अपना समझती हैं। जिस रस (घृत) को हम पंदा करती रही हैं, उससे भरा-पुरा यह कहाँ से आ टपका ? यही उनके चौंकने और उसे दूर भगाने के प्रयास का कारण है।

वाक्य में 'वराह' पद का सूत्र अर्थ प्रमाणित होता है। 'वराह के पीछे गायें दौड़ती हैं' का तात्पर्य है—सूत्र के समीप (अपनी ओर) आने पर गायें उसे मारने दौड़ती हैं, यह शाश्वतिक विरोध का उदाहरण है। यहाँ 'वराह' पद का अन्य अर्थ किया जाना सम्भव नहीं।

इसी प्रकार 'वेतस' पद बेंत, नरसल या नरकुल तथा सरकण्डा आदि अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है, परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में उसका अर्थ 'बेंत' किया जाना प्रमाणित होता है। सरकण्डा शुष्क मैदान का उत्पादन है। नरसल या नरकुल पानी के किनारे के समीप-भागों में प्रायः पैदा होता है। परन्तु बेंत पानी के अन्दर तटीय भूभाग से सटा हुआ अच्छा पनपता है। ये सब समानजातीय पौधे हैं। जम्बू (जामुन) का इनके साथ कोई मेल नहीं। शास्त्रज्ञ आचार्यों ने बताया— 'वेतसः कटो भवति, 'अप्सुजो वेतसः' [तै० सं० ५।३।१२]; कट=चटाई बेंत की बनाई जाती है। बेंत जलों में पैदा होता है। इसी के अनुसार 'वेतसे कटे सञ्चिनोति' वाक्य में 'वेतस' पद से बेंत का ग्रहण किया जाना प्रामाणिक है ॥६॥ (इति शास्त्रप्रसिद्धपदार्थ-प्रामाण्याधिकरणम्—५)।

(पिकनेमाधिकरणम्, म्लेच्छ प्रसिद्धार्थप्रामाण्याधिकरणं वा—६)

शिष्य जिज्ञासा करता है—अनेक पद आर्यों के द्वारा किसी अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिए प्रयुक्त नहीं होते, अपितु वे पद अनायों द्वारा विशिष्ट अर्थ में प्रयोग किए जाते हैं। क्या उन पदों को उसी रूप में स्वीकार कर लिया जाय? अथवा व्याकरण, निरुक्त आदि के आधार पर प्रकृति-प्रत्यय के अनुसार उनका अर्थ निश्चित किया जाय? क्योंकि गत अधिकरण में शास्त्रज्ञ शिष्टजनों द्वारा बोधित पद-पदार्थ के प्रामाण्य का निर्देश किया गया है, अतः अनाय-प्रयुक्त पदों को उसी रूप में स्वीकार न कर निरुक्त, व्याकरण आदि के अनुसार ही उनके अर्थ का निश्चय किया जाना चाहिए। ऐसे कतिपय शब्द हैं—पिक, नेम, सत, तामरस आदि। आचार्य सूत्रकार ने इस विषय में निर्णय दिया—

बोद्धिं तु प्रतीयेताविरोधात् प्रमाणेन ॥१०॥

[चोदितम्] प्रेरित—बोधित अर्थ, अनायों के द्वारा [तु] भी, [प्रतीयेत]

१. 'येषाञ्च विरोधः शाश्वतिकः' [२।४।६] पाणिनि-सूत्र के उदाहरण— 'अहि-नकुलम्, श्व-शृगालम्, उष्ट्र-महिषम्, मूषक-मार्जारम्' आदि के समान 'गो-शूकरम्' भी सम्भव है। इस विरोध का सम्भावित मूल, शतपथ ब्राह्मण के उक्त खण्ड [५।४।३।१६] में संकेतित है।

२. '०द्धपदार्थ प्रामाण्यम्। अधि० ६' रामेश्वर सूरि विरचित सुबोधिनी टीका में ऐसा पाठ है।

प्रमाणित माना जाना चाहिए, [अविरोधात्] विरोध न होने के कारण [प्रमाणेन] प्रमाण-शास्त्र से ।

प्रमाणभूत शास्त्र से विरोध न होने की दशा में अनार्यों द्वारा भी प्रयुक्त पद-पदार्थ का प्रामाण्य स्वीकार किया जाना चाहिए । आर्यों द्वारा उसके अप्रयोग की दशा में उन प्रयोगों की उपेक्षा करना अन्याय्य होगा । शास्त्रज्ञ शिष्टों के निर्देश वहाँ चरितार्थ हैं जहाँ अर्थ, प्रत्यक्ष का विषय नहीं है । अप्रत्यक्ष विषयों में शास्त्र का निर्बाध प्रामाण्य है । लोक-व्यवहार्य विषयों में अनार्यों द्वारा प्रयुक्त पद-पदार्थ स्वीकार कर लेने में कोई अनौचित्य नहीं है जबकि शास्त्रीय पद्धति से उसका कोई विरोध भी न हो ।

यह कहना भी अयुक्त होगा कि पद-पदार्थ के संरक्षण में अनार्य अथवा म्लेच्छों का कोई प्रयास नहीं है, जबकि आर्यों का इस दिशा में प्रयास देखा जाता है । उनके प्रयास में यही सबसे बड़ा प्रमाण है कि उनके द्वारा प्रयुक्त अनेक पद-पदार्थों को स्वीकार्य माना गया है । यह उनके प्रयास का ही परिणाम है, जो अनेक स्वीकार्य पद उन भाषाओं में संरक्षित हैं ।

वस्तुतः जिनको अनार्य अथवा म्लेच्छ कहा गया, वे सब वर्ग आर्यों के वंशज हैं । समय-समय पर विभिन्न कारणों से अपने पूर्व-समाज से विच्छिन्न हो जाने के कारण उनकी भाषा व आचार में भेद हो जाना नितान्त स्वाभाविक है । उन भाषाओं में प्रयुक्त शतशः शब्दों के मूल आज भी प्राचीन आर्यभाषा में अनायास ढूँढे जा सकते हैं, तथा अनेक ऐसे पदों का प्रयोग उन भाषाओं में उपलब्ध होना सम्भव है, जो भारतीय प्राचीन आर्यभाषा में अप्रयुक्त हो गये । यह असम्भव नहीं; अनेक प्रयुक्त पद कालान्तर में अप्रयुक्त होकर पुनः प्रयोग में आ जाते हैं ।

इसके उदाहरण के लिए कोकिल-पर्याय 'पिक' पद को प्रस्तुत किया जा सकता है । यजुर्वेद [२४।३९] में सन्दर्भ है—'वाजिनां कामाय पिकः' यहाँ 'पिक' पद असंदिग्ध रूप से कोयल का पर्याय है । कामशास्त्र के अनुसार 'वाजी' और 'काम' पदों के छिपे अर्थ पर ध्यान देने से यहाँ 'पिक' पद का कोयल पक्षी अर्थ स्पष्ट होता है । कोयल के बोल और बोल का एकमात्र ऋतु वसन्त कामी जनों की कामुकता को उद्दीपित करते हैं, यह सर्वजनविदित है । इससे ज्ञात होता है, 'पिक' पद का प्रयोग आर्यों द्वारा कोयल के अर्थ में होता रहा है । कालान्तर में अव्यवहृत हो गया । शबर स्वामी व उसके पूर्वापर समीप का काल ऐसा ही था, जब उसने उक्त पद को म्लेच्छ-समाज में व्यवहृत बताया । अनन्तर किसी काल में पुनः इसका प्रयोग आर्य-लोकव्यवहार में आ गया ।

'नेम' पद अन्नवाचक वेद में अनेकत्र मिलता है । अर्द्ध-(आधा)-वाचक 'नेम' पद का प्रयोग काठक संहिता [१४।९] में उपलब्ध है—'नेमे देवा नेमेऽमुराः' । फारसी भाषा का नीम पद आधे अर्थ में प्रयुक्त होता है, जो 'नेम' का अपभ्रंश

सम्भव है ।

‘तामरस’ पद कमल अर्थ का वाचक संस्कृत-कोशग्रन्थों में देखा जाता है; उपलब्ध वैदिक वाङ्मय में नहीं देखा गया । परन्तु अनायी या म्लेच्छों की किस भाषा में इस पद का प्रयोग उक्त अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिए होता है, यह भी पता नहीं लग सका । सम्भव है, इस पद को अन्य किसी भाषा से संस्कृत में स्वीकार कर लिया गया हो ।

‘सत’ पद यज्ञ में उपयोगी, गोलाकार छलनी के समान दारुमय पात्र के अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है । शतपथ ब्राह्मण [१२।८।३।१४-१५] में इसका उल्लेख है । वहाँ यह भी बताया है कि ‘सत’-संज्ञक पात्र बेंत का बनाया जाता था—‘वैतसः सतो भवति’ । ‘सत’ नामक यज्ञिय पात्र का उल्लेख कात्यायन श्रौतसूत्र [१६।२।६] में भी उपलब्ध है । निश्चित है—शतपथ ब्राह्मण की रचना शबरस्वामी से पर्याप्त पूर्व हुई है ।

सम्भव है, उस काल में उक्त पद का प्रयोग आर्यों में व्यवहार्य न रहा हो । फिर भी आर्यों में भाषा-सम्बन्धी संकोच नहीं रहा । जो शब्द जहाँ भी जैसा प्रयुक्त होता रहा है, उसको वैसे स्वीकार करने में आर्य-परिवार कभी कृपण नहीं रहा ।

यास्क के निरुक्त [२।२] में उल्लेख है—‘अथापि प्रकृतय एवैकेषु भाषन्ते विकृतय एकेषु । शवतिः गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते, विकारमस्यार्येषु भाषन्ते—शव इति ।’ कतिपय वर्गों में प्रकृति अर्थात् आख्यात रूपों का प्रयोग होता है, और कहीं उसके विकार का । गत्यर्थक ‘शव’ धातु का आख्यातरूप में प्रयोग केवल कम्बोज देश में पाया जाता है । आर्यों में इसका विकार केवल कृदन्तरूप ‘शव’ पद प्रयुक्त है । ‘शव’ मृत देह का नाम है, जिसे छोड़कर आत्मा सदा के लिए चला गया हो ।

यास्क के उक्त निर्देश के आधार पर आज यह निर्णय किया जा सका है कि कम्बोज किस प्रदेश का नाम है । यह लिखे जाने के समय निश्चित ही भारत और कम्बोज के मध्य गहरा सम्पर्क रहा होगा । समय-समय पर घटित कारणों से कालान्तर में वह सब विच्छिन्न हो गया । अब लगभग पाँच सहस्र वर्ष के अनन्तर उस भाषा की खोज हुई, जहाँ गत्यर्थक ‘शव’ धातु का आख्यातरूप में आंशिक भी व्यवहार आज चल रहा है । खोजों के फलस्वरूप जाना गया कि गल्चा क्षेत्र की बोलियों में आज भी वह सुरक्षित है । डॉ० ग्रियर्सन ने उस क्षेत्र की जितनी बोलियों के नमूने दिए हैं, उनमें ‘शवति’ धातु आज भी साधारण गति के अर्थ में व्यवहृत होता देखा जाता है । उसको अग्रांकित रूप में प्रस्तुत कर देना जानकारी के लिए सुविधाजनक होगा—

गल्चा बोली	धातुरूप	अर्थ
शिरनी या खुरनी	सुतः (भूतकालिक आख्यात रूप)	गया
सरीकोली	सैत—(विधि लकार)	जाना
	स्यूत—(भूत लकार)	गया
	सोम—(भविष्यत् लकार)	जाऊंगा
जे बाकी या इस्काशिमि	शुद—(भूत लकार)	गया
मुंजानी या मुंगी	शिआ—(विधि)	जाना
युइद्गा	शुई—(भूत)	गया

इसके आधार पर कम्बोज देश की स्थिति कश्मीर के ठीक उत्तर में—पामीर पठार का पच्छिमी भाग, सिङ्कियांग प्रदेश का बड़ा भाग, चायनीज तुर्किस्तान तथा वंशु (ऑक्सस) नदी के इधर-उधर का भूभाग—कही जा सकती है। यास्क-कालिक उस अति प्राचीन समय में भारत का उस प्रदेश के साथ गहरा सम्बन्ध रहा; यह भाषा-सम्बन्धी उक्त निर्देश से स्पष्ट होता है। यह विवेचन इस परिणाम पर पहुँचाता है, पर्याप्त प्राचीनकाल से तथाकथित म्लेच्छ अथवा अनार्य वर्गों की भाषाएँ भारतीय भाषा से सम्बद्ध एवं प्रभावित रही हैं। फलतः शास्त्रीय प्रमाणों के अनुरूप म्लेच्छभाषागत पदों का प्रामाण्य स्वीकार किए जाने में किसी बाधा की आशंका करना व्यर्थ होगा ॥१०॥ (इति पिकनेमाधिकरणम्, म्लेच्छ-प्रसिद्धार्थप्रामाण्याधिकरणं वा—६)।

(कल्पसूत्राणां स्वतः प्रामाण्याधिकरणम्—७)

शिष्य जिज्ञासा करता है—बौधायन आपस्तम्ब आदि कल्प-सूत्रों को अपौरुषेय मानकर उनका स्वतः प्रामाण्य स्वीकार किया जाय, अथवा पौरुषेय होने से परतः प्रामाण्य? सूत्रकार ने विषय की स्पष्ट एवं दृढ़ प्रतिपत्ति के लिए प्रथम पूर्वपक्ष कहा—

प्रयोगशास्त्रमिति चेत् ॥११॥

[प्रयोगशास्त्रम्] प्रयोगशास्त्र है, समस्त कल्पसूत्र [इति चेत्] ऐसा यदि कहो, तो।

जो वैदिक कर्म यज्ञ-याग आदि अनुष्ठानरूप वेद में कहे हैं, उनके समान ही उन कर्मों का प्रयोगात्मक विवरण कल्पसूत्रों में बताया गया है; अतः उनके प्रामाण्य के समान कल्पसूत्रों का प्रामाण्य भी स्वतः अपौरुषेय रूप में स्वीकार

१. सुबोधिनी व्याख्या में 'कल्पसूत्राणां स्वतः प्रामाण्याभावः। अधि० ७' ऐसा पाठ है।

किया जाना चाहिए। इसी कारण इन्हें 'श्रौत' पद से व्यवहृत किया जाता है। ये भी अपौरुषेय अनादि नित्य माने जाने चाहिए। उसी आधार पर इनका प्रामाण्य हो। ऐसा यदि कहा जाय, तो वह—(अगले सूत्र के साथ सम्बन्ध है) ॥११॥

नासन्नियमात् ॥१२॥

[न] कथन ठीक नहीं, क्योंकि [अ-सन्-नियमात्] वेद के सदृश स्वर आदि से भली-भाँति नियमित सुसंबद्ध न होने के कारण, वेद के समान कल्पसूत्रों का प्रामाण्य अपौरुषेयत्व के आधार पर स्वीकार नहीं किया जा सकता।

स्वर एवं पदानुपूर्वी के आधार पर वेद का नियमन, सम्यक् प्रकार से निबन्धन जैसा सुदृढ़ है, कहीं से भी चरमरा जाने का अवसर उसमें नहीं है; इसी कारण उसे अनादि-नित्य-अपौरुषेय माना जाता है। यह स्थिति कल्पसूत्रों में कदापि नहीं। इनका ढाँचा (निबन्धन) अटूट-अविच्छिन्न नहीं है। यहाँ पदों के पौर्वापर्य में भेद हो जाने पर भी अभिधेय अर्थ में अन्तर आने की सम्भावना नहीं रहती। अतः कल्पसूत्र पुरुषरचना होने से इनका स्वतः प्रामाण्य न होकर परतः प्रामाण्य ही माना जाना युक्त है। बौधायन, आपस्तम्ब आदि नामों से प्रसिद्ध कल्पसूत्र, स्पष्ट है—ये व्यक्ति इनका नियमन = निर्माण करनेवाले हैं, इनके जीवन से पूर्व ये कल्पसूत्र नहीं थे। इनका स्वतः प्रामाण्य अमान्य है ॥१२॥

उक्त अर्थ की सिद्धि के लिए सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

अवाक्यशेषात् ॥१३॥

[अ-वाक्यशेषात्] वाक्यशेष न होने से, कल्पसूत्रों के, ब्राह्मणग्रन्थों के समान।

ब्राह्मणग्रन्थ, विधिवाक्यों के अंगभूत अर्थवाद आदि से युक्त हैं, इसलिए विधिवाक्यों के शेष होने के कारण उन्हीं के समान उनका प्रामाण्य माना जाता है, परन्तु कल्पसूत्र विधिवाक्यों के शेष (अङ्गभूत) न होने के कारण ब्राह्मणग्रन्थों के समान कल्पसूत्रों का प्रामाण्य स्वीकार्य नहीं है ॥१३॥

यह कथन भी युक्त नहीं कि सत्यवक्ता आचार्यों के द्वारा कथित होने से कल्पसूत्रों का प्रामाण्य माना जाय; क्योंकि—

सर्वत्र च प्रयोगात् सन्निधानशास्त्राच्च ॥१४॥

[सर्वत्र] सब जगह कल्पसूत्रों में [प्रयोगात्] प्रयोग से, [सन्निधानशास्त्रात्] सन्निधिशास्त्र से (विरुद्ध अर्थ के, कल्पसूत्र स्वतः प्रमाण नहीं)।

१. 'च' इति नास्ति, सुबोधिनीवृत्ति।

सन्निधिशस्त्र से तात्पर्य संहिता व ब्राह्मणग्रन्थ आदि हैं, जहाँ अनुष्ठेय कर्मों का मूलतः प्रतिपादन किया गया है। सूत्रार्थ को स्पष्ट करने के लिए मध्य में 'विरुद्धस्य' पद का अध्याहार कर लेना चाहिए। सूत्रपदों का अन्वय होगा— 'कल्पसूत्रेषु प्रायः सर्वत्र सन्निधानशास्त्रात् विरुद्धार्थकस्य प्रयोगात् कल्पसूत्राणां न स्वतः प्रामाण्यम्।' कल्पसूत्रों में प्रायः ब्राह्मणग्रन्थ आदि के विरुद्ध अर्थ का प्रयोग—कथन किया गया है, अतः उनका स्वतः प्रामाण्य अमान्य है। आपस्तम्ब-सूत्र में बताया — 'सर्वाणि हवींषि पर्यग्नि करोति' सब हवि-द्रव्यों का पर्यग्निकरण होता है। परन्तु 'पुरोडाशं पर्यग्नि करोति' इस प्रत्यक्षश्रुति के वह विरुद्ध है; क्योंकि पर्यग्निकरण केवल पुरोडाश का शास्त्रसिद्ध है, अन्य हवि-द्रव्य का नहीं।

अन्य उदाहरण दर्श और पौर्णमास इष्टि का है। दर्श-इष्टि का अनुष्ठान अमावास्या के दिन^१ किया जाना शास्त्रविहित है, इसी प्रकार पौर्णमास-इष्टि का पूर्णमासी के दिन। यदि उन दिनों में उक्त अनुष्ठान न किए जाएँ, तो उसके लिए प्रायश्चित्त का विधान है। एकाधिक बार अनुष्ठान का समय चूक जाने पर कभी उस ओर से उपेक्षा की भावना भी जागृत हो सकती है, ऐसी स्थिति न आये, इस कारण कर्मकाण्ड के व्यवस्थापक प्राचीन आचार्यों ने नियम किया कि दर्श-इष्टि का अनुष्ठान अमावास्या को तथा पौर्णमास-इष्टि का पूर्णमासी को होना ही चाहिए; अन्यथा व्यक्ति प्रायश्चित्तीय^२ हो जाता है। इससे अनुष्ठाता व्यक्ति के व्यवस्था में बँधे रहने की अधिक सम्भावना बनी रहती है। परन्तु कालान्तर में अनन्तरवर्ती आचार्यों ने इस व्यवस्था में ढील दे दी। काल-अतिक्रमण हो जाने पर प्रायश्चित्त भी न करना पड़े, और अनुष्ठान की प्रक्रिया भी किसी प्रकार चलती रहे, क्रिया का सर्वथा लोप न हो जाय, इस भावना से उन्होंने व्यवस्था की—

दर्श (अमावास्या) इष्टि यदि किसी कारणवश अमावास्या के दिन न हो सके, तो अगली पूर्णमासी से पहले, अर्थात् शुक्लपक्ष की चतुर्दशी तक किसी भी दिन सुविधानुसार कर सकता है। इसी प्रकार पौर्णमास्येष्टि यदि निर्धारित समय पूर्णमासी के दिन किसी कारण सम्पन्न न हो सके, तो आगे आनेवाली अमावास्या से पहले अर्थात् कृष्णपक्ष की चतुर्दशी तक सुविधानुसार किसी भी दिन वह अनुष्ठान^३ कर सकता है।

१. पुरोडाश तैयार हो जाने पर दाभ (दर्भ घास) के तीन-चार लम्बे तिनकों के सिरों को प्रज्वलित कर उन्हें हाथ में लेकर पुरोडाश की तीन प्रदक्षिणा करना, पुरोडाश का पर्यग्निकरण है।

२. द्रष्टव्य—तै० सं० २।२।२॥ मैत्रा० सं० २।१।१०॥ काठक सं० १०।१॥

३. इस प्रकार की छूट या ढील देने के लिए द्रष्टव्य हैं—निदान सूत्र २।१॥ बोधा० श्रौ० सू० २८।१२॥ गोमिल गृह्य सूत्र १।६।१३॥

यह सब आलसी यजमानों पर याज्ञिक आचार्यों की अनुग्रह-भावना का स्वरूप है। ऐसा अनुग्रह निश्चित ही कर्मानुष्ठान में अव्यवस्था का उत्पादक होता है। मीमांसासूत्रकार जैमिनि, सर्वप्रथम सूत्रों के वृत्तिकार उपवर्ष और भाष्यकार शबरस्वामी आदि प्राचीन आचार्य शास्त्रनिर्देशानुसार कर्मानुष्ठान के लिए बल देते रहे हैं; उसमें कभी प्रमाद नहीं होता चाहिए। ऐसी शास्त्रीय व्यवस्था के प्रतिकूल जिन कल्पसूत्रकार आचार्यों ने कर्मानुष्ठान में कालातिपात की डील दी है, उसका प्रामाण्य अस्वीकार्य है; यही निर्णय इस अधिकरण द्वारा किया गया है ॥१४॥ (इति कल्पसूत्राणामस्वतः प्रामाण्याधिकरम्—७) ।

[देशाचारेषु सामान्यतः^१ श्रुतिकल्पनाधिकरणम्, होलाकाधिकरणं वा—८]

विभिन्न देशों में विभिन्न आचारविषयक प्रामाण्य-अप्रामाण्य का विवेचन करने की भावना से सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का सूत्र कहा—

अनुमानव्यवस्थानात् तत्संयुक्तं प्रमाणं स्यात् ॥१५॥

[अनुमानव्यवस्थानात्] अनुमान के व्यवस्थान से, आचार आदि के विषय में, [तत्संयुक्तम्] उस व्यवस्थान से संयुक्त-संबद्ध जो आचार है, वह [प्रमाणम्] प्रमाण [स्यात्] होता है, माना जाता है।

स्मृति व अन्य आचार आदि के प्रामाण्य के लिए यह व्यवस्था कर दी गई है^२ कि समस्त प्रामाण्य श्रुति पर आधारित है। यदि स्मृति-प्रतिपादित किसी कर्म के लिए प्रत्यक्ष श्रुति उपलब्ध नहीं है, तो स्मृत्यनुकूल श्रुति का अनुमान कर लेना चाहिए। जिन आधारों पर स्मृति-प्रतिपादित कर्म के प्रामाण्य के लिए श्रुति का अनुमान किया जाता है, उन्हीं आधारों पर विभिन्न आचारमूलक श्रुति के अनुमान से आचार के प्रामाण्य को स्वीकार किया जाना चाहिए।

चालू पाद के प्रारम्भ से सूत्रकार ने स्मृति तथा श्रौत-गृह्य-धर्मसूत्ररूप कल्प-सूत्रों के प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य के विषय में विवेचन प्रस्तुत किया है, जो गत अधिकरण [१४ सूत्र] तक पूरा हो जाता है। प्रस्तुत अधिकरण द्वारा विभिन्न देशाचार के विषय में विवेचन किया गया है। यह अधिकरण सूत्र २३ तक चला है। देशाचार देशभेद के साथ, एक ही आचार के विभिन्न वर्गों द्वारा प्रशस्त व निन्दित माने जाने पर भी व्यवस्थित है। उदाहरण के लिए महिलाओं में पर्दा-

१. 'सामान्यश्रुतिकल्पनाधिकरम्' इत्येव पाठः। हलायुधकृत मीमांसासार-सर्वस्व।

'सामान्यश्रुतिकल्पनम् ॥ अधि० ८॥' सुबोधनीवृत्ति।

२. द्रष्टव्य—सूत्र १।३।२-३॥

प्रथा तथा नृत्य आदि विचार्य हैं। इस व्यवस्था पर विचार करने के लिए सूत्र [१।३।४] के अनुसार कारणों का निरीक्षण करना अपेक्षित होगा। उत्तर भारत में पर्दा-प्रथा के कारणों का अन्वेषण करने पर यह सम्भव है—खुले मुँह रहने पर प्रतिबन्ध, मुस्लिम शासनकाल में उनकी कामुकता व अपहरण आदि के भय से बचने के लिए लगाया गया हो। यही कारण खुले रूप में नृत्य के लिए कहा जा सकता है। राजस्थान में विवाह आदि अवसरों पर कुलीन महिलाओं द्वारा अन्य जनों के बीच नृत्य निन्दनीय नहीं माना जाता। गुजरात का गर्बा नृत्य जानकार महिलाओं द्वारा किसी भी प्रकार के सांस्कृतिक अवसरों पर निन्द्य नहीं माना जाता।

देशाचार व सामाजिक प्रथा समय के अनुसार बदलते रहते हैं। आज के युग में महिलाओं का खुले मुँह रहना तथा कन्याओं द्वारा सांस्कृतिक-शैक्षिक मञ्च पर नृत्य निन्दनीय नहीं समझा जाता। अन्य अभिनन्द्य कलाओं के समान नृत्य एक कला है, इसका आचरण अप्रशस्य नहीं है; इतना अवश्य होना चाहिए कि इसमें अश्लीलता न आने पाये, तथा कला के बहाने से इसे अनाचार की सीमा तक न पहुँचाया जावे। विभिन्न देशाचार-परम्पराओं की खोज करने पर मूल में इनके आस्थान् आधारों का पता लगता है, जो इस तथ्य का अनुमान कराते हैं कि इनकी मूलभूत श्रुति की कल्पना में कोई बाधा नहीं मानी जानी चाहिए। तब इनका प्रामाण्य भी अन्य स्मृतियों के समान समझा जाय ॥१५॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष समाधान करते हुए बताया—

अपि वा सर्वधर्मः स्यात् तन्न्यायत्वाद् विधानस्य ॥१६॥

‘अपि वा’ पद पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के द्योतक हैं। तात्पर्य है—उक्त विषय में यह वास्तविकता समझनी चाहिए। क्या? [सर्वधर्मः] वह देशाचार सबका धर्म [स्यात्] होता है। [तन्न्यायत्वात्] उस विषय में उचित होने से [विधानस्य] विधान के।

होली-दिवाली आदि का मनाना किसी देशविशेष का आचार नहीं है, प्रत्युत समस्त देश के उस पूरे समाज का धर्म है, जो इस विषय की मान्यता का समान रूप से अनुयायी है। इसको मनाने की प्रक्रिया में कहीं किसी देश में साधारण अवान्तर भेद का होना सम्भव है, वह देशविशेष का आचार है, उसके लिए शब्द-मूलकता की खोज व्यर्थ है। मुख्य आचार धर्म वाञ्छनीय रूप में होली मनाना है, वह समस्त समाज का धर्म है, इसी रूप में इसकी श्रुतिमूलकता न्याय्य है, इसमें देशविशेष अथवा दिशाविशेष का कोई प्रतिबन्ध नहीं है। इस प्रकार के आचार-सम्बन्धी छोटे-मोटे विभेदों की शब्दमूलकता की खोजना नितान्त व्यर्थ है ॥१६॥

पारिवारिक एवं वर्गीय लघु आचार किन्हीं निमित्तविशेषों से किसी काल में प्रारम्भ हो गये, यह सम्भव है। उनके हेतु का अनुमान किया जा सकता है; इसी अर्थ को सूत्रकार ने कहा—

दर्शनाद् विनियोगः स्यात् ॥१७॥

[दर्शनात्] दर्शन से—दृष्ट हेतु से [विनियोगः] विशेष नियम व व्यवस्था, ऐसे आचारों में [स्यात्] होती है; तात्पर्य है—दृष्ट निमित्तों के आधार पर इन आचार-धर्मों की व्यवस्था समझ लेनी चाहिए।

बालकों की एक, दो या तीन शिखाओं का रखाया जाना, यज्ञोपवीत अथवा धारण किये वस्त्रों का रंगविशेष होना, दण्ड व मेखला के उपादानतत्त्वों का विभेद होना—आदि आचार का निमित्त साक्षात् जाना जाता है; इनके प्रारम्भ किये जाने का यही आधार रहा होगा। इस आचार-धर्म से यह बिना प्रश्न व खोज-बीन किये—जान लिया जाता है कि अमुक बालक किस वर्ण अथवा किस परिवार-विशेष का है। इसी कारण स्मृतियों^१ में इनका विधान किया गया है। परन्तु होली आदि ऋतु-सम्बन्धी आचार के विषय में दिशा या देश-विशेष में होनेवाले विभेदों के लिए कोई ऐसे प्रत्यक्ष कारण नहीं देखे जाते, जिससे उनके मूल कारणों की खोज करना अपेक्षित हो, तथा उसके आधार पर उनके शब्दमूलक होने की कल्पना आवश्यक हो ॥१७॥

ऐसे लघुवर्गीय आचार व धर्मों का पूर्णरूप में व्यवस्थित किया जाना सम्भव नहीं; क्योंकि कोई ऐसे साधन हमारे पास या समाज के पास नहीं हैं, जिनसे इन्हें नियमित किया जा सके। इसी अर्थ को सूत्रकार ने बताया—

लिङ्गाभावाच्च नित्यस्य ॥१८॥

[लिङ्गाभावात्] लिङ्ग-साधन के अभाव से [च] और [नित्यस्य] नित्य-नियमित व्यवस्था के लिए।

होलाका आदि के देशिक आचार-सम्बन्धी विभेदों के नियमन व व्यवस्थापन के लिए कोई साधन उपलब्ध न होने के कारण इनकी व्यवस्था तथा उसकी शब्द-मूलकता की कल्पना के लिए प्रयास व्यर्थ है। देश-काल के भेद से इन आचार-धर्मों में अवान्तर विभेदों का हो जाना स्वाभाविक है; उनको नियमित व समान रूप में नियन्त्रित करने का कोई भी प्रयास सदा असफल रहेगा। समाज-महानद का प्रवाह सदा निर्बाध चलता है। न केवल सामने की बाधाओं को, अपितु पार्श्व-वर्ती तटीय बाधाओं को तोड़कर स्वच्छन्द बहता है। समय इसी बहाव को कुछ काल के लिए नियमित-जैसा कर देता है; कालान्तर में उसके लिए भी पहले-जैसी

१. द्रष्टव्य—मनुस्मृति, अ० २, श्लो० ३१—५०।

अवस्था प्राप्त हो जाती है। कालक्रमानुसार आचार आदि विषयक सामाजिक क्रान्तियों का अनुक्रम सदा चला करता है; यही समाज-महानद का अनवरत प्रवाह है। जिन आचार-धर्मों का सूत्रकार इन सूत्रों में विवेचन प्रस्तुत कर रहा है, वह सब आज कहाँ है? शिक्षा, सूत्र, मेखला, दण्ड आदि तथा इनके विशेष रंग, उपादानतत्त्व तथा नाप आदि किसी का भी आज नाम-निशान नहीं है। यह इस तथ्य का सुपुष्ट प्रमाण है कि सूत्रकार समाज की वास्तविक स्थिति को किस चरम सीमा तक समझने की क्षमता रखता था। तभी उसने कहा—इस प्रकार के दैशिक अवान्तर आचार-धर्मों को नियमित करने के प्रयास की उपेक्षा ही करनी चाहिए; क्योंकि उसके लिए किसी के पास कोई साधन नहीं है ॥१८॥

इसी तथ्य की पुष्टि के लिए सूत्रकार ने बताया—

आख्या हि देशसंयोगात् ॥१९॥

[आख्या] नाम—संज्ञा (प्राच्य, प्रतीच्य, उदीच्य आदि) [हि] निश्चय से [देशसंयोगात्] देश के सम्बन्ध से होते हैं। उनके आधार पर आचार की व्यवस्था नहीं होती।

किसी भी देश के केन्द्रस्थान की अपेक्षा से दिशाओं के आधार पर उस ओर के प्रदेश का नाम दिशा के नाम पर रख दिया जाता है। उस प्रदेश में निवास के सम्बन्ध से व्यक्ति का नाम भी प्राच्य, प्रतीच्य, उदीच्य, दाक्षिणात्य आदि कहा जाता है। यदि दाक्षिणात्य व्यक्ति उत्तर दिशा में जाकर रहता है, तो इतने से—दक्षिण देश के साथ सम्बन्ध न रहने पर भी वह अपने वर्गीय व पारिवारिक आचार का ही अनुष्ठान करता है, उदीच्य आचार का नहीं। ऐसे ही विभिन्न देशीय व्यक्तियों के विषय में समझना चाहिए। तात्पर्य है—देश के साथ व्यक्ति का सम्बन्ध न रहने पर भी देशाचार के बने रहने से आचार की व्यवस्था देश-सम्बन्ध पर आधारित नहीं है ॥१९॥

संज्ञा देश-सम्बन्ध के कारण है; इस आंशिक कथन को लक्ष्य कर शिष्य जिज्ञासा करता है—देशान्तर में चले जाने पर भी पूर्व-संज्ञा बनी रहती है, अतः देश-संयोग से संज्ञा (=आख्या) का होना युक्त प्रतीत नहीं होता। आचार्य ने शिष्य की जिज्ञासा को सूत्रित किया—

न स्याद् देशान्तरेष्विति चेत् ? ॥२०॥

[न] नहीं [स्यात्] होवे या रहे वह संज्ञा, [देशान्तरेषु] अन्य देश में चले जाने पर; यदि वह देशसंयोग के कारण हो। [इति चेत्] ऐसा यदि कहा जाय, तो यह ठीक नहीं—(इसका सम्बन्ध अगले सूत्र के साथ है)।

दाक्षिणात्य, प्राच्य, उदीच्य आदि संज्ञा यदि देशविशेष के साथ संयोग के

कारण मानी जाती हैं, तो उस देश का संयोग न रहने पर, अर्थात् देशान्तर में चले जाने पर वह संज्ञा नहीं रहनी चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता; मथुरा में निवास के कारण व्यक्ति 'माथुर' कहा जाता है; परन्तु मथुरा के साथ सम्बन्ध न रहने पर, अर्थात् अन्यत्र चले जाने पर भी वह 'माथुर' कहा जाता है। अतः आख्या (संज्ञा) देशसंयोग के कारण है, यह कथन अनैकान्तिक होने से संगत प्रतीत नहीं होता ॥२०॥

आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

स्याद् योगाख्या हि माथुरवत् ॥२१॥

[स्यात्] होवे, या रहे; प्राच्य देश से बाहर गए हुए की भी प्राच्य आदि संज्ञा; क्योंकि यह [योगाख्या] योग-संयोग-सम्बन्ध के कारण आख्या [हि] ही है, अथवा निश्चय से है [माथुरवत्] माथुर संज्ञा के समान।

किसी ग्राम, नगर या देश के सम्बन्ध से व्यक्ति व समाज का नाम पड़ जाने के अनेक निमित्त व परिस्थितियों का उल्लेख आचार्य पाणिनि ने अष्टाध्यायी^१ ग्रन्थ में किया है। उसके अनुसार मथुरा में जन्मा, रहा, रहने को उद्यत, रहता हुआ आदि किसी निमित्त के होने पर व्यक्ति के लिए 'माथुर' पद का प्रयोग सर्वथा उपयुक्त है। जिस व्यक्ति का मथुरा के साथ सम्बन्ध के लिए इनमें से कोई निमित्त न हो, वह माथुर नहीं कहा जायगा। उक्त निमित्तों के रहते, ऐसी संज्ञा में न काल का निबन्धन है, न देश का। परन्तु पारिवारिक व वर्गीय (सामाजिक) आचार परिवार व वर्ग से उपनिबद्ध हैं, देश से नहीं। किसी व्यक्ति व वर्ग का देश छूट जाने पर भी आचार-धर्म नहीं छूटता; वह उसी रूप में अनुष्ठित किया जाता रहता है। तात्पर्य है, किसी व्यक्ति आदि के माथुर, अथवा प्राच्य, प्रतीच्य, दाक्षिणात्य आदि संज्ञाओं के निमित्त भिन्न हैं, तथा आचार-धर्म के भिन्न। आचार-धर्म में देश-सम्बन्ध निमित्त नहीं होता, यही बताना अभीष्ट है। मथुरा छोड़कर भी माथुर नाम रहने से आचार-धर्म में कोई अन्तर नहीं आता ॥२१॥

प्रस्तुत अधिकरण में भाष्यकार शबर स्वामी ने कतिपय ऐसे आचार-धर्मों का उल्लेख किया है, जिनका प्रचलन किसी प्रदेशविशेष में देखा जाता है, सर्वत्र नहीं। इनमें 'आह्नीनैवुक' आचार दाक्षिणात्यों का तथा 'उद्वृषभयज्ञ' उदीच्यों का बताया है। 'आह्नी नैवुक' के विषय में आचार्यों का बहुत मतभेद^२ है, जो

१. इसके लिए द्रष्टव्य हैं—अष्टाध्यायी, अध्याय ४, पाद तृतीय के निम्नांकित सूत्र—२५, ३६, ४१, ५३, ७४, ८३, ८५, ८६, ९०, ९५, १२० H

२. 'करञ्जादिपूजनात्मकम्—'आह्नीनैवुकम्' इति मीमांसाकौस्तुभे

इस सन्देह को पुष्ट करता है कि यह प्रादेशिक आचार-धर्म, आचार्य जैमिनी के

[१।३।१५] भट्टखण्डदेवः । स्वस्वकुलागतं करञ्जार्कादिस्थावरदेवता-
पूजनम्—‘आह्लीनैबुक’ शब्देनोच्यत इति मीमांसान्यायमालाविस्तरः
माधवः । गोमयमयीं देवता दूर्वादिभिरभ्यर्च्य ज्ञातिवत्कल्पनम्—‘आह्ली-
नैबुकम्’ इत्येके । मङ्गलवारे दधिमन्थनम्, इत्यन्ये । प्रतिदिनं तण्डुलमुष्टि
मासमेकं भाण्डे निःक्षिप्य घृतेन तेनापूपमेकं कृत्वा देवतापूजनमित्यपरे, इति
न्यायवार्तिकतात्पर्यपरिशुद्धौ (१।१।१, पृष्ठ २६७तमे) उदयनः ।”
[यु०मी०, मीमांसाशाबरभाष्य, पृ० २५२; टिप्पणी—१]

करञ्ज (करंजवा—एक पेड़, जिसका विशेष प्रयोग विविध औषध
बनाने में होता है) आदि की पूजा ‘आह्लीनैबुक’ है, यह भट्ट खण्डदेव ने
[१।३।१५] सूत्र की व्याख्या पर मीमांसाकौस्तुभ में लिखा है ।

अपने कुलक्रमागत नियम के अनुसार करञ्ज व आक आदि स्थावर
देवता का पूजन ‘आह्लीनैबुक’ है; यह आचार्य माधव ने मीमांसान्याय-
मालाविस्तर में बताया है ।

न्यायवार्तिकतात्पर्यपरिशुद्धि (१।१।१, पृष्ठ २७६) में आचार्य
उदयन ने लिखा है—गोबर से बनाई देवता-प्रतिमा की दूर्वा आदि से पूजा
करके उसमें बन्धु-बान्धवभाव की कल्पना ‘आह्लीनैबुक’ कर्म है, ऐसा कुछ
लोग मानते हैं । दूसरे लोग कहते हैं—मंगलवार में दही का मथना
(बिलोना) ‘आह्लीनैबुक’ है । अन्य व्यक्तियों का कहना है—प्रतिदिन एक
मुट्ठी चावल एक मास तक पात्र में डालकर अनन्तर घृत के सहयोग से उनका
पुआ (अपूप) बनाकर उससे देवता की पूजा करना ‘आह्लीनैबुक’ कर्म है ।

भाष्यकार ने यह कर्म दाक्षिणात्यों का बताया है । आजकल इसका
अनुष्ठान दाक्षिणात्यों द्वारा होता है, या नहीं ? यदि होता है, तो किस रूप
में ?—यह ज्ञातव्य है । दाक्षिणात्यों में आजकल एक अन्य आचार-धर्म
प्रचलित है—‘हल्दीकुंकुम’ । यह आधुनिक नाम है । कब से चला, और
पूर्वरूप क्या रहा ? कहना कठिन है । यह आचार केवल सधवा महिलाओं
द्वारा प्रायः नवरात्र (आश्विनगत) में मनाया जाता है । अन्य अनेक ऐसे
आचार-धर्म हैं, जो विशिष्ट वर्गों में मान्य हैं, सर्वत्र नहीं । उन सबके विषय
में प्रस्तुत विवेचन लागू होता है ।

भाष्यकार ने एक अन्य विशिष्ट देशाचार उदीच्य (उत्तर-देशवर्ती)
व्यक्तियों का बताया है—‘उद्बृषभयज्ञ’ । मीमांसान्यायमालाविस्तर के
उक्त प्रसंग में माधव ने लिखा है—‘ज्येष्ठमासस्य पौर्णमास्यां बलीवर्दान-
भ्यर्च्य धावयन्ति, सोऽयमुद्बृषभयज्ञ इति ।’ ज्येष्ठ मास की पूर्णिमा के दिन

काल में रहा होगा, या नहीं ? यदि रहा हो, तो कालानुसार उसमें परिवर्तन होते रहे, जिसका मूलरूप आज सन्दिग्ध अथवा अज्ञात है। अथवा, प्रदेशभेद व परिवारभेद से यह भेद रहा हो। फलतः उदाहरण कोई भी रहा हो, उस पृष्ठ-भूमि पर शिष्य जिज्ञासा करता है—देश आचार का निमित्त न हो, पर उसे आचार-कर्म का अङ्ग क्यों न मान लिया जाय ? सूत्रकार ने शिष्य-जिज्ञासा को सूत्रित किया—

कर्मधर्मो वा प्रवणवत् ॥२२॥

[कर्मधर्मः] कर्म—देशाचार कर्म का धर्म—अङ्ग रहे देश, [वा] अथवा, [प्रवणवत्] जैसे प्रवण—निम्नता—भूमि के ढलान को कर्म का अङ्ग (धर्म) माने जाने के समान।

आपस्तम्ब श्रौतसूत्र [२.११.५] में वाक्य है—‘प्राचीनप्रवणे वैश्वदेवेन यजेत’^१—पूर्व की ओर ढलानवाले देश में ‘वैश्वदेव’ नामक याग से यजन करे। जैसे यहाँ ढालू देश, कर्म का अङ्ग है, इसी प्रकार आहूतिनैबुक कर्म प्रायः काली मिट्टीवाले देश में किये जाने से, वहाँ भी देश को कर्म का अङ्ग माना जाना चाहिए। व्यवस्था दोनों के लिए समान होने से, देश को कर्म का नियामक मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए ॥२२॥

बैलों की पूजा करके उन्हें दीड़ते हैं। यह आचार-धर्म कृषकसमुदाय में रहा, यह ज्ञात होता है। नाम में ‘यज्ञ’ पद का प्रयोग विशेष ध्यान देने योग्य है। इससे प्रतीत होता है—ऐसे प्रादेशिक आचार-धर्मों को यज्ञ का मान्य स्तर प्राप्त रहा। यह आचार-धर्म भारत के पश्चिमोत्तर भाग में अब से चालीस-पचास वर्ष पहले उत्साहपूर्वक मनाया जाता रहा है। किसी प्रदेश में दिवाली के पीछे गोवर्द्धन-पूजा के बाद, तथा अन्यत्र विभिन्न पूर्णमासी अथवा अमावास्या के दिन मनाये जाने का प्रचलन रहा है। अब यह व्यवस्थित व सामूहिक रूप से नष्ट हो गया है। अब खेती में बैलों का स्थान ट्रैक्टर ने ले लिया है। जहाँ बैल रह गये हैं, वहाँ भी जीवन-निर्वाह की कमरतोड़ कठिनाइयों ने ऐसे मनोरञ्जनपूर्ण आचारों की ओर रुचि निष्प्राण कर दी है।

१. तुलना करें—मैत्रायणी संहिता, १.१.०.७; ‘प्रवणे यष्टव्यम्’। चातुर्मास्य याग के प्रारम्भिक भाग में वैश्वदेव याग से यजन करने का ‘प्रवण’—ढलान-भूमि पर विधान ध्यान देने योग्य है। क्या इसका यह तात्पर्य रहा होगा कि यज्ञ-भूमि पर पानी न रुक सके ? भले ही यज्ञमण्डप आच्छादित रहता हो।

आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

तुल्यं तु कर्तृधर्मेण ॥२३॥

[तुल्यम्] तुल्य—समान है, देश श्यामादि कर्माङ्गता, [तु] तो [कर्तृधर्मेण] कर्ता के श्यामादि धर्म के साथ ।

उक्त आचार-धर्म के कर्ता-अनुष्ठाता पुरुष का वर्ण (रूप) यदि श्याम है, तो वह आचार-धर्म के अनुष्ठान में नियामक-व्यवस्थापक नहीं है । कर्ता श्याम न होकर गौर भी हो सकता है । इसी प्रकार देशगत श्यामता को आचार-धर्म का व्यवस्थापक नहीं माना जा सकता । उक्त आचार-धर्म पारिवारिक अथवा वर्गीय हैं । उस वर्ग के व्यक्ति यदि पीली मिट्टीवाले देश में रहते हैं, तो वहाँ भी वे उक्त आचार-धर्म का पालन करते हैं । यदि काली मिट्टीवाले देश में उक्त वर्ग से भिन्न वर्गवाले लोग रहते हैं, तो वे वहाँ भी उक्त आचार-धर्मों का पालन नहीं करते । अतः अनैकान्तिक (व्यभिचारी) होने से देशविशेष, किन्हीं आचार-धर्मों के पालन में व्यवस्थापक हेतु नहीं माना जा सकता ।

गत सूत्र द्वारा उक्त मान्यता (आचार-धर्म की व्यवस्था में देश नियामक व व्यवस्थापक है) के लिए जो 'प्रवण' उदाहरण दिया, वह प्रस्तुत प्रसंग में असंगत है; क्योंकि प्रवण में वैश्वदेव यजन के लिए श्रुति का साक्षात् निर्देश उपलब्ध है । आचार-धर्म के विषय में ऐसा कोई निर्देश उपलब्ध नहीं । अतः इस प्रसंग में उक्त उदाहरण का कोई सांगत्य नहीं ॥२३॥ (इति देशाचाराणां सामान्यतोऽनुमानाधिकरणम्, होलाकाधिकरणं वा—८)

(साधुशब्दप्रयुक्त्यधिकरणम्—६)

गत अधिकरण (६) में आर्यवर्ग द्वारा अव्यवहृत शब्दों के—म्लेच्छवर्गीय प्रसिद्ध—अर्थों का प्रामाण्य प्रतिपादित कर दिया गया है । प्रस्तुत अधिकरण में शिष्ट एवं अशिष्ट जनों द्वारा प्रयुक्त शब्दों के व्यवहार्य-अव्यवहार्य विषय पर विचार करना अभीष्ट है । इस सन्दर्भ में शिष्य जिज्ञासा करता है—पशुविशेष के लिए जैसे 'गो' पद का प्रयोग है, वैसे गाय, गावी, गोवी आदि का । क्या इन सबका प्रयोग समानरूप से व्यवहार्य माना जाना चाहिए, अथवा नहीं ? आचार्य सूत्रकार ने प्रथम शिष्य-जिज्ञासा को सूत्रित किया—

प्रयोगोत्पत्त्यशास्त्रत्वाच्छब्देषु न व्यवस्था स्यात् ॥२४॥

[प्रयोगोत्पत्त्यशास्त्रत्वात्] प्रयोग—उच्चरित शब्द की उत्पत्ति-अभिव्यक्ति

शास्त्र से बँधी नहीं है, अतः [शब्देषु] शब्द-प्रयोगों में [न] नहीं [व्यवस्था] शास्त्र द्वारा नियन्त्रण [स्यात्] है।

शब्द का उच्चारण अर्थ की अभिव्यक्ति के लिये किया जाता है, और यह लोकव्यवहार पर आधारित है। शास्त्र से यह बँधा हुआ नहीं है। जैसे गो शब्द के उच्चारण से जिस प्रकार के पशु का बोध होता है, वैसे ही गावी आदि पदों के उच्चारण से होता है। एक ही अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए अनेक पदों का प्रयोग देखा जाता है, जैसे—हाथ के लिए—‘हस्तः, करः, पाणिः’ इत्यादि। इस आधार पर यह मानने में कोई संकोच नहीं कि सब शब्द समान रूप से नित्य हैं, शब्दार्थ-सम्बन्ध का कोई कर्त्ता नहीं है, यह पूर्वकाल से व्यवस्थित है। यह कहना भी कोई महत्त्व नहीं रखता कि केवल ‘गो’ पद निर्बाध परम्परा से अर्थ को अभिव्यक्त करता है, अन्य ‘गावी’ आदि पद अपभ्रंश हैं। क्योंकि इन सभी पदों से एक ही अर्थ की अभिव्यक्ति समान रूप से होती है, फलतः प्रत्येक शब्द जो अभिमत बोध्य अर्थ को अभिव्यक्त करता है, वह प्रमाणभूत है, साधु है, व्यवहार्य है ॥२४॥

आचार्य सूत्रकार जिज्ञासा का समाधान करता है—

शब्दे प्रयत्ननिष्पत्तेरपराधस्य भागित्वम् ॥२५॥

[शब्दे] ‘गावी’ आदि असाधु शब्द के विषय में, [प्रयत्ननिष्पत्तेः] ‘गो’ आदि साधु शब्दों के प्रयत्नपूर्वक निष्पत्ति-उच्चारण किये जाने से [अपराधस्य] ‘गावी’ आदि असाधु उच्चारणरूप अपराध के [भागित्वम्] भागी होना सम्भव है।

साधु शब्दों के उच्चारण में भलाई और असाधु शब्दों के उच्चारण में बुराई समझी जाती है। लोकव्यवहार में साधु शब्दों का प्रयोग हो, असाधु का नहीं; इस निमित्त शब्द की साधुता को सीखने के लिए प्रयत्न अपेक्षित होता है। समाज का जो अंग इस विषय में प्रयत्नशील नहीं रहता, वह प्रशस्य नहीं समझा जाता। असाधु शब्द का प्रयोग ही एक अपराध के समान है। ऐसा व्यक्ति उस अपराध का भागी अवश्य होता है। यह ठीक है कि अर्थाभिव्यक्ति में समर्थ शब्द व्यवहार्य है, पर उसकी साधुता-असाधुता की ओर से उपेक्षा करना निन्दनीय है।

सूत्र के ‘प्रयत्ननिष्पत्ति’ पदों को केवल इतने अर्थ में सीमित नहीं समझना चाहिए कि—वायु नाभि से उठ के उरःस्थान में विस्तार पाता हुआ कण्ठ, मूर्द्धा, तालु आदि स्थानों में विचरता हुआ साधु शब्दों को अभिव्यक्त करता है^१।

१. आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।

मनः कायाग्निमाहन्ति सं प्रेरयति मास्तम्।

मास्तस्तुच्चरन् मन्द्रं ततो जनयति स्वरम् ॥

—वात्स्यकाल में वर्णोच्चारणशिक्षा से संस्मृत संदर्भ।

क्योंकि ऐसा प्रयत्न तो असाधु शब्दों के उच्चारण में भी समान रहता है। इस-लिये मुख्य रूप में यहाँ वह प्रयत्न अपेक्षित समझना चाहिए, जिससे शब्द की साधुता-असाधुता को पहचानने में सहायता मिलती है, जिसके आधार पर प्रयोक्ता अर्थाभिव्यक्ति के लिए केवल साधु शब्द का प्रयोग करे, असाधु शब्द के प्रयोग से अपने-आपको बचा सके, जिससे अपराध का भागी न बनना पड़े।

सूत्रकार के काल में 'गावी' आदि पदों का प्रयोग रहा हो, इसमें सन्देह है। भाष्यकार शबर स्वामी ने अपने समय के अनुसार इन पदों का उल्लेख किया है। यह अधिक सम्भव है, उस काल में अशिक्षित व्यक्ति 'गो' पद के विविध साधुरूपों के स्थान पर उन्हें विकृतरूप में बोलते रहे हों; उसी स्थिति को लक्ष्य कर सूत्रकार ने यह निर्देश किया—शब्द की साधुता-असाधुता को प्रयत्नपूर्वक (शिक्षा आदि द्वारा) जानो; तब साधु शब्द का प्रयोग करो; असाधु शब्द का प्रयोग न कर अपराध से बचो। इस विषय में केवल लोकव्यवहार पर आधारित न रहो। लोकव्यवहार शिशु-व्यवहार के समान है। शिशु द्वारा तुतली बोली में उच्चरित शब्द अर्थाभिव्यक्ति में समर्थ हैं, माता द्वारा उनको पूर्णरूप में समझना, इसका प्रमाण है; परन्तु वे सर्वदा व्यवहार्य नहीं; शिक्षित होने पर बालक उन्हें छोड़ देता है। शिशु-सुलभ असामर्थ्य उसे अपराध से बचाये रखता है। पर सामर्थ्य होने पर प्रयत्न के प्रति आलस्यादिमूलक उपेक्षा से शब्द की साधुता को न जानना अपराध है; सूत्रकार ने इस दिशा में प्रयोक्ता का ध्यान आकर्षित किया है ॥२५॥

यह जो कहा गया कि एक अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए अनेक पदों का प्रयोग देखा जाता है, उसी के समान गो-अर्थ के लिए गावी-गोणी आदि अनेक पदों का प्रयोग उचित है। इस विषय में सूत्रकार ने बताया—

अन्यायश्चानेकशब्दत्वम् ॥२६॥

[अन्यायः] न्याययुक्त नहीं है। [च] तथा यह, जो [अनेकशब्दत्वम्] अनेक शब्दों का होना, एक अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए कहा गया है।

'गावी' आदि असाधु शब्द का प्रयोग होने पर श्रोता को शब्द की समानता से 'गो' पद का स्मरण हो आता है, तब वह उस पद से बोध्य अर्थ को जान लेता है। तात्पर्य है—असाधु शब्द में अर्थाभिव्यक्ति का सामर्थ्य नहीं है। 'गावी' असाधु पद के ध्वनि-साम्य से श्रोता 'गो' पद का स्मरण कर बोध्य अर्थ को जान पाता है। इससे स्पष्ट है—अर्थाभिव्यक्ति का सामर्थ्य केवल साधु शब्द में है। इसी कारण प्रत्येक साधु-असाधु शब्द की अविच्छिन्न परम्परा अनादि काल से प्रवृत्त है, यह कहना असंगत है। यह परम्परा केवल साधु शब्द की है; असाधु शब्द उसका अपभ्रंशमात्र है। ऐसी स्थिति में एक अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए 'गावी, गोणी' आदि अनेक पदों के प्रयोग की मान्यता सर्वथा अप्रा-

माणिक है।

एक अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए अनेक साधु शब्दों के प्रयोग के विषय में यदि ध्यानपूर्वक गम्भीरता से विचार किया जाय, तो स्पष्ट होगा कि प्रत्येक पद अपने विभिन्न प्रवृत्तिनिमित्त के आधार पर एक-दूसरे से सूक्ष्म भेद रखता है। जगत् के उपादान-कारण के लिए शास्त्र में मुख्य रूप से दो पदों का समानरूप से प्रयोग होता है—प्रकृति और प्रधान। परन्तु पहला पद जगत् के निर्माण को आश्रय कर प्रवृत्त है; जबकि दूसरा—पहले के विपरीत जगत् के धारण अथवा अन्तर्लय (प्रकर्षण धीयते अन्तर्लीयते सर्वं जगत् यस्मिन् तत् प्रधानम्) को लेकर प्रवृत्त हुआ है। साधारण व्यवहार में इस सूक्ष्मता की उपेक्षा से दोनों पदों का समान रूप से प्रयोग होता रहता है। ये पद ऐसे हैं, जिनकी ध्वनि में कोई साम्य नहीं है।

भाष्यकार ने इस प्रसंग में उदाहरण के लिए तीन शब्द दिये हैं—‘हस्तः, करः, पाणिः’। इन पदों का समान रूप से प्रयोग ‘हाथ’ के लिए होता है। परन्तु इनमें प्रत्येक पद का प्रवृत्तिनिमित्त भिन्न है, जो इनके अर्थगत सूक्ष्मभेद का नियामक है। ‘हस्त’ शब्द हिसार्थक ‘हन्’ धातु से निष्पन्न होता है। इसमें किसी को चोट आदि पहुँचाना विशिष्ट अर्थ है। ‘कर’ शब्द ‘कृ’ धातु से निष्पन्न है, जिसका साधारण अर्थ ‘करना’ है। प्रत्येक कार्य हाथ द्वारा किया जाता है। ‘पाणि’ शब्द स्तुति-अर्थवाले ‘पण’ धातु से निष्पन्न है। जब किसी की स्तुति करना अभीष्ट है, तब दोनों हाथ आपस में जुड़कर सामने आ जाते हैं। यह अर्थ प्रथम पद से अभिव्यक्त भावना के सर्वथा विपरीत है। साधारण प्रयोग में इन सूक्ष्मताओं की उपेक्षा रहती है। परन्तु नितान्त उपेक्षा से इनका अन्यथा प्रयोग प्रशस्त नहीं माना जाता। साधारण व्यवहार में ऐसे पदों के प्रयोग को आभिधानिक आचार्यों ने अभीष्ट माना है ॥२६॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—गो-गावी आदि साधु-असाधु शब्दों की वास्तविकता को कैसे जाना जाय ? सूत्रकार ने बताया—

तत्र तत्त्वमभियोगविशेषात् स्यात् ॥२७॥

[तत्र] वहाँ—गो, गावी आदि शब्दों के विषय में [तत्त्वम्] तत्त्व को—कौन साधु और कौन असाधु है, इस वास्तविकता को [अभियोगविशेषात्] प्रयत्नविशेष से, जानना [स्यात्] होता है, अथवा प्रयत्नविशेष से जाना जाता है।

कठिन से कठिन कार्य एवं जातव्य अर्थ विशेष प्रयत्न करने पर सुविधापूर्वक सम्पन्न एवं बोधगम्य हो जाते हैं। जो शिष्टजन प्रयत्नशील होकर अविच्छिन्न परम्परा से शब्दसमूह की रक्षा में संलग्न व तत्पर रहे हैं, वे जिस शब्द को साधु

बतायें, वह निर्बाध रूप से साधु तथा शेष असाधु एवं अपभ्रंश समझने चाहिए। इस प्रकार विस्तृत वाङ्मय में प्रयुक्त शब्द साधु हैं; शिष्टजन-समुदाय ने उन्हें मान्यता दी है। फलतः 'गो' पद के अतिरिक्त 'गावी' आदि पदों को अपभ्रंश माना जाता है ॥२७॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—गो शब्द के समान 'गावी' शब्द से भी अर्थाभि-व्यक्ति वही होती है, तब 'गावी' आदि पदों का भी अर्थ के साथ सम्बन्ध अनादि क्यों न माना जाय ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

तदशक्तिश्चानुरूपत्वात् ॥२८॥

[तदशक्तिः=तत्-अशक्तिः] 'गो' पद के उच्चारण में अशक्ति (कारण है—गावी आदि पदों के उद्भव का) [च] तथा, अथवा क्योंकि [अनुरूपत्वात्] अनुरूप—समान होने से (गावी आदि पदों की ध्वनि 'गो' पद के समान होने के कारण)।

कभी किसी ने अशिक्षित होने के कारण 'गो' पद के शुद्ध उच्चारण के असामर्थ्य से उसके स्थान पर 'गावी' उच्चारण कर दिया; वैसे ही किसी सुनने-वाले ने उसका अनुकरण किया। धीरे-धीरे 'गो' पद के स्थान पर अशिक्षित जनों में इसी का चलन हो गया। इससे स्पष्ट होता है—'गो' पद पशु-विशेष (सास्ना आदि वाले गाय) के अर्थ में अनादि अविच्छिन्न परम्परा से प्रचलित है; कालान्तर में किन्हीं कारणवश अशक्त होने से अज्ञात व्यक्ति द्वारा उच्चरित 'गावी' पद अपभ्रंश है। ध्वनि में गो पद के अनुरूप—समान होना, उसके अपभ्रंश होने का निश्चायक है। उससे अभीष्ट पशु का बोध भी हो जाता है ॥२८॥

इसी आधार पर सूत्रकार ने बताया कि साधु शब्द के उच्चारण के समय विभक्ति आदि का व्यत्यय (विपर्यय—उलट) हो जाने पर भी अभीष्ट अर्थ का बोध हो जाता है। सूत्र कहा—

एकदेशत्वाच्च विभक्तिव्यत्यये स्यात् ॥२९॥

[एकदेशत्वात्] एकदेश होने से (पद का), [च] और अथवा इसी प्रकार [विभक्तिव्यत्यये] विभक्ति आदि का विपर्यय हो जाने पर (अभीष्ट अर्थ की प्रतीति) [स्यात्] हो जाती है।

सूत्र में 'विभक्ति' पद वचन व लिङ्ग आदि का उपलक्षण है। साधु शब्द का इच्छापूर्वक प्रयोग करने के प्रयास में यदि कभी असावधानता या अन्य कारण से वक्ता द्वारा विभक्ति आदि का विपर्यय हो जाने पर श्रोता द्वारा—शब्द के एक-देश की विद्यमानता से—अर्थबोध में कोई असुविधा नहीं होती। किसी ने आगन्तुक से पूछा—'कुत आगतो भवान् ?' आप कहाँ से आ रहे हैं ? आगन्तुक

ने उत्तर दिया—‘अश्मकैरागच्छामि’। ‘अश्मक’ देश का नाम है; यहाँ पञ्चमी विभक्ति—‘अश्मकेभ्यः’ का प्रयोग होना चाहिए था, पर वक्ता द्वारा किसी कारण तृतीया का प्रयोग हो गया। फिर भी श्रोता ने पद के एकदेश ‘अश्मक’ शब्द को सुनकर ठीक अर्थ समझ लिया—यह अश्मक देशों से आया है। तात्पर्य है—असाधु शब्द के एकदेश से साधु शब्द का श्रोता द्वारा स्मरण हो जाने पर ठीक अर्थ समझ लिया जाता है। अर्थात् अर्थबोधन-शक्ति केवल साधु शब्द में है, असाधु शब्द का एकदेश-समानता के कारण साधु शब्द का स्मरणमात्र कराता है।

इसी प्रकार ‘गावी’ आदि पदों से पदैकदेश वर्ण (ग आदि) की समानता के कारण साधु ‘गो’ पद का स्मरण हो आने पर श्रोता गो-पदवाच्य विशिष्ट पशु का बोध कर लेता है। अतः अर्थबोधन-शक्ति केवल साधु पदों में मान्य है, असाधु पदों में नहीं।

विचारणीय है, साधु-असाधु पदों के सम्बन्ध में ऐसा विवेचन उसी काल में सम्भव है, जब साधु शब्दों के स्थान पर असाधु—अपभ्रंश पदों के प्रयोग का प्रारम्भिक काल रहा है; वक्ता और श्रोता को साधु शब्दों की जानकारी भी हो। अन्यथा असाधु शब्दश्रवण से साधु शब्द का स्मरण होना सम्भव न होगा। अतः कालान्तर में वृद्धव्यवहार द्वारा अपभ्रंश पदों से अर्थबोध होना एवं उनमें अर्थबोध-शक्ति का अस्तित्व स्वीकार होना चाहिए।

भाष्यकार शबर स्वामी के इस विवरण से उसके काल पर विशेष प्रकाश पड़ता है। भाष्यकार का वह समय सम्भव है, जब साधारण जनता की बोलचाल की भाषा संस्कृत अपने साधुरूप से धीरे-धीरे विकृत होकर असाधु—अपभ्रंश पदों के रूप में विकृत होकर परिवर्तन-पथ पर प्रवृत्त थी। बलात् यह भावना जामृत होती है कि ऐसा विवरण भाष्यकार अपने काल का दे सकता है। यदि उस समय साधारण जनता की भाषा पूर्णरूप से विकृत होकर किसी प्राकृत व अपभ्रंश के रूप में परिनिष्ठित हो चुकी हो, तो भाष्यकार द्वारा उपर्युक्त विवरण का दिया जाना सम्भव प्रतीत नहीं होता।

भाषा के सम्बन्ध में ऐसा काल महाभारत-युद्ध के अनन्तर सौ वर्ष से दो सौ वर्ष के अन्तराल में होना सम्भव है। इसमें थोड़ा-बहुत काल आगे-पीछे जोड़ा जा सकता है। इस काल का सर्वाधिक प्रारम्भिक काल वह है, जब पाणिनि ने भाषा के इस द्रुतगति विकार को समझकर तथा कालान्तर में मूलभाषा के नष्ट हो जाने के भय से संत्रस्त होकर घोर परिश्रमपूर्वक तात्कालिक संस्कृत भाषा के पूर्ण एवं परिमार्जित व्याकरण का निर्माण किया। उस समय भाषाविषयक विकार की द्रुतगति का इससे कुछ अनुमान किया जा सकता है कि पाणिनि के अनधिक काल के अनन्तर कात्यायन को उन पदों के साधुत्व के लिए प्रयास करना पड़ा, जो इन दोनों आचार्यों के अन्तराल-काल में विकृत होकर अथवा अन्य प्रकार से किन्हीं

विशिष्ट अर्थों का बोध कराने में प्रयुक्त होने लगे थे । फलतः शबर स्वामी का काल महाभारतयुद्ध के अनन्तर दो सौ वर्ष के आस-पास माने जाने की सम्भावना की जा सकती है ॥२६॥ (इति साधुपदप्रयुक्त्यधिकरणम्—६)

(आकृत्यधिकरणान्तर्गत—‘लोकवेदशब्दतदर्थक्याधिकरणम्—१०)

शिष्य जिज्ञासा करता है—साधु-असाधु शब्दों के विषय में जाना; परन्तु साधु शब्द ‘गो’ आदि जाति के वाचक हैं, या व्यक्ति के ? यह ज्ञातव्य है । इसपर भी अन्य ज्ञातव्य है—क्या लौकिक-वैदिक शब्द समान हैं, अथवा पृथक्-पृथक् ? समान होने पर क्या इनका अर्थ भी समान है या भिन्न-भिन्न ? यह सब ज्ञातव्य है । प्रतीत होता है—लौकिक-वैदिक शब्द एक-दूसरे से भिन्न हैं, क्योंकि इनका कथन भिन्न नामों (लौकिक, वैदिक) से होता है । इनके स्वरूप में भी भेद है—वेद में ‘अग्नि’ शब्द नियत स्वर-वर्णानुपूर्वी वाला है, लोक में वह स्वरादि से हीन बोला जाता है । अर्थों में भी भेद प्रतीत होता है । लोक में ‘गो’ पद सास्ना वाले पशुविशेष का बोधक है; परन्तु वैदिक वाङ्मय में कहीं का वाक्य है—‘उत्ताना वै देवगवा वहन्ति’^२—देवों की गायें ऊपर को पंर करके चलती हैं । इससे लोक, वेद में ‘गो’ पद के विभिन्न अर्थों का पता लगता है । अन्य भी—‘देवेभ्यो वनस्पते हवींषि हिरण्यपर्णं प्रदिवस्ते’^३अर्थम्—हे सोने के पत्तोंवाली वनस्पति ! देवों के लिए हवियों का वहन करो । यह सुनहरे पत्तोंवाली वनस्पति वेद में वर्णित है, लोक में नहीं । इसी प्रकार वेद में—‘एतद् वै देव्यं मधु यद् घृतम्’ यही देवताओं का मधु = शहद है, जो घृत है—घृत के लिए मधु शब्द का प्रयोग देखा जाता है । इससे ज्ञात होता है—वैदिक, लौकिक शब्द भिन्न हैं, उनके अर्थ भी भिन्न हैं; क्या यह ठीक है ? इन जिज्ञासाओं का समाधान अपेक्षित है । सूत्रकार ने समाधान किया—

प्रयोगचोदनाभावाद् अर्थकत्वम् अविभागात् ॥३०॥

[प्रयोगचोदनाभावात्] प्रयोग—कर्म की चोदना-विधि के उपपन्न होने से, लौकिक-वैदिक शब्दों के [अर्थकत्वम्] अर्थों का एक-समान होना युक्त है, क्योंकि [अविभागात्] लौकिक, वैदिक शब्दों का विभाग न होने से । तात्पर्य है—जो वैदिक शब्द हैं, वे ही लौकिक हैं उनके अर्थ भी समान हैं ।

१. ‘लोकवेदयोः शब्दार्थक्यम् । अधि० १० ।’ इत्येव पाठः । सुबोधिनीवृत्ति ।

२. शबरस्वामी ने भाष्य में दिया है; मूलग्रन्थ का पता नहीं ।

३. द्रष्टव्य—मै० सं० ४।१३।७॥ तै० ब्रा०, ३।६।११।२॥

प्रस्तुत सूत्र से जिज्ञासा के दो अंशों का समाधान किया गया। एक—‘लौकिक-वैदिक’ शब्द परस्पर भिन्न नहीं हैं; जो वैदिक शब्द हैं, वे ही लौकिक शब्द हैं; अर्थात् लोक-वेद में समान शब्दों का ही प्रयोग होता है। दूसरा है—उन शब्दों के अर्थ लोक या वेद में भिन्न नहीं, अर्थ भी उभयत्र समान हैं। कारण यह है कि वेद में जिन शब्दों द्वारा और जिस अर्थ की अभिव्यक्ति के अभिप्राय से कर्मों का विधान किया गया है, लोक में उन्हीं शब्दों द्वारा वही अभिप्राय जाना जाता है; इन दोनों स्थितियों में लोक-वेदगत कोई भेद नहीं रहता। प्रतीत होता है, सूत्रकार द्वारा की गई यह व्यवस्था उस काल की सम्भव है, जब वेद-शब्दों के आधार पर ही लोकव्यवहार संचालित रहा। उस काल में भेद प्रकट करने की भावना से यदि ‘लौकिक’ एवं ‘वैदिक’ पदों का प्रयोग हुआ हो, तो वह गौण ही समझना चाहिए। कालान्तर में वेदगत पदों के लिए ‘वैदिक’ और लोकव्यवहार में प्रयुक्त होनेवाले पदों के लिए ‘लौकिक’ पद का प्रयोग भेदमूलक मुख्य अर्थ में होता रहा, यह सम्भव है।

अधिक समय बीतने पर लोकव्यवहार में प्रयुक्त होनेवाले पद-समूह में पर्याप्त परिवर्तन का हो जाना स्वाभाविक था। व्यवहार की भाषा को संकुचित चौखटे में सीमित रखना बड़ा कठिन होता है; कठिन क्या, असम्भव-जैसा ही समझना चाहिए। इसी का परिणाम हुआ कि लौकिक भाषा जब मूल वेदगत पदों से छिटककर अपने लौकिक रूप में परिमार्जित हो गई—जिसका व्याकरण आदि द्वारा सुघटित कलेवर ‘लौकिक संस्कृत’ के नाम से आज भी सुरक्षित है—उस भाषा का आमूलचूल पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया हुआ मूर्द्धन्य विद्वान् भी वेद को समझने में लड़खड़ा जाता है। लौकिक शब्दों की जानकारी के आधार पर—उस समय से लेकर, जब वैदिक व लौकिक पदों में पर्याप्त अन्तर आ गया था, आज तक—वेदों का अर्थ करने के प्रयास में उनका अनर्थ ही होता रहा है।

आज की प्रादेशिक प्राकृत भाषाएँ उसी लौकिक संस्कृत भाषा के अपभ्रंशरूप हैं जो अब से लगभग पाँच सहस्र पूर्व विकृत होनी प्रारम्भ हो गई थी, और अपभ्रंश, पाली, प्राकृत आदि अनेक धाराओं में प्रवाहित होती हुई वर्तमान रूपों में उपलब्ध है। इन प्रादेशिक प्राकृत भाषाओं में नैसर्गिक प्रवाह के साथ बहते हुए अनेक ऐसे पद हैं, जो सीधे वैदिक पदों से वर्तमान रूप में आए हैं। इनके मध्यगत विकारों की नितान्त भी सम्भावना नहीं की जा सकती। उदाहरण के लिए यहाँ

१. उक्त भावना को मनुस्मृति [१।२१] के श्लोक द्वारा इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक् ।

वेदशब्देभ्य एवावौ पृथक्संस्थाश्च निमंभे ॥

केवल एक पद प्रस्तुत है—‘उस्त्रिया’^१। ऋग्वेद में इस पद का अनेक विभक्ति व वचनों में प्रयोग उपलब्ध होता है। निघण्टु में यह गो-नामों में पठित है। यह पद साधारण गाय के लिए न होकर केवल उस गाय के लिए प्रयुक्त माना गया है, जो पहली बार ब्याई हो। लौकिक संस्कृत में इसके लिए ‘गृष्टि’^२ पद का प्रयोग होता रहा है। हिन्दी में आजकल इसके लिए ‘पहलोन’ या ‘पहलोठी’ पदों का प्रयोग होता है। ब्रजभाषा के पर्याप्त विस्तृत प्रदेश में इसके लिए ‘ओसरिया’ पद का प्रयोग है, जो सीधा वैदिक पद का अपभ्रंश है।

वेद का गम्भीर अध्ययन करनेवाले आधुनिक अनुसन्धाता का सुभाव है कि वेद में ‘पुर’ शब्द का अर्थ नगर या ग्राम न होकर वह स्थान है, जहाँ खेत से अन्न (लोक) काटकर गाहने के लिए इकट्ठा किया जाता है; उसे पशु आदि हानि न पहुँचाये, उसके चारों ओर बाड़ (प्रायः कँटीली भाड़ियों आदि की) कर दी जाती है। इसे आजकल लोकभाषा में ‘खलिहान’ कहा जाता है। परन्तु ब्रजभाषा-प्रदेश में इसके लिए ‘पैर’ शब्द का प्रयोग होता है। यदि उक्त सुभाव ठीक हो, तो वह शब्द भी वैदिक ‘पुर’ शब्द का—तदर्थवाचक—सीधा अपभ्रंश माना जा सकता है। ये निर्देश इसी अभिप्राय से किये गये हैं कि वैदिक शब्द लौकिक बोलचाल में आकर धीरे-धीरे किस प्रकार परिवर्तित होते रहे हैं। लौकिक-वैदिक शब्दों और उनके अर्थों के भेदाभेद-विचार के अवसर पर शब्दार्थविषयक, इन परिस्थितियों को दृष्टि से ओझल नहीं करना चाहिए। लोक और वेद में शब्दों का अर्थभेद बताने के लिए जो उदाहरण दिये गये हैं, वे अभेद मान्यता की दशा में विचारणीय हैं। उनमें पहला उदाहरण ‘गो’ पद का है—‘उत्ताना व देवगवा वहन्ति’—देवों की गायें ऊपर को पैर करके चलती हैं। वेद में ‘गो’ पद का प्रयोग गाय पशुविशेष के अतिरिक्त अन्य अनेक अर्थों में हुआ है। प्रस्तुत प्रसंग में ‘गो’ पद का अर्थ है ‘सूर्य-किरण’, जो जहाँ से चलती हैं उधर को सिर और आगे की ओर पैरों की कल्पना की जाती है। इस अर्थ का लोक से कोई भेद नहीं है। पशु-विशेष एक अर्थ सर्वत्र अधिक प्रसिद्ध है; प्रसंगानुसार अन्य अर्थों में भी प्रयोग होता है। किसी कवि की उक्ति है—

यदीच्छसि वशीकर्तुं जगदेकेन कर्मणा ।

परापवादसस्येभ्यो गां चरन्तीं निवारय ॥

यहाँ श्लेष से ‘गो’ पद का प्रयोग ‘वाणी’ अर्थ में हुआ है। इसी प्रकार ‘राजा गां भुनक्ति’ वाक्य में ‘गो’ पद पृथिवी अर्थ में प्रयुक्त है—राजा पृथिवी का भोग

१. निघण्टु (२।११।३) में यह गो-नामों में पठित है।

२. द्रष्टव्य—पाणिनीय अष्टाध्यायी, २।१।६५॥

करता है।

द्वितीय उदाहरण में 'हिरण्यपर्ण' पद को लेकर अर्थभेद प्रकट किया है। वाक्य है—'देवेभ्यो वनस्पते हवींषि हिरण्यपर्णं प्रदिवस्ते अर्थम्' हे सोने के पत्तों-वाली वनस्पति ! देवों के लिए हवियों का वहन करो। यह आलंकारिक वर्णन आहवनीय अग्नि का है। ऊपर को उभरने की समानता के आधार पर इसे 'वनस्पति' नाम दिया गया। जल, वायु आदि देवों को पहुँचाने के इसमें घृत, दुग्ध, दधि, सामग्री आदि हवि-द्रव्यों की आहुति दी जाती है। इसके सुनहरी पत्ते इसकी चमचमाती लपटें हैं। लोकव्यवहृत अर्थ से इसका कोई भेद नहीं है।

तृतीय उदाहरण में घृत के लिए 'मधु' पद का प्रयोग दिखाकर अर्थभेद की आपत्ति प्रकट की है। वाक्य है—'एतद् वं दैव्यं मधु यद् घृतम्'; यहाँ 'मधु' पद को घृत के पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त नहीं किया गया, प्रत्युत यह भाव प्रकट किया गया है कि देवों के लिए घृत ही मधु के समान मीठा, अनुकूल व प्रिय है। यज्ञिय अग्नि में आहुत घृत से देव अधिक प्रसन्न होते हैं। जल, वायु, ओषधि, वनस्पति आदि देवों को शुद्ध, पवित्र एवं अधिकाधिक जीवनी शक्तियों से सम्पन्न होने के लिए घृत सर्वश्रेष्ठ उपादान है। यही भाव उक्त वाक्य में है। इसीलिए वैदिक वाङ्मय में 'आयुर्वै घृतम्' कहा गया है। इसका लोक-व्यवहार से कोई भेद या विरोध नहीं है॥३०॥ (कवि आकृत्यधिकरणान्तर्गत—लोकवेदशब्दतदर्थक्याधिकरणम्—१०)

(आकृत्यधिकरणम्—११)

गत सूत्र के अवतरणिकारूप में पूर्वपक्ष की भावना से तीन जिज्ञासा प्रस्तुत की गई—(१) शब्द जाति का वाचक है, या व्यक्ति का ? (२) लौकिक व वैदिक शब्द एक (समान) ही हैं, अथवा भिन्न ? (३) अभेद होने पर क्या उन शब्दों के अर्थ भी अभिन्न हैं, या भिन्न ? इस बाह्य पूर्वपक्ष को प्रस्तुत कर गत सूत्र द्वारा संख्या २, ३ जिज्ञासा का समाधान किये जाने से वह उत्तरपक्षीय सूत्र है। भाष्यकार ने प्रथम जिज्ञासा के समाधान के लिए इसी सूत्र को पूर्वपक्ष मानकर विचार प्रारम्भ किया। वह केवल सूत्र के प्रथम पद में सन्धिच्छेद के आधार पर किया गया। इस पूर्ववर्तण के सन्दर्भ में जिज्ञासा है—'गो' आदि साधु शब्द जाति के वाचक हैं, अथवा व्यक्ति के ? केवल 'गो' पद उच्चारण करने पर सामान्य गाय (जाति) मात्र का बोध होता है, पर जब 'गो' पद के साथ 'आनय' [लाओ] आदि क्रिया का सम्बन्ध होता है, तब व्यक्तिविशेष (किसी एक गाय) का बोध होता है। जिज्ञासा है—इनमें से कौन-सा ठीक है ? समस्त व्यवहार क्रियासम्बद्ध होने से यही ठीक होगा कि 'गो' आदि शब्द व्यक्ति के वाचक हैं, क्योंकि—

प्रयोगचोदनाऽभावात् अर्थकत्वम् अविभागात् ॥३०॥

[प्रयोगचोदना-अभावात्] कर्मविधि में आकृति—जाति के अभाव से [अर्थकत्वम्] शब्द का—एक व्यक्ति—अर्थ होना ठीक है, [अविभागात्] व्यक्ति से पृथक् आकृति के न होने से ।

कर्मविषयक विधान है—‘व्रीहीन् अवहन्ति’—धान कूटता है । यहाँ ‘व्रीहि’ पद से व्यक्तिरूप विशेष राशि का ग्रहण होता है, समस्त व्रीहिमात्र का नहीं, क्योंकि अवघात (कूटना) अपेक्षित सीमित व्रीहि का सम्भव है, यावन्मात्र व्रीहि का नहीं । अतः शब्द का अर्थ व्यक्ति माना जाना चाहिए, जाति नहीं । विधान से अन्यत्र भी शब्द का आकृति अर्थ मानना युक्त न होगा ; क्योंकि एक शब्द का अनेक अर्थ मानना अन्याय्य है । शब्द का आकृति अर्थ माने बिना भी सामान्य गोमात्र का ‘गो’ पद से बोध होने में कोई बाधा नहीं है, यह बता देने पर कि ऐसी आकृति जिस पशु की हो, वह गौ है । शरीर के ज्ञाता उस प्रकार के अवयव-संस्थान (अंगों के गठन) को देखकर—यह पशु गाय है—जान लेता है । जिस पशु को वह देखता है, और समझ लेता है वह ‘गौ’ है, वहाँ गौ व्यक्तिमात्र दृष्टिगोचर होता है; वह आकृति (सींग, कान, मुख, सासना, पूंछ, खुर आदि से युक्त अंगों का विशिष्ट गठन) व्यक्ति से अतिरिक्त कुछ नहीं । यह आकृति, सामान्य (जाति) का बोध कराती है, इस कारण उसे सामान्य का चिह्न (लिङ्ग) कहा जा सकता है ।^१ जिसके पास दण्ड होता है, उसे ‘दण्डी’ कहते हैं । दण्डी व्यक्ति दण्ड नहीं ; अर्थात् दण्डी शब्द का प्रयोग दण्ड के लिए नहीं होता, दण्ड तो दण्डी का चिह्नमात्र है ; ऐसे ही ‘आकृति’ गोसामान्य का चिह्न है, ‘गो’ पद का अर्थ नहीं । अतः शब्द का अर्थ व्यक्ति मानना युक्त है, आकृति नहीं ॥३०॥

व्यक्ति ही शब्द का अर्थ है, इसमें अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

अद्रव्यशब्दत्वात् ॥३१॥

[अ-द्रव्यशब्दत्वात्] (शब्द का अर्थ आकृति—जाति मानने पर) द्रव्य—व्यक्ति शब्द का वाचक न होने से अन्वय सम्भव न होगा ।

यदि शब्द का अर्थ आकृति—जाति है, तो ‘षड् देया द्वादश देयाश्चतुर्विंशति-देयाः’ छह गाय दक्षिणा में दे, बारह दे, चौबीस दे, इत्यादि वाक्यों में छह आदि संख्या का अन्वय आकृति या जाति के साथ सम्भव नहीं, क्योंकि आकृति या जाति समान है, एक है ; उसका एकाधिक किसी संख्या के साथ अन्वय असम्भव है ।

१. द्रष्टव्य—गौतमीय न्यायसूत्र, तथा वात्स्यायनभाष्य [२।२।६८] पञ्चनदीय मुद्रशनाचार्यकृत प्रसन्नपदा टीका संस्करण ।

अतः व्यक्ति ही शब्द का अर्थ मानना चाहिए। व्यक्ति अनेक हैं, प्रत्येक संख्या के साथ उसका अन्वय सम्भव है ॥३१॥

इसी मान्यता की पुष्टि में अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

अन्यदर्शनाच्च ॥३२॥

[अन्यदर्शनात्] अन्य के देखे जाने से [च] भी, व्यक्ति शब्द का अर्थ है, जाति नहीं।

वैदिक वाङ्मय में वाक्य है—‘यदि पशुरुपाकृतः पलायेत, अन्यं तद्वर्णं तद्वय-समालभेत’—उपाकृत पशु यदि भाग जाय, तो उसी वर्ण और उसी आयुवाले अन्य पशु का आलभन (ग्रहण) करे। उपयुक्त अवसर पर मन्त्रोच्चारणपूर्वक कुशा से पशु का स्पर्श करना उसका ‘उपकरण’ कहा जाता है। इस प्रकार उपाकृत पशु ग्रहण में बाँधे जाने से पूर्व यदि भाग जाय, तो उसी वर्ण और उसी आयुवाले अन्य पशु को उसके स्थान पर उपाकरण कर यज्ञ का शेष कार्य सम्पन्न किया जाता है। प्रसंग में ज्ञातव्य यह है कि ‘पशु’ शब्द का अर्थ यदि जाति है, तो जाति का न तो भागना सम्भव है, और जाति के एक होने से न उसका ‘अन्य’ पद के साथ अन्वय सम्भव है। क्योंकि शब्द का अर्थ जाति होने पर यह कैसे कहा जायगा कि यह अन्य है, जबकि दोनों पशुओं की जाति एक है? फलतः शब्द का अर्थ ‘व्यक्ति’ माना जाना युक्त है; उसमें भाग जाना भी सम्भव है, और व्यक्तियों के परस्पर भिन्न होने से ‘अन्य’ पद के साथ ‘पशु’ पद का अन्वय भी युक्तियुक्त है ॥३२॥

पूर्वपक्षरूप उक्त जिज्ञासा का आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

आकृतिस्तु क्रियार्थत्वात् ॥३३॥

[आकृतिः] आकृति, शब्द का वाच्य है, [तु] यह पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है, अर्थात् व्यक्ति को शब्द का वाच्य नहीं माना जाना चाहिए। हेतु दिया [क्रियार्थत्वात्] क्रियाप्रयोजन होने से।

वैदिक वाङ्मय में वाक्य है ‘इयेनचितं चिन्वीत’^२ इयेन के समान, यज्ञिय स्थण्डिल (चबूतरा = वेदि) का चयन—ईंट आदि से निर्माण—करे। विचारणीय है—‘इयेन’ पद का वाच्य व्यक्ति है, या आकृति? निश्चित है—यहाँ इयेन पद ‘आकृति’ का वाचक है। व्यक्तिवादी को भी यहाँ इयेन पद आकृतिवाचक मानना होगा। यदि ऐसा न माना जाय, तो उक्त वाक्य का कोई अर्थ ही सिद्ध न होगा।

१. द्रष्टव्य—कात्यायन श्रौतसूत्र, २५।६।१॥

२. द्रष्टव्य—तै० सं०, ५।४।१॥

इसके विवेचन के लिए प्रश्न उठता है—क्या श्येन, चयनक्रिया के साथ करणरूप से अन्वित होगा, अथवा कर्मरूप से ? तात्पर्य है—श्येन चयनक्रिया का करण—साधन है ? अथवा कर्मक्रिया का विषय—लक्ष्य है ? पहला विकल्प अयुक्त है, क्योंकि श्येन पक्षियों से चयनक्रिया का होना असम्भव है। ऐसा कथन उपहासमात्र होगा। इसके अतिरिक्त पाणिनीय^१ व्यवस्था के अनुसार 'श्येनचित्' पद की सिद्धि श्येन को कर्म कारक मानकर ही उपपन्न होती है। कर्म (श्येन) उपपद होने पर 'चि' धातु ये क्विप् प्रत्यय होकर 'श्येनचित्' पद सिद्ध होता है।

यहाँ यह भी ध्यान देने की बात है—जब 'श्येनचित् चिन्वीत' वाक्य सर्वप्रथम अर्थबोध के लिए उच्चारण किया गया, तब यदि श्येन पद का अर्थ व्यक्ति समझा गया होता, तो वह व्यक्तिविशेष पक्षी तो कालान्तर में रहा नहीं; तब यह वाक्य निरर्थक हो जायगा, उसके वाच्य अर्थ का अभाव हो जाने के कारण यदि 'श्येन' पद से हम अब भी उस पक्षी के समान अन्य पक्षियों का बोध कर सकते हैं, तो इसका तात्पर्य है—प्रथम उच्चारण में भी इस पद का अर्थ व्यक्ति नहीं था, प्रत्युत आकृति अर्थ अभिप्रेत रहा। उस पक्षी का—अन्य समस्त पक्षियों के साथ—सादृश्य 'आकृति' पर ही आधारित है।

इसी प्रकार 'श्येनचित्' नामक स्थण्डिल (यज्ञवेदि) के चयन का अर्थ है—श्येन आकृति की वेदि का निर्माण। यह निर्माण ईंट आदि उपादान-तत्त्वों से किया जाता है। यहाँ चयनक्रिया का कर्म—'श्येन' व्यक्ति नहीं है। उपादान-तत्त्वों से किसी श्येन व्यक्ति का निर्माण नहीं होता; प्रत्युत निर्माण इस प्रकार किया जाता है कि वहाँ वेदि, श्येन पक्षी की आकृति के रूप में अभिव्यक्त हो। जो वादी केवल व्यक्ति को शब्द का अर्थ कहता है, वेदि के निर्माण में क्या वह समस्त व्यक्तियों के सादृश्य का होना स्वीकार करेगा ? अथवा किसी एक व्यक्ति का ? एक जगह समस्त व्यक्तियों का सादृश्य सम्भव न होने से पहला पक्ष त्याज्य है। एक व्यक्ति का सादृश्य माने जाने पर उस व्यक्ति का अभाव हो जाने पर चयन-क्रिया के अनुष्ठान का ही लोप हो जायगा। जिस व्यक्ति का सादृश्य वैदिक वाक्य के तात्पर्य के अनुसार अभीष्ट है, वह व्यक्ति तो अब रहा नहीं, तब उसके सादृश्य को चयनक्रिया में कैसे उभारा जा सकेगा ? इसलिए यही मानना निरापद होगा कि शब्द का अर्थ 'आकृति' है, जो सामान्य रूप से समस्त (—अतीत, वर्तमान, अनागत) व्यक्तियों में एक जातिविशेष को अभिलक्षित करती है, प्रकट करती है।

वस्तुतः शब्द का अर्थ व्यक्ति और आकृति दोनों हैं। किसी भी एक अर्थ को मानकर व्यवहार का सामञ्जस्य सम्भव नहीं। शब्दों या वाक्यों के प्रयोग एवं

वक्ता के तात्पर्य से यह स्पष्ट हो जाता है—कहाँ शब्द का अर्थ व्यक्ति अभिप्रेत है, कहाँ आकृति। एक अर्थ के कथन के अवसर पर दूसरा अर्थ केवल तिरोहित—अप्रकट रहता है; ऐसा नहीं कि वह शब्द का अर्थ ही न हो। शब्द का अर्थ वे सब हैं, आवश्यकतानुसार उभार में आते हैं। इसी आशय से न्यायसूत्र तथा वात्स्यायन-भाष्य आदि व्याख्या-ग्रन्थों में 'व्यक्ति, आकृति, जाति' सभी को शब्द का वाच्य माना है।^१ आचार्य पतञ्जलि ने भी व्याकरण-महाभाष्य में इस विषय का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है^२ ॥३३॥

गत ३०-३२ सूत्रों द्वारा—शब्द का वाच्य आकृति मानने में—जो न्यूनता व दोष बताये हैं, सूत्रकार उनके समाधान के लिए प्रथम उनका स्मरण कराता है—

न क्रिया स्यादिति चेदर्थान्तरे विधानं न द्रव्यमिति चेत् ॥३४॥

इस सूत्र के तीन भाग हैं—(१) 'न क्रिया स्यादिति चेत्'; 'न स्यादिति चेत्' का सम्बन्ध दूसरे वाक्य के साथ भी है, तब दूसरा वाक्य बनता है—(२) 'अर्थान्तरे विधानं न स्यादिति चेत्'; तीसरा वाक्य है—(३) 'न द्रव्यमिति चेत्'। यथाक्रम इनका अर्थ इस प्रकार है—

१. यदि शब्द का अर्थ 'आकृति' माना जाता है, तो 'ब्रीहिन् प्रोक्षति' आदि वाक्यों द्वारा विहित प्रोक्षणक्रिया न होगी। ऐसा यदि कहो, तो (वह ठीक नहीं; यह अगले सूत्र के साथ सम्बन्ध है)। (इसका विवरण सूत्र ३० में देखें)।

२. अर्थान्तरे—द्रव्यान्तरे में विधान न होगा, ऐसा यदि कहो, तो—(वह ठीक नहीं; अगले सूत्र के साथ सम्बन्ध है)। इसका विस्तृत विवरण सूत्र ३२ में देखें।

३. नहीं जाने जायेंगे, गो आदि द्रव्य षट् आदि संख्याओं से युक्त, ऐसा यदि कहो, तो (वह ठीक नहीं, आगे के सूत्र से सम्बन्ध है।) इसका विवरण

१. न्यायसूत्र २।२।६५—'व्यक्त्याकृतिजातयस्त पदार्थः।' अत्रैव वात्स्यायन-भाष्यम्—'तु शब्दो विशेषणार्थः। किं विशिष्यते? प्रधानाङ्गभावस्यानियमेन पदार्थत्वमिति। यदा हि भेदविवक्षा विशेषगतिश्च, तदा व्यक्तिः प्रधानम्, अङ्गन्तु जात्याकृति। यदा तु भेदोऽविवक्षितः सामान्यगतिश्च, तदा जातिः प्रधानम्, अङ्गन्तु व्यक्त्याकृति। तदेतद्बहुलं प्रयोगेषु।' (यदा पुनः प्रथमं जातिपरिचयोऽपेक्ष्यते तदा प्रधानमाकृतिः, अङ्गन्तु व्यक्तिजाती, उ० वी० शा०)।

२. द्रष्टव्य—'संख्याणामेकशेष एकविवक्तौ' [अष्टा० १।२।६४] सूत्र पर पातञ्जल महाभाष्य।

सूत्र ३१ के भाष्य में देखें।

इसके अनुसार सम्पुटित सूत्रार्थ निम्न प्रकार होगा—

आकृति को शब्द का अर्थ मानने पर प्रोक्षण (भिमोना), अवहनन (कूटना) आदि क्रिया न होंगी; अर्थान्तर में—प्रथम उपाकृत पशु से अन्य पशु में विधान न होगा; तथा गो आदि द्रव्य में छह, बारह आदि संख्याओं का अन्वय न होगा; ऐसा यदि कहो, तो वह ठीक नहीं। सूत्र में 'चेत्' पद के सहयोग से अपेक्षित 'न' पद का अध्याहार कर सूत्रार्थ सम्पन्न होता है ॥३४॥

उक्त कठन ठीक न होने का कारण सूत्रकार ने बताया—

तदर्थत्वात् प्रयोगस्याविभागः ॥३५॥

[तद्-अर्थत्वात्] शब्द के आकृति अर्थवाला होने से [प्रयोगस्य] प्रयोग—प्रोक्षण आदि कर्म के अनुष्ठान में [अ-विभागः] कोई बाधा नहीं आती।

शब्द का 'आकृति' अर्थ मानने पर प्रोक्षण आदि कर्म के अनुष्ठान में कोई बाधा नहीं आती। कारण है—आकृति यज्ञिय द्रव्य को विशेषित करती है, निर्धारित व सीमित करती है। तात्पर्य है—'ब्रीहि' पद उच्चारण होने पर तत्काल जो अर्थ अभिव्यक्त होता है, वह 'ब्रीहि' बनावट है, अवयवसंस्थानविशेष = द्रव्यावयवों का एक विशेष संघटन; ऐसा संघटन, जो अन्य किसी द्रव्य में उपलब्ध नहीं, सम्भव नहीं, उसी बनावट का नाम 'आकृति' है। यही आकृति ब्रीहि द्रव्य को अन्य समस्त द्रव्यों से विशेषित करती है, भिन्न करती है। यदि 'ब्रीहि' पद का उच्चारण करते ही वह आकृति न उमरे, तो ब्रीहि द्रव्य (व्यक्ति) का बोध होना असम्भव है। यह ठीक है कि प्रोक्षण उस आकृति या बनावट का नहीं होता, द्रव्य का होता है; पर उस द्रव्य का निर्धारण आकृति-ज्ञान के बिना सम्भव नहीं; अतः 'ब्रीहिन् प्रोक्षति' आदि वाक्यों में आकृति-वाचक ब्रीहि आदि पदों को आकृति के आश्रयभूत द्रव्य का उपलक्षण समझना चाहिए। इससे शब्द का अर्थ आकृति मानने पर भी कर्म—क्रियानुष्ठान में कोई बाधा नहीं आती।

इसी प्रकार 'उपाकृतः पशुः पलायेत' इत्यादि वाक्य में 'पशु' पद आकृति-वाचक माने जाने के कारण ही समान वर्ण, समान आयुवाले अन्य द्रव्य = पशु का निर्धारण किया जाना सम्भव है।

'षड् गानो देयाः' इत्यादि वाक्यों में भी आकृति-वाचक 'गो' पद आकृति के आश्रयभूत द्रव्य का उपलक्षण होने से संख्या के अन्वय में कोई बाधा नहीं है।

वस्तुतः शब्द के 'आकृति-जाति-व्यक्ति' तीनों अर्थ अभीष्ट हैं, परन्तु शब्दोच्चारण होने पर—प्रसंग आदि निमित्तान्तर-सापेक्ष—जो अर्थ अभिव्यक्त होता है, उसी से व्यवहार सम्पन्न किया जाता है; अन्य अर्थ तिरोहित रहते हैं। ऐसा नहीं कि वे शब्द के अर्थ न हों। व्यवहार्य एक अर्थ की अभिव्यक्ति में अन्य

अर्थ का भाश्रय लेकर विवाद खड़ा करना 'छल'-प्रयोग की कोटि में आ जाता है। शास्त्रीय चर्चा में इससे बचना ही श्रेयस्कर है। पर शिष्य-शिक्षण के लिए सहज मानकर आचार्य इसे यथावसर प्रस्तुत करते रहते हैं ॥ ३५ ॥

इति जैमिनीयमीमांसादर्शनविद्योदयभाष्ये
प्रथमाध्यायस्य स्मृतिपादाभिधस्तृतीयः पादः ।

अथ प्रथमाध्याये चतुर्थः पादः

(उद्भिदादिशब्दानां यागनामधेयताऽधिकरणम्; उद्भिदधिकरण
वा—१)

विधिवाक्यों का प्रामाण्य अपूर्व अर्थ के विधान से, अर्थवाद-वाक्यों का प्रामाण्य विधिवाक्यों के स्तुतिपरक होने से तथा मन्त्र का प्रामाण्य अनुष्ठेय अर्थ के प्रकाशक होने से गत अधिकरणों द्वारा प्रतिपादित किया गया। इस पृष्ठभूमि में शिष्य जिज्ञासा करता है—‘उद्भिदा यजेत, बलभिदा यजेत, अभिजिता यजेत, विश्वजिता यजेत’ इत्यादि वैदिक वाङ्मयगत वाक्यों को क्या विधिवाक्य अर्थात् अपूर्व अर्थ का विधायक वाक्य माना जाय ? अथवा इन्हें गुणविधि—अर्थात् अन्य प्रकृतयाग में गुणविशेष का निर्देश करनेवाला माना जाय ? इनमें प्रथम सिद्धान्त-पक्ष है, दूसरा पूर्वपक्ष है। जिज्ञासा के पूर्ण समाधान के लिए सूत्रकार ने प्रथम पूर्वपक्ष को प्रस्तुत किया—

उक्तं समाप्नायैदमर्थं तस्मात् सर्वं तदर्थं स्यात् ॥१॥

[उक्तम्] कह दिया है [समाप्नायैदमर्थम्] समाप्नाय—वेद का यह कर्म प्रयोजन होना, [तस्मात्] इसलिये [सर्वम्] समस्त वेद [तदर्थम्] कर्म के लिए अर्थात् विधि, स्तुति, अनुष्ठेय अर्थ के प्रकाशन के लिए [स्यात्] होना चाहिए।

मीमांसा प्रथम अध्याय के दूसरे पाद में समस्त वेद का प्रयोजन याग का निष्पन्न किया जाना बताया है। वह विधि, स्तुति, अनुष्ठेय अर्थ का प्रकाशन, इन तीन विधाओं में माना गया है। वेद का एक भाग विधिरूप है, जैसे—‘सोमेन यजेत’ यह अपूर्व अर्थात् पहले से अविदित अर्थ का ज्ञान कराता है। यहाँ ‘सोम’ नामक याग तथा यागसाधन सोमद्रव्य, दोनों किसी अन्य प्रकार से ज्ञात नहीं हैं; अतः इस वाक्य से सोमद्रव्य-सहित याग का विधान आचार्यों ने स्वीकार किया है—‘सोमद्रव्यवता यागेन इष्टं भावयेत्’—सोमद्रव्य से सम्पन्न होनेवाले सोमयाग से अभिलषित की भावना करे।

वेद का दूसरा भाग अर्थवाadrूप है। यह अनुष्ठेय विधि की स्तुति द्वारा उसमें रुचि उत्पन्न करता है। जैसे—‘वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता’ वायु अतिशीघ्र गति-वाला देवता है। तीसरा मन्त्रभाग वह है, जो कर्मानुष्ठान-काल में विहित अर्थ को प्रकाशित करता है, जैसे—‘वहिर्देवसदनं दामि’—देवसदन बहि (कुश, घास) को काटता हूँ। काटने की क्रिया करते समय यह मन्त्र बोला जाता है। ‘उद्भिदा यजेत’ इत्यादि वाक्य भी इन्हीं तीन विधाओं में से किसी में अन्तर्हित होने चाहिए।

विचार करने पर जाना जाता है, ये वाक्य अर्थवाद के अन्तर्गत नहीं आते, क्योंकि अर्थवाद के प्रयोजन को पूरा नहीं करते। अर्थवाद किसी विधिवाक्य के शेष (=अङ्ग) होते हैं। उद्भिदादि वाक्य किसी अन्य विधि के शेष नहीं हैं। इनका अन्तर्भाव मन्त्रभाग में भी नहीं हो सकता; क्योंकि किसी क्रिया के प्रयोग-काल में उसके अर्थ का प्रकाशन ये वाक्य नहीं करते। तब परिशेष से इन्हें गुण-विधि मानना चाहिए। गुणविधि क्या है? इसे समझ लेना उपयुक्त होगा।

गुण का विधान करनेवाला वाक्य ‘गुणविधि’ कहा जाता है। जहाँ याग आदि कर्म अन्य प्रकार—किसी विधिवाक्य अथवा प्रकरण आदि द्वारा—प्राप्त है, उस याग के उद्देश्य से जिस वाक्य द्वारा—किसी विशेष ‘गुण-साधन द्रव्य आदि का—विधान किया जाय, ऐसा वाक्य ‘गुणविधि’ कहा जाता है, जैसे—‘अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः’ वाक्य से विहित अग्निहोत्र होम-कर्म प्राप्त है। उसी होम-कर्म को लक्ष्य कर कहा गया—‘दध्ना इन्द्रियकामस्य जुहुयात्’—इन्द्रियों की दृढ़ता व सुस्थिरता की कामनावाले व्यक्ति का वह होम-कर्म दही से करे। यहाँ प्रकारान्तर से प्राप्त होम-कर्म में उसके साधनभूत दधिद्रव्यरूप गुणविशेष का विधान प्रस्तुत वाक्य द्वारा किये जाने से यह ‘गुणविधि’ है।

इसी प्रकार ‘उद्भिदा यजेत’ इत्यादि वाक्य ताण्ड्यब्राह्मण में पठित हैं। सोमयागों के ज्योतिष्टोम-प्रसंग में इनका निर्देश है। ज्योतिष्टोम प्रकृतिभूत याग प्रकारान्तर से प्राप्त है। उक्त वाक्य उसके साधनभूत उद्भिद् आदि

१. ‘गुण’ पद विभिन्न शास्त्रों में नितान्त पारिभाषिक है। व्याकरणशास्त्र में ‘अ, ए, ओ’ ये तीन वर्ण गुण हैं। न्याय-वैशेषिक दर्शन में ‘गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द’ आदि चौबीस गुण हैं। राजनीतिशास्त्र में ‘सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय, द्वैधीभाव’ ये छह गुण कहे जाते हैं। धर्मशास्त्र में दया, क्षमा, धैर्य, वदान्यता आदि गुण माने जाते हैं। मीमांसाशास्त्र में प्रसंगागत ‘गुण’ पद का ऐसा कोई अर्थ अभीष्ट नहीं है। यहाँ केवल कर्म-सम्पादन के लिए निर्दिष्ट साधनभूत द्रव्यविशेष ‘गुण’ पद से कहे गये हैं।

२. ताण्ड्य ब्रा०, १६।७।३॥

द्रव्यों का गुणविशेष के रूप में विधान करते हैं। इस प्रकार इन वाक्यों को गुण-विधि के अन्तर्गत मानना चाहिए। 'उद्भिद्' पद का तात्पर्य है—भूमि को फाड़कर उगनेवाले लता-ओषधि-वनस्पति आदि द्रव्य, जो याग के साधन हैं ॥१॥

उक्त विवेचन के अनुसार 'उद्भिदा यजेत' इत्यादि वाक्यों में गुणविधि मानना प्राप्त होने पर सूत्रकार ने सिद्धान्तपक्ष प्रस्तुत किया—

अपि वा नामधेयं स्याद् यदुत्पत्तावपूर्वमविधायकत्वात् ॥२॥

[अपि वा] पद पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के द्योतक हैं—उक्त वाक्यों में गुण-विधि मानना युक्त नहीं। तब क्या युक्त है?—[नामधेयम्] नामधेय मानना युक्त [स्यात्] है; उद्भिद् आदि पद कर्म के नाम हैं। [यद्-उत्पत्तौ] जिसकी उत्पत्ति में, जिसके निर्देश में [अपूर्वम्] अपूर्व—पहले से अविदित कर्म का विधान होता है। उद्भिद् आदि पद यागविशेष के नाम हैं, ऐसी सम्भावित स्थिति में इन पदों के [अविधायकत्वात्] गुण का विधायक न होने से।

यह प्रथम स्पष्ट कर दिया गया है—गुणविधि वहाँ स्वीकार्य है, जहाँ मुख्य कर्म प्रकारान्तर—अन्य विधिवाक्य आदि के द्वारा प्राप्त है, जैसे—अग्निहोत्र होम 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' वचन से विधान किया हुआ प्रथम प्राप्त है। उसी होम के उद्देश्य से इन्द्रिय-कामनावाले पुरुष का 'दध्ना इन्द्रियकामस्य जुहुयात्'—दही द्रव्य से होम किया जाय,— इस वचन में दधि द्रव्य का विधान गुणविधि है। इसके विपरीत प्रस्तुत प्रसंग में 'उद्भिद्' आदि पदों से जो अर्थ जाना जाता है, वह अन्य किसी वचन के द्वारा पहले से अविदित है, अर्थात् अन्य किसी विधिवाक्य आदि से उसका विधान नहीं हुआ है, अतः इन वाक्यों को गुणविधि मानना अन्याय्य होगा।

यदि इन वाक्यों को गुणविधि माना जाता है, तो इसमें वैयधिकरण्य दोष भी है। उस दशा में 'उद्भिद्' पद यागविशेष का नाम न होकर प्रकारान्तर से प्राप्त याग में उसके साधनभूत उद्भिद्-द्रव्य के विधान-रूप से गुण का विधायक होगा। ऐसी स्थिति में 'उद्भिदा यजेत' वाक्य के 'उद्भिद्' पद में मतुबर्थ की कल्पना करनी होगी—'उद्भिद्वता यागेन इष्टं भावयेत्'—उद्भिद् साधन-सामग्रीवाले याग से अभीष्ट प्राप्ति की कामना करे। 'उद्भिद्' पद का 'यजेत' के साथ अन्वय करने के लिए वहाँ लक्षणा द्वारा 'मनुबर्थ की कल्पना करना

१. 'उद्भिदा यजेत' इत्यादि वाक्यों को गुणविधि मानने पर उद्भिद् द्रव्य का याग के साथ सीधा सामानाधिकरण्य सम्पन्न न होने की दशा में 'उद्भिद्' पद का अर्थ 'उद्भिद् द्रव्यवान् याग' ऐसा करना होगा। जहाँ शब्द के साथ

वैय्यधिकरण्य दोष है। जब कोई पद अन्वित अर्थ का बोध कराने में पूर्ण समर्थ है, तब वहाँ व्यर्थ लक्षणामूलक कल्पना करना संगत नहीं माना जाता।

‘उद्भिद्’ आदि पद यागविशेष का नाम माने जाने पर ऐसा कोई दोष सामने नहीं आता। ‘उद्भिदा यजेत’ वाक्य में ‘यजेत’ पद का अर्थ है—‘यागेन इष्टं भावयेत्’; यहाँ ‘याग’ करण है और ‘उद्भिदा’ आदि पद भी तृतीया विभक्ति के साथ निर्देश से करण हैं। इस प्रकार ‘उद्भिदा यागेन इष्टं भावयेत्’ रूप में अन्वय करने पर सामानाधिकरण्य का सामञ्जस्य हो जाता है। यदि उक्त वाक्यों को याग का नामधेय न मानकर इन्हें गुणविधि माना जाता है, तो उद्भिद् आदि पदों को याग के साधन-द्रव्य का वाचक माने जाने से वाक्य में सामानाधिकरण्य के सामञ्जस्य के लिये ‘उद्भिद्’ आदि पदों में मत्वर्थलक्षणा के सिवाय और कोई मार्ग नहीं है। श्रुति तथा लक्षणा के परस्पर प्रतियोगिता में आने पर श्रुति बलवती मानी जाती है। तब लक्षणा अपाहत होकर हट जाती है, और श्रुतिमूलक सामानाधिकरण्य के बल पर उद्भिद् आदि पद याग के नामधेय हैं, यह निश्चित होता है।

इस विवेचन के अनुसार यह आक्षेप भी निराधार होगा कि उक्त वाक्य नामधेय का विधान करते हैं, अथवा याग का? एक वाक्य—एक का ही विधायक हो सकता है। यदि नामधेय का विधान करता है, तो याग का विधान न होगा। यदि याग का विधान करता है, तो नामधेय का विधान न होगा। दोनों का विधान मानने पर वाक्यभेद-दोष प्रसक्त होगा। यह आक्षेप इसलिये निराधार है, क्योंकि ये पद नामधेय का विधान कहीं करते; विधान तो याग का करते हैं, नामधेय तो इनका उक्त पदों से ही अभिव्यक्त हो जाता है। ‘उत्’ शब्द के सामर्थ्य और ‘भिद्’ शब्द के सामर्थ्य से ‘उद्भिद्’ पद क्रिया का वाचक है। इस कर्म से किसी का उद्भेदन—प्रकाशन किया जाता है। इसी प्रकार बल-प्रकाशन से ‘बलभिद्’ अभिमुख होने पर जय से ‘अभिजित्’, विश्व के जय से ‘विश्वजित्’ आदि यागविशेषों के नाम हैं—यह सिद्धान्त है ॥२॥ (इति उद्भिदादिशब्दानां यागनामधेयताऽधिकरणम्—१)।

‘मतुप्’ प्रत्यय का योग न होने भर भी अर्थ-सामञ्जस्य के लिए उसके (मतुप् प्रत्यय के) अर्थ को स्वीकार किया जाता है, उसे ‘मत्वर्थलक्षणा’ कहते हैं, जैसे ‘यष्टीः भोजय’ वाक्य में यष्टि (लाठी) को भोजन कराना सम्भव न होने से उसका अर्थ ‘यष्टिमतः’ किया जाता है।

- हलायुधकृत ‘मीमांसाशास्त्रसर्वस्व’ में गत दो सूत्रों पर यथाक्रम पृथक् दो अधिकरणों का निर्देश निम्न प्रकार किया है—

(क) उद्भिदादिशब्दानां यागनामतया प्राप्ताध्याधिकरणम् ॥

(ख) उद्भिदादिशब्दानां यागनामधेयताऽधिकरणम् ॥

(चित्रादिशब्दानां यागनाम^१धेयताऽधिकरणम् । चित्राज्याधिकरणं वा—२)

गत अधिकरण में 'उद्भिद्' आदि यौगिक शब्दों के विषय में विवेचन प्रस्तुत किया गया। इस परिप्रेक्ष्य में शिष्य जिज्ञासा करता है—कतिपय पद यौगिक न होकर गुण-शब्द एवं जाति-शब्द वैदिक वाङ्मय में प्रयुक्त हैं, जैसे—'चित्रया यजेत पशुकामः', त्रिवृद् बहिष्पवमानम्, पञ्चदशान्याज्यानि, सप्तदश पृष्ठानि—पशु-कामनावाला चित्रा से यजन करे, बहिष्पवमान त्रिवृत् होता है, पन्द्रह आज्य होते हैं, सत्रह पृष्ठ होते हैं। यहाँ चित्रा और पवमान गुण-शब्द हैं, आज्य और पृष्ठ जाति-शब्द हैं। जिज्ञासा है—ये गुणविधि हैं या कर्म के नाम हैं? कर्म के नाम से ये कहीं प्रसिद्ध नहीं हैं; फलविशेष की कामना से मुख्य याग में प्रवृत्ति के प्रेरक हैं, अतः ये गुणविधि माने जाने चाहिए। जैसे—प्रकारान्तर (= अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः) से होमयाग प्राप्त है, 'दध्ना इन्द्रियकामस्य जुहुयात्' से केवल 'दधि' गुण विधान होने से यह गुणविधि है; इसी प्रकार 'अग्निषोमीयं पशुमालभेत' से पशुमालम्भन प्राप्त है; 'चित्रया यजेत' से केवल चित्रारूप गुण का विधान होने से इन्हें गुणविधि मानना उपयुक्त होगा। आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

यस्मिन् गुणोपदेशः प्रधानतोऽभिसम्बन्धः ॥३॥

[यस्मिन्] जिस वाक्य में गुणविधि या नामधेय का सन्देह हो, और उसमें [गुणोपदेशः] गुण का उपदेश—निर्देश हो, उसका [प्रधानतः] प्रधान धात्वर्थ के साथ [अभिसम्बन्धः] अभीष्ट सम्बन्ध होता है। 'यज्' धात्वर्थ 'याग' कर्म के साथ सम्बन्ध का तात्पर्य है—धात्वर्थ से सम्बद्ध वाक्यगत पद कर्मविशेष का नाम होता है।

इसके उदाहरणरूप में वाक्य है—'चित्रया यजेत पशुकामः'। इस वाक्य में चित्रगुण का विधान स्त्रीपशुविषयक है। यह विधान 'अग्निषोमीयं पशुमालभेत' वाक्यगत पशुविषयक होना सम्भव नहीं, लिङ्गभेद इसका नियामक है। इसी आधार पर उसके फल में भी यह विधान नहीं होगा। अतः अग्निषोमीय याग का

१. 'चित्रादिशब्दानां यागनामताधिकरणम्—२।' इत्येव पाठः। सुबोधिनी वृत्ति, रामेश्वरसुरिकृत। 'मीमांसाशास्त्रसर्वस्व' में उक्त पाठ के साथ इसे तीसरा अधिकरण लिखा है।

२. द्रष्टव्य—तै० सं० २।४।६॥ अगले तीनों वाक्यों के लिए द्रष्टव्य—ताण्ड्य ब्रा० २०।१।१॥

इसे गुणविधि न मानकर कर्मविशेष का नाम मानना ही युक्त होगा ।

यदि इसे गुणविधि माना जाता है, तो इसमें वाक्यभेद-दोष का प्राप्त होना अनिवार्य है । गुणविधि मानने की दशा में 'अग्निषोमीयं पशुमालभेत' वाक्य के अनुसार पहले तो नरपशु की प्रप्ति में स्त्रीपशु का विधान होगा ; उसके अतिरिक्त पशुरूप फल का विधान मानना होगा ; फिर चित्रगुण का विधान होगा । एक ही वाक्य से तीनों का विधान सम्भव नहीं । अतः वाक्यभेद की स्थिति अनिवार्य होगी, जो शास्त्रीय दृष्टि से दोष है । अतः इसे कर्म का नाम मानना ही निर्दोष तथ्य है ।

दूसरा उदाहरण इस विषय में 'त्रिवृद् बहिष्पवमानम्' दिया गया है । पवमान अर्थवाले मन्त्रों का जिस स्तोत्र में गान किया जाता है, वह पवमान स्तोत्र है । यह गान सदोमण्डप से बाहर किया जाता है, अतः इसका नाम बहिष्पवमान है । ज्योतिष्योम याग में 'सदस्' एक शालाविशेष का नाम है, जहाँ बैठकर ऋत्विज् स्तोत्रगान करते हैं । उसके मध्य में औदुम्बरी (गूलर वृक्ष की) शाखा गाड़ी जाती है, जो पूरे एक वस्त्र से लपेट दी जाती है । उसको स्पर्श कर उद्गाता स्तोत्रगान करते हैं ; वह 'सदोमण्डप' कहा जाता है । उससे बाहर होकर पवमान-स्तोत्र किया जाता है, अतः यह बहिष्पवमान है । जिन ऋचाओं का गान किया जाता है, वे सामवेद उत्तरार्चिक के प्रथम अध्याय के प्रथम खण्ड की नौ ऋचा हैं । उनमें यथाक्रम प्रत्येक तीन ऋचाओं का एक वर्ग है । स्तोत्रगान करते समय प्रत्येक वर्ग का तीन बार क्रमिक उच्चारण किया जाता है । इस स्थिति को 'त्रिवृत्' पद से स्पष्ट किया है । तीन ऋचाओं की तीन बार वर्तनी (क्रमिक उच्चारण करना) 'त्रिवृत्' है । इस रूप में 'बहिष्पवमान' एक कर्म-विशेष का नाम है, किसी अन्य कर्म का गुणविधि नहीं ।

इस विषय में तीसरा उदाहरण 'पञ्चदशान्याज्यानि' दिया है । पन्द्रह आज्य होते हैं । 'आज्य' पद मूल 'आजि' पद से बना है । 'आजि' पद का लोक-प्रसिद्ध एक अर्थ 'युद्ध' अथवा 'युद्धभूमि' है । दूसरा अर्थ है—वह सीमा या मर्यादा, जिसको प्रथम निर्धारित कर लोग उस तक—मन्द या तीव्रगति से चलकर—प्राप्त होते हैं । प्रस्तुत प्रसंग में दूसरा अर्थ अभिप्रेत है । उक्त वाक्य आज्यों में पञ्चदश संख्या का विधान करता है—आज्य पन्द्रह होते हैं । 'आज्य' यह एक कर्मविशेष का नाम है, यह—'यदाजिमीयुस्तद् आज्यानाम् आज्यत्वम्' (जिस कारण मर्यादा को प्राप्त हुए, वह आज्यों का आज्यत्व है)—इस अर्थ-वाद-वाक्य से सिद्ध है । अर्थवाद किसी विहित कर्म-विषयक होता है । अन्य कोई विधायक वाक्य न होने से यह पञ्चदश संख्या विशिष्ट आज्य का विधायक है । वस्तुतः आज्य को उद्देश कर उसमें पञ्चदश संख्या का विधान उक्त वाक्य से किया जाता है । आज्यस्तोत्र कर्म में सामवेद उत्तरार्चिक, प्रथम अध्याय के

द्वितीय खण्ड की तीन-तीन ऋचाओं का एक वर्ग बनाकर गान के लिए उपयोग किया जाता है। यदि इसे गुणविधि माना जाय, तो आज्यों का स्तोत्रों के साथ सम्बन्ध तथा पञ्चदश संख्या का सम्बन्ध, इन दोनों अर्थों का विधान एक वाक्य से किया जाना अशक्य होगा। इससे वाक्यभेद-दोष की आपत्ति स्पष्ट है।

चौथा उदाहरण इस प्रसंग में 'सप्तदश पृष्ठानि' है। पृष्ठ नामक कर्म का संकेत ताण्ड्य ब्राह्मण [७।८।१] में उपलब्ध होता है। शान्तर भाष्य में 'पृष्ठः स्तुवते' पृष्ठसंज्ञक कर्म से स्तुति करते हैं, वाक्य कहीं का उद्धृत किया है; परन्तु इसके मूल स्थान का पता नहीं। पृष्ठ नामक स्तोत्र-कर्म में रथन्तर, वामदेव्य, नोघस आदि का समावेश है। इस गान में—सामवेद उत्तरार्चिक प्रथम अध्याय के चतुर्थ खण्ड की—ऋचाओं का उपयोग किया जाता है। इस प्रकार चित्रा, बहिष्पवमान, आज्य, पृष्ठ, ये सब कर्मविशेष के नाम हैं। इन्हें गुणविधि मानना युक्त नहीं ॥३॥ (इति चित्रादिशब्दानां यागनामधेयताऽधिकरणम्—२)।

(अग्निहोत्रादिशब्दानां यागनामधेयताऽधिकरणम्, तत्प्रख्याधिकरणं वा—३)

गत अधिकरण में कतिपय वाक्यों के कर्मविधि माने जाने का निर्णय किया गया। इस सन्दर्भ में शिष्य जिज्ञासा करता है—अन्य अनेक वाक्य—'अग्निहोत्रं जुहोति स्वर्गकामः' तथा 'आधारमाधारयति' इत्यादि होते हैं, जहाँ सन्देह है—'अग्निहोत्र' शब्द तथा 'आधार' शब्द गुणविधि हैं? अथवा कर्म के नामधेय हैं? इन्हें गुणविधि मानना उपयुक्त होगा, क्योंकि 'अग्निहोत्र' शब्द का अर्थ—'जिसमें अग्नि देवता के लिए होम किया जाय, ऐसा कर्म' प्राप्त होता है। यहाँ देवतारूप गुण का विधान ज्ञात होता है। इसी प्रकार 'आधार' पद का अर्थ 'क्षरण' अर्थात् 'टपकना' है। इससे टपकनेवाले तरल घृत आदि का विधान प्रतीत होता है। क्योंकि दर्विहोम में अग्निदेवतारूप गुण का निर्देश तथा दर्श-पौर्णमास के अन्तर्गत उपांशुयाग में होमद्रव्य का निर्देश नहीं है। अतः इन प्रसंगों में गुणविधान का प्रयोजन है। गुणविधि मानने की दशा में 'उद्भिदा यजेत' इत्यादि के समान यहाँ लक्षणा-दोष भी प्राप्त नहीं है, क्योंकि 'अग्निहोत्र' शब्द में अग्नि-

१. मीमांसाकोष (पृ० २६०२) में इस कर्म का अनुष्ठान—वाजपेय याग के अन्तर्गत—प्राजापत्य पशुयाग से सम्बद्ध बताया है। यद्यपि वहाँ 'पृष्ठ' पद का उल्लेख नहीं है। 'सप्तदश प्राजापत्यान् पशूनालभते, सप्तदशो वै प्रजापतिः' इत्यादि सन्दर्भ दिया है। इसका सन्तुलन ताण्ड्य ब्राह्मण [७।८।१] में दिये गए उपाख्यान के साथ करना चाहिए। यह पशुयाग, वस्तुतः 'अन्नयाग' है। इसमें यजुर्वेद (१८।१२) भी विचारणीय है।

देवतारूप गुण का विधान 'अग्नये होत्रं होमो यस्मिन्' इस समास द्वारा जान लिया जाता है। आधार शब्द में भी 'आधारमाधारयति' = 'आधार को निष्पन्न करता है' इस श्रुति से गुण का विधान प्राप्त हो जाता है। अतः इन वाक्यों को गुणविधि क्यों न माना जाय ? आचार्य सूत्रकार ने सिद्धान्त-पक्ष प्रस्तुत कर जिज्ञासा का समाधान किया—

तत्प्रत्यञ्चान्यशास्त्रम् ॥४॥

[तत्प्रत्यम्] उस अग्निहोत्र में अग्निदेवतारूप गुण की, तथा उपांशुयागगत आधार में घृत-द्रव्यरूप गुण की प्रस्थापना—जानकारी देनेवाला [च] निश्चित [अन्यशास्त्रम्] अन्य शास्त्र है। अतः ये गुणविधि न होकर कर्म-नामधेय हैं।

अपूर्व अर्थात् अविदित अर्थ का निर्देश करनेवाला वाक्य विधिवाक्य कहा जाता है। 'दर्विहोम'-प्रसंग में यद्यपि अग्निदेवतारूप गुण का निर्देश नहीं, पर अन्य वाक्य—'यवग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति'—जो अग्नि के लिए और प्रजापति के लिए सायं होम किया जाता है, इत्यादि वाक्य द्वारा देवता का विधान होने से अग्नि देवता प्राप्त है, विदित है; अतः 'अग्निहोत्रं जुहोति स्वर्गकामः' वाक्य अग्निदेवतारूप गुण का विधायक न होने से 'गुणविधि' नहीं है।

इसी प्रकार 'चतुर्गृहीतं वा एतद्भूत तस्याधारमाधार्यं'—यह निश्चित चार बार करके ग्रहण किया आज्य था, उससे आधार का आचरण (क्षरण) करके, इत्यादि वाक्य से आधार में द्रव्य का विधान किया जा चुका है; अतः प्रकारान्तर से विदित होने के कारण उक्त वाक्य—'आधारमाधारयति' में आज्य-द्रव्यरूप गुण का विधान मानना अयुक्त है। अतः ये कर्म-विशेष के नामधेय हैं, यह निश्चित होता है। जिस कर्म में अग्नि के लिए होत्र—होम हो, वह 'अग्निहोत्र' कर्म कहा जाता है। लम्बी धारवाली क्षरणक्रिया ही आधार है; यह क्रिया, कर्म ही तो है ! कर्म के रूप में ये प्रसिद्ध हैं, तथा उसमें प्रवृत्ति के प्रेरक हैं, अतः इनकी कर्म-नामधेयता निश्चित है ॥४॥ (इति अग्निहोत्रादिशब्दानां यागनामधेयताऽधिकरणम्—३) ।

(इयेनादिशब्दानां यागनामधेयताऽधिकरणम्—४)

गत अधिकरणों में अनेक पदों की याग-नामधेयता का निर्णय किये जाने पर

१. 'दर्विहोम' यज्ञविशेष का नाम है, इसका विवेचन स्वयं सूत्रकार ने अष्टम अध्याय के चतुर्थ पाद में 'दर्विहोमो यज्ञाभिधानं होमसंयोगात्' इत्यादि सूत्रों द्वारा किया है।

२. द्रष्टव्य—मै० सं०, १।८।७॥

भी अन्य कतिपय शब्द—‘अथैष श्येनेन अभिचरन् यजेत, अथैष सन्दंशेन’ अभिचरन् यजेत, अथैष गवाऽभिचरन् यजेत’ इत्यादि वाक्यों में—‘श्येन, सन्दंश, गो’ पठित हैं। क्या श्येन आदि शब्द गुणविधि हैं ? अथवा कर्म के नामधेय हैं ? यह सन्देह है। ‘उद्भिद्’ आदि पद क्रियानिमित्त वाले हैं, उद्भेदन आदि क्रिया को निमित्त मानकर प्रवृत्त होते हैं, अतः याग कर्मविशेष के नाम हो सकते हैं, परन्तु श्येन आदि शब्द जातिविशेष को निमित्त मानकर प्रवृत्त हुए हैं, अतः याग को नहीं कह सकते। इन्हें गुणविधि मानना उपयुक्त होगा। इस जिज्ञासा का आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

तद्व्यपदेशञ्च ॥५॥

[तद्व्यपदेशम्] उन श्येन आदि का व्यपदेश—कथन उनके नामधेय होने में निमित्त है, [च] तथा।

यह समझना चाहिए, श्येन आदि प्रसिद्ध शब्द शास्त्र में यागविशेष का कथन करते हैं। यह याग का नाम है, ऐसा मानने पर ‘श्येनेन यजेत’ इत्यादि श्रुतिबोधित मुख्य अर्थ का ग्रहण होता है—‘श्येन नाम्ना यागेन इष्टं भावयेत्’। यह श्येन का याग के साथ सामानाधिकरण्य स्पष्ट है। यदि इन्हें गुणविधि माना जाता है तो मत्वर्थलक्षणा द्वारा ही सामानाधिकरण्य सम्भव होगा—‘श्येनवता यागेन इष्टं भावयेत्’। श्रुतिबोधित अर्थ के स्पष्ट रहते हुए, लक्षणा करना अन्याय्य है।

यह कहना भी अयुक्त है कि श्येन आदि शब्द जातिवाचक होने से याग का कथन नहीं करते। श्येन-क्रिया के साथ सादृश्य के आधार पर ये शब्द याग का कथन करते हैं—‘यथा वै श्येनो निपत्य आदत्ते, एवमयं द्विषन्तं भ्रातृव्यं निपत्य आदत्ते, यमभिचरन्ति श्येनेन’—जिस प्रकार बाज पक्षी अपने शिकार अन्य पक्षी को भपट्टा मारकर दबोच लेता है, उसी प्रकार यह श्येनयाग विरोधी शत्रु को

१. विरोधी को मारने के लिए जो तथाकथित शास्त्रीय कर्म किया जाता है, उसे ‘अभिचार’ कर्म कहते हैं। साक्षात् शास्त्र द्वारा अथवा किसी अन्य व्यक्ति द्वारा विरोधी को मरवा देने के अतिरिक्त यह ‘अभिचार’ शास्त्रीय उपाय बताया जाता है। श्येन एक प्रकार के पक्षी का नाम है। ‘संदंश’ संडासी को कहते हैं। समान अर्थ का प्रतिपादन करनेवाले दो वाक्यों के बीच—तत्सम्बन्धी आकांक्षा आदि की निवृत्ति के लिए—जो कथन किया जाता है, वह ‘संदंश’ कहा जाता है। गो पशुविशेष का नाम है। ये जातिवाचक शब्द होने से अभिचार-कर्म में इनका याग-साधनरूप से विधान है; अतः याग-साधन द्रव्यरूप गुण के विधायक होने से इन्हें गुणविधि माना जाना चाहिए।

भपट्टा मारकर प्राणों से वियुक्त कर देता है, जिसके लिए अभिचार-कर्म करते हुए श्येनयाग से यजन किया जाता है। 'भपट्टा मारकर पकड़ने' सादृश्य के आधार पर 'श्येन' शब्द का प्रयोग याग-कर्म में किया जाता है। जैसे देवदत्त में—पराक्रम, क्रूरता, शूरता आदि सादृश्य के आधार पर—सिंह शब्द का प्रयोग लोक-प्रसिद्ध है। फलतः 'श्येन' कर्म का नाम है, यह निश्चित होता है।

यही आधार सन्दंश में समझना चाहिए। 'यथा' सन्दंशेन दुरादाननादत्ते—कठिनाई से पकड़े जानेवाले पदार्थ को जैसे संडासी से जकड़ लिया जाता है, ऐसे ही दुर्घर्ष शत्रु को सन्दंश-याग से बश में कर नष्ट कर दिया जाता है।

यही भाव 'गो' पद में समझना चाहिए। भाष्यकार ने वाक्य दिया है—'यथा गावो गोणयन्ति'—जैसे गावें अपने बच्चों की—हिंसक प्राणियों से—रक्षा करने के लिए बच्चों को बीच में रख, उनके चारों ओर घिरकर शत्रु का प्रबल प्रतिरोध करती हैं, वैसे ही गोयाग अपने यजमान को—शत्रु द्वारा प्रयुक्त अभिचार-कर्म से—सुरक्षित रखता है। पहले दो कर्म शत्रु को मारने के लिए अनुष्ठित होते हैं। उसके विपरीत यह तीसरा कर्म शत्रु से अपनी रक्षा के लिए किया जाता है। फलतः श्येन आदि कर्मविशेषों के नाम हैं, गुणविधि नहीं ॥५॥ (इति श्येनादिशब्दानां यागनामधेयताऽधिकरणम्—४)।

(वाजपेयादिशब्दानां यागनामधेयताऽधिकरणम्—५)

शिष्य जिज्ञासा करता है—गत अधिकरणों में अनेक शब्दों की याग-नाम-धेयता का निर्धारण किया गया, पर वाजपेय आदि शब्दों के विषय में सन्देह बना है; क्योंकि यह शब्द स्वयं अपने निर्वचन से याग में अन्नरूप गुण का विधान

१. श्येन, सन्दंश-सम्बन्धी वाक्य अथवा तदर्थबोधक वाक्य द्रष्टव्य हैं—षड्विंश-ब्राह्मण, ३।८।१॥ तथा ३।१०।१॥

२. शबर स्वामी आदि प्राचीन मीमांसक आचार्यों ने आभिचारिक यागों को विधायक नहीं माना; क्योंकि ये धर्माजिन के लिए किसी अनुष्ठेय कर्म का विधान नहीं करते। इसके विपरीत हिंसा आदि अनर्थ के उद्भावक हैं। एक अन्य प्राचीन आचार्य भर्तृमित्र ने अपने समय में यज्ञिय हिंसा आदि का घोर विरोध कर अनामिष यज्ञप्रक्रिया का स्थापन किया था। मीमांसा के व्याख्या-ग्रन्थों में इसके प्रमाण उपलब्ध हैं। (द्रष्टव्य—आचार्य उदयवीर शास्त्रीकृत 'वेदान्त-दर्शन का इतिहास', पृष्ठ २१३-२२२)। अनन्तर-काल में भट्ट कुमारिल आदि आचार्यों ने यज्ञिय हिंसा आदि को वैध बताने का पुनः प्रबल प्रचार किया और भर्तृमित्र आदि को लोकायत (चार्वाक) सदृश बताया, जो चिन्त्य है।

करता है। वाज=अन्न—यवागू—का पात्र जिस याग में होता है, वह वाजपेय है। इसके अनुसार श्रुतिबोधित अन्न-गुण का विधान होने से इसे गुणविधि क्यों न माना जाय ? आचार्य ने जिज्ञासा को स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिए स्वयं सूत्रित किया—

नामधेये गुणश्रुतेः स्याद् विधानमिति चेत् ॥६॥

[नामधेये] आपाततः नामधेयरूप से प्रतीयमान वाजपेय शब्द में [गुणश्रुतेः] अन्नरूप गुण का श्रवण होने से [स्यात्] है यह [विधानम्] गुण-विधि, [इति चेत्] ऐसा कहो, तो—(अगले सूत्र के साथ सम्बन्ध है। 'इति चेत्' पदोंवाले सूत्रों में सर्वत्र यही व्यवस्था समझनी चाहिए) ।

सूत्र की अवतरणिका में सूत्रार्थ स्पष्ट है। भाष्यकार ने वैदिक वाङ्मय के किसी स्थल का वाक्य दिया है—'वाजपेयेन स्वाराज्यकामो^१ यजेत'—स्वाराज्य कामनावाला व्यक्ति, अर्थात् स्वयं—स्व-सामर्थ्य से प्रकाशित होनेवाला व्यक्ति, अथवा स्वर्ग में राज्य की कामनावाला व्यक्ति वाजपेय याग से यजन करे। यहाँ 'वाज' पद-बोध्य अन्न-गुण का विधान होने से इसे गुणविधि मानना उपयुक्त होगा ॥६॥

आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

तुल्यत्वात् क्रिययोर्न ॥७॥

[तुल्यत्वात्] तुल्य होने से [क्रिययोः] दोनों क्रियाओं—कर्मों= वाजपेय और दर्शपौर्णमास के, [न] वाजपेय में सप्तदश दीक्षा आदि की उपपत्ति न होगी।

यदि वाजपेय को गुणविधि माना जाता है, और इसके अनुसार उसे अन्न-साधनयाग स्वीकार किया जाता है, तो वाजपेय और दर्शपौर्णमास दोनों याग समानरूप से अन्न-साधनयाग हो जाते हैं। दर्शपौर्णमास का साधनद्रव्य

१. इस आनुपूर्वी का वाक्य वर्तमान वैदिक वाङ्मय में न मिलने पर भी सन्तुलित वाक्य आपस्तम्ब श्रौतसूत्र [१८।१।१] में है— शरदि वाजपेयेन यजेत ब्राह्मणो राजन्यो वा ऋद्धिकामः—समृद्धि की कामनावाला ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय शरद् ऋतु में वाजपेय से यजन करे। समृद्धि या ऐश्वर्य स्वयं प्रकाशित होने का साधन है। इस प्रकार 'ऋद्धिकामः' तथा 'स्वाराज्यकामः' पदों के तात्पर्य में कोई भेद नहीं है। ब्राह्मण के लिए स्वयं प्रकाशित होना, तथा क्षत्रिय के लिए वहाँ भी राज्य-प्रशासन की कामना नैसर्गिक है। सोमयाग से केवल स्वर्गप्राप्ति, तथा वाजपेय से वहाँ भी राज्य की प्राप्ति का निर्देश इनके फल में न्यूनातिशयता का संकेत करता है।

पुरोडाश है, जो अन्नमय होता है। ऐसी स्थिति में वाजपेय, दर्शपौर्णमास का विकृतियाग होगा। 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या' — प्रकृति के समान विकृतियाग किया जाना चाहिए, इस शास्त्रीय व्यवस्था के अधीन वाजपेय में वही क्रियाकलाप प्राप्त होंगे, जो दर्शपौर्णमास प्रकृतियाग में हैं। इसका परिणाम यह होगा कि 'सप्तदशदीक्षो वाजपेयः' तथा 'सप्तदशोपसत्को वाजपेयः' इन वाक्यों के अनुसार वाजपेय में विहित दीक्षा व उपसत् की उपपत्ति सम्भव न हो सकेगी। क्योंकि इनका विधान दर्शपौर्णमास में नहीं है, पर गुणविधि मानने पर दर्शपौर्णमास के क्रियाकलाप ही वाजपेय में प्राप्त होंगे, जो शास्त्रानुसार इष्ट नहीं हैं। अतः वाजपेय को गुणविधि न मानकर कर्म का नामधेय मानना ही युक्त है।

अथवा—सूत्रार्थ की अन्य प्रकार योजना—

[तुल्यत्वात्] तुल्य होने से [क्रिययोः] दोनों क्रियाओं—कर्मों=वाजपेय और ज्योतिष्टोम के, [न] वाजपेय में गुणविधि नहीं है।

वाजपेय को गुणविधि न माने जाने की स्थिति में ही वाजपेयक्रिया और ज्योतिष्टोमक्रिया का तुल्य होना सम्पन्न होता है। ज्योतिष्टोम सोमयाग में यजमान-दम्पती को दीक्षा देने तथा उपसत् नामक इष्टि का अनुष्ठान किए जाने का विधान है। वाजपेय में भी 'सप्तदशदीक्षो वाजपेयः' तथा 'सप्तदशोपसत्को वाजपेयः' इन शास्त्रीय वचनों के अनुसार वाजपेय में—ज्योतिष्टोमगत दीक्षा आदि के अनुरूप—सत्रह दीक्षा और सत्रह उपसत्संज्ञक इष्टि का विधान उपपन्न होकर इन दोनों (वाजपेय-ज्योतिष्टोम) के समान होने का प्रयोजक है। फलतः वाजपेय को गुणविधि मानना युक्त नहीं है। सोमयागों के अन्तर्गत वाजपेय याग-विशेष का नाम है, यह निश्चित होता है ॥७॥

इसी मान्यता की पुष्टि के लिए सूत्रकार ने बताया—

एकशब्दे परार्थवत् ॥८॥

'वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत' को गुणविधि माने जाने की स्थिति में गुणविधान के लिए [एकशब्दे] एक शब्द 'यजेत' क्रिया के उच्चारण होने पर उसे गुणविधान के लिए [परार्थवत्] पर अर्थ = विधि से भिन्न अनुवादरूप अर्थ-वाला मानना पड़ता है, जो शास्त्रीय व्यवस्था के अनुरूप नहीं है।

१. सोमयाग के अन्तर्गत ज्योतिष्टोम याग के दीक्षादिवस और सोमाभिषव-दिवस के अन्तराल में जिन इष्टियों का अनुष्ठान विहित है, उनका नाम 'उपसत्' है। ये इष्टियाँ यागों में विभिन्न अवसरों पर विभिन्न संख्याओं (दो, तीन, छह, बारह, आदि) में अनुष्ठित होती हैं।

२. 'एकशब्दे' पाठ है। रामेश्वर सूरि विरचित सुबोधिनी वृत्ति।

मुख्य रूप से 'वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत' वाक्य स्वाराज्य की कामनावाले के लिए वाजपेय नामक याग का विधान करता है। 'यजेत' क्रिया में 'यज्' धातु याग, और प्रत्ययविधि का द्योतक है। अर्थ होगा—'यागेन इष्टं भावयेत्'—याग से इष्ट की भावना करे। 'केन यागेन' ? किस याग से ? अर्थात् उस याग का नाम क्या है ? 'वाजपेयेन' वाजपेय नामक याग से। यह भावना कौन करे ? उत्तर वाक्य में सन्निहित है—'स्वाराज्यकामः' स्वाराज्य की कामना करनेवाला व्यक्ति वाजपेय नामक याग से इष्ट की भावना करे; यह वाक्य निर्वाध समन्वित हो जाता है।

इसके विपरीत यदि वाजपेय को गुणविधि माना जाता है, तो 'वाजपेय' पद का अर्थ होगा—अन्न, जो किसी यागरूप कर्म का साधन है। तब अन्न-रूप गुण का याग के साथ अन्वय मत्वर्थलक्षणा के बिना सम्भव न होगा। उसका अन्वय—'वाजवता यागेन इष्टं भावयेत्' इस प्रकार करना होगा। ऐसी दशा में यह गुण-विधान किस याग में होगा ? इसका विधायक कोई पद यहाँ नहीं है। 'यजेत' क्रियापद मत्वर्थलक्षणा से गुणविधान के साथ अन्वित है; वह किसी मुख्य याग का विधायक नहीं हो सकता। यदि 'वाजपेय' पद के एक अवयव 'वाज' को अन्न-गुण का, और 'वाजपेय' शब्द को कर्म का द्योतक मानकर एक ही शब्द में कर्म-नाम और गुणविधि दोनों का विधान स्वीकार किया जाय, तो यह संभव न होगा; क्योंकि एक ही क्रिया 'यजेत' के साथ एक समय में—कर्मनाम मानने पर कर्म-रूप से तथा गुण-विधि मानने पर से 'वाजपेय' का अन्वय सर्वथा अशास्त्रीय है। इसमें वाक्यभेद स्पष्ट है। तब 'स्वाराज्यकामो वाजपेयेन यजेत' वाक्य को इस प्रकार दो वाक्यों के रूप में समझा जायगा—(१) 'स्वाराज्यकामो वाजपेयेन यागेन इष्टं भावयेत्'; (२) 'स्वाराज्यकामो वाजवता यागेन इष्टं भावयेत्'। एक जगह कर्मनाम मानकर—वाजपेय नामक याग से इष्ट की भावना करे; दूसरी जगह गुणविधि मानने पर—वाज=अन्न-साधनवाले याग से इष्ट की भावना करे; ये दो वाक्य बनाने पड़ेंगे। वाक्यार्थ, योजना में वाक्यभेद-दोष माना जाता है। ये सब दोष कर्मनाम मानने पर प्राप्त नहीं होते; अतः 'वाजपेय' कर्मनाम सिद्ध होता है ॥८॥ (इति वाजपेयादिशब्दानां नामधेयताऽधिकरणम्, वाजपेयाधिकरणं वा—५) ।

(आग्नेयादीनामनामताधिकरणम्, आग्नेयाधिकरणं वा—६)

तैत्तिरीय संहिता [२।६।३] में पढ़ा है—'यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां च पूर्णिमास्यां च अच्युतो भवति सुवर्गस्य लोकस्याभिजित्यै'—आठ कपालों में संस्कृत जो आग्नेय पुरोडाश अमावास्या में और पूर्णिमासी में च्युत नहीं होता, अर्थात् निरन्तर बना रहता है, स्वर्गलोक की जीत के लिए, इत्यादि वाक्यों में

सन्देह है—क्या आग्नेय और अग्निषोमीय^१ गुणविधियाँ हैं ? अथवा कर्मनामधेय हैं ? गुणविधि होने पर अनेक गुणों—अग्नि, पुरोडाश और कपाल—का विधान मानना पड़ता है; अतः इन्हें गुणविधि न मानकर कर्म-नामधेय मानना युक्त होगा। सन्देह का समाधान करते हुए सूत्रकार ने सिद्धान्त बताया—

**तद्गुणास्तु विधीयेरन् अविभागाद् विधानार्थे, न चेदन्वेन
शिष्टाः ॥६॥**

[तद्गुणाः^२] वे कर्म और कर्म के गुण, [तु] पद संशय की व्यावृत्ति के लिए है, अर्थात् कर्मनाम-विषयक सन्देह ठीक नहीं; क्योंकि [विधीयेरन्] वे (कर्म-गुण) विधान किए गए हैं [अविभागात्] विभागरहित होने से, अर्थात् साथ-साथ उच्चरित होने से [विधानार्थे] विधान के लिए प्रयुक्त तद्धितप्रत्ययान्त शब्दों में। [न चेद अन्येन शिष्टाः] यदि अन्य किसी वचन से न कहे गये हों।

यदि वे कर्म-गुण अन्य किसी वचन से विहित नहीं हैं, तो विधान के लिए प्रयुक्त तद्धित-प्रत्ययान्त (आग्नेय, अष्टाकपाल) शब्दों में, साथ-साथ उच्चरित होने के कारण यहाँ उनका विधान किया गया है।

कोई शब्द, कर्म का नामधेय उस अवस्था में माना जाता है, जब गुण का विधान किसी अन्य वाक्य से कर दिया गया हो। प्रस्तुत प्रसंग में ऐसा नहीं है। यहाँ 'आग्नेय' पद अग्नि देवता का विधान करता है—'अग्निर्देवताऽस्य इति आग्नेयः'—अग्नि इसका देवता है, इसलिए यह 'आग्नेय' है। 'अष्टाकपालः' पद से—'अष्टसु कपालेषु संस्कृतः इति अष्टाकपालः' कपाल का विधान प्राप्त होता है। आठ कपालों—विशेष मृत्पात्रों—में ही पकाया गया हव्य-द्रव्य अग्नि देवता के लिए विहित है, अन्य प्रकार से पकाया गया द्रव्य विहित नहीं। अतः कपाल का विधान भी इस पद से प्राप्त है। अग्नि देवता के उद्देश्य से कपालों में जो द्रव्य पकाया जाता है, वह पुरोडाश द्रव्य—'आग्नेय, अष्टाकपाल' पदों में प्रयुक्त—तद्धित प्रत्ययों के सामर्थ्य से प्राप्त है। इस प्रकार प्रस्तुत वाक्यद्वारा अग्नि, कपाल, पुरोडाश तीनों का समन्वित विधान प्राप्त होता है, इनका अन्य किसी वचन से

१. प्रस्तुत अधिकरण के नाम में तथा भाष्यकार द्वारा प्रयुक्त 'आदि' पद से—तैत्तिरीय संहिता (२।१।२) गत 'अग्निषोमीय' प्रसंग का यहाँ संग्रह कर लिया है। इसका विवेचन आगे सूत्र [२।२।३] में किया गया है।

२. सूत्र में 'तत्' पद 'कर्म' अथवा 'याग' का अतिदेश करता है। कर्म की दृष्टि से 'तच्च गुणाश्च इति तद्गुणाः' यह द्वन्द्व समास है। याग की दृष्टि से 'स च गुणाश्च तद्गुणाः' होगा। प्रस्तुत प्रसंग में कर्म = याग तथा गुण दोनों का विधान स्वीकार्य है।

कथन या विधान नहीं किया गया, अतः अपूर्व कथन है, अन्य से अविदित है । 'आग्नेय' और 'अष्टाकपाल' पदों का परस्पर विशेष्य-विशेषणभाव सम्बन्ध है । अग्निदेवता के उद्देश्य से आठ कपालों में सिद्ध किया गया पुरोडाश, याग के बिना निरर्थक है । देवता के उद्देश्य से द्रव्य का त्याग ही 'याग' कहा जाता है । इस प्रकार देवता, द्रव्य और याग सबका समन्वितरूप में यहाँ विधान है । याग-कर्म का विधान, देवता व द्रव्य के विधान के बिना समर्थ नहीं होता । देवता व द्रव्यगुण अन्य वचन से प्राप्त नहीं । अतः प्रस्तुत प्रसंग में उक्त वाक्य से कर्म-विधान के साथ देवता व द्रव्यगुण का विधान मानने में कोई असांगत्य नहीं है ॥६॥ (इति आग्नेयादीनामनामताधिकरणम्—६) ।

(बहिराज्यादिशब्दानां जातिवाचित्वाधिकरणम्, बहिराज्या-
धिकरणं वा—७)

शिष्य जिज्ञासा करता है—गत अधिकरणों में अनेक सन्दिग्ध शब्दों के विषय में सिद्धान्त का निर्धारण करने पर भी 'बर्हिः', आज्य, पुरोडाश' आदि ऐसे शब्द हैं, जिनमें यह सन्देह है कि क्या ये यज्ञिय कार्यों में प्रयुक्त 'बर्हिः' आदि शब्द, संस्कारविशेष से संस्कृत द्रव्यों के नाम हैं ? अथवा सामान्य रूप से संस्कृत-असंस्कृत सबके लिए प्रयुक्त होनेवाले जातिवाचक शब्द हैं ? क्योंकि यज्ञिय कर्मों में संस्कृत बर्हि आदि का प्रयोग मान्य है । जहाँ असंस्कृत में भी 'बर्हि' आदि का प्रयोग देखा जाता है, वह संस्कृत बर्हि के सादृश्य के आधार पर ही समझना चाहिए । वे केवल एकदेशीय प्रयोग हैं । तब 'बर्हिः' आदि नाम संस्कार-निमित्तक क्यों न माने जायें ? आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

बहिराज्ययोरसंस्कारे शब्दलाभादतच्छब्दः^१ ॥१०॥

[बर्हिः-आज्ययोः] बर्हि और आज्य में [असंस्कारे] संस्कार न होने पर भी [शब्दलाभात्] बर्हि और आज्य शब्द का व्यवहार होने से [अतच्छब्दः] संस्कार-निमित्तक शब्द ये नहीं हैं ।

यज्ञिय कर्म में उपयोग के लिए जब बर्हि=कुशा को काटा जाता तथा मन्त्रोच्चारणपूर्वक संस्कृत किया जाता है, उसके पहले असंस्कृत दशा में भी उसके लिए 'बर्हिः' पद का ही प्रयोग लोक में देखा जाता है । संस्कृत पद के सादृश्य से लोक में ऐसा प्रयोग होता हो, यह सम्भव नहीं है । लोक में उक्त पद का प्रयोक्ता व्यक्ति उसके संस्कार तथा संस्कार की पद्धति नितान्त भी न जानता हुआ

१. रामेश्वर सूरि विरचित सुबोधिनी वृत्ति में '०च्छब्दः' के आगे 'स्यात्' पद अधिक पठित है ।

उसका प्रयोग करता है। संस्कार के अनन्तर 'कुशा' का नाम 'बहिः' होता हो, ऐसा नहीं है। संस्कार से पहले बहिःपद-प्रयोगपूर्वक व्यवहार रहते, अनन्तर संस्कार का अवसर आता है। अतः बहिःपद सामान्य जातिवाचक है, संस्कार-निमित्तक नहीं।

यद्यपि घृत और आज्य पदों का समानार्थक प्रयोग देखा जाता है। नवनीत (ताजा मक्खन) तथा थोड़ा पिघला हुआ—जिसमें साधारण छाछ के भाग-से मर गये हों, 'घृत' कहा जाता है। यह जमने पर थोड़ा कठिन हो जाता है। नवनीत को अच्छी तरह पकाने पर, जब छाछ का नितान्त अंश उसमें नहीं रहता, तब वह 'आज्य' है। यह शीत ऋतु में भी कठिन नहीं जमता, कुछ ढीला-सा रहता है; अँगुली से छूने पर उतनी ही ऊष्मा पाकर पिघल जाता है। इतना साधारण अन्तर होने पर भी दोनों 'घृत-आज्य' पदों का प्रयोग समान अर्थ में किया जाना मान्य है। 'बहिः' पद के समान घृत एवं आज्य पद भी संस्कृत-असंस्कृत दोनों अवस्थाओं में उसी एक द्रव्य के लिए प्रयुक्त होते हैं; अतः ये संस्कारनिमित्तक नाम नहीं हैं; इन्हें जातिवाचक शब्द मानना उपयुक्त है ॥१०॥ (इति बहिः-राज्यादिशब्दानां जातिवाचित्वाधिकरणम्—७)।

(प्रोक्षणीशब्दस्य यौगिकत्वाधिकरणम्, प्रोक्षण्यधिकरणं वा—८)

शिष्य जिज्ञासा करता है—'प्रोक्षणीरासादय'—'प्रोक्षणी को यथास्थान रक्खो' वाक्य वैदिक वाङ्मय [तै० ब्रा० ३।२।६॥ आप० श्रौ० २।३।१०] में पठित है। क्या यहाँ 'प्रोक्षणी' पद 'बहिः' आदि के समान जातिवाचक माना जाय ? अथवा संस्कार-निमित्तक ? या यह शब्द यौगिक है ? प्रोक्षणी पद का प्रयोग संस्कारों के होने पर देखा जाता है; अतः संस्कारनिमित्तक प्रतीत होता है। असंस्कृत जलों में भी 'प्रोक्षणीभिरुद्वेजिताः स्मः' (जलों से हम भयभीत या बेचैन हो गये हैं) इत्यादि प्रादेशिक प्रयोगों से साधारण जलों के अर्थ में प्रयुक्त 'प्रोक्षणी' शब्द जातिवाचक प्रतीत होता है। इस विषय में सिद्धान्त-पक्ष क्या होना चाहिए ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

प्रोक्षणीष्वर्थसंयोगात् ॥११॥

[प्रोक्षणीषु] प्रोक्षणी शब्द में [अर्थ-संयोगात्] उपसर्ग-धातु-प्रत्यय-समुदाय के अर्थ का सम्बन्ध होने से यह शब्द यौगिक है।

'प्रोक्षणीः' स्त्रीलिंग द्वितीया बहुवचनान्त पद है। संस्कृत में जल-पर्याय 'आपस्' पद स्त्रीलिंग बहुवचन में प्रयुक्त होता है। 'प्रोक्षणीः' पद से जल बोधित होते हैं। इस पद में स्त्रीलिंग प्रत्यय (ङीप्), केवल विशेष्य पद 'आपस्' की सन्तुलना के विचार से प्रयुक्त हुआ है, मुख्य रूप से परीक्षा (विवेचना) का विषय 'प्रोक्षण' प्रातिपदिक है। व्याकरणानुसार 'प्र + उक्ष् + ल्युट् = अन' समुदाय

से 'प्रोक्षण' पद बनता है। यहाँ 'प्र' उपसर्ग, 'उक्ष्' धातु (प्रकृति), 'ल्युट्' प्रत्यय है, करण अर्थ में 'ल्युट्' को 'अन' आदेश होकर 'प्रोक्षण' पद का अर्थ होता है—प्रकृष्ट रूप से सेचन—आपेक्षिक आर्द्राकरण का साधन। जैसे यज्ञिय हवि आदि का सेचन जलों से होता है, ऐसे ही अनेकत्र घृत, दधि आदि से 'हवि' के सेचन का विधान है। यदि 'प्रोक्षणी' पद जातिवाचक माना जाता है, तो सर्वत्र जल का ग्रहण होगा, दधि आदि का नहीं। परन्तु जब घात्वर्थ के आधार पर 'प्रोक्षण' का यौगिक अर्थ—हवि के सेचन का साधन द्रव्य—किया जाता है, तो इससे साधन-रूप में जहाँ जो द्रव्य—'जल-घृत-दधि' आदि अपेक्षित है, उसका ग्रहण हो जाता है। इसमें किसी तरह का असामञ्जस्य नहीं रहता। लोक में जल के लिए 'प्रोक्षणी' या 'प्रोक्षण' पद की प्रवृत्ति का भी निर्वाह हो जाता है।

'प्रोक्षणी' पद जैसे 'आपः' पद के सन्तुलन के लिए स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त है, ऐसे ही जहाँ प्रोक्षण-कार्य के लिए साधनद्रव्य घृत होता है, वहाँ अग्नीत नामक ऋत्विक् के प्रति अघ्वर्यु का प्रैष (आदेश) द्रव्य-लिङ्ग के अनुसार 'प्रोक्षणम् आसादय' दिया जायगा। ब्रह्मवर्चस की कामनावाले के लिए काम्येष्टि प्रकरण में 'घृतं प्रोक्षणं भवति' [मैत्रा० सं० २।१।५] वचन पढ़ा है। इस इष्टि में सोम और रुद्र देवता के लिए सफेद धान के चावल का चरु घृत में मिलाकर बनाया जाता है। दर्शपौर्णमास आदि इष्टियों में वेदि पर पात्रस्थापन के प्रसंग से 'प्रोक्षणीः आसादय' ऐसा आदेश-वचन है। वहाँ जल के सम्बन्ध से जो कार्य किये जाते हैं, वे सब कार्य ब्रह्मवर्चस काम्येष्टि में घृत से किये जाते हैं। इस विवेचन के अनुसार 'प्रोक्षणी' आदि पदों में—'उपसर्ग + प्रकृति + प्रत्यय'-समुदाय के आधार पर अर्थाभिव्यक्ति स्वीकार करने पर कोई असामञ्जस्य सम्मुख नहीं आता; अतः इन पदों को यौगिक मानना न्याय्य है ॥११॥ (इति प्रोक्षणीशब्दस्य यौगिकत्वाधिकरणम्—८)।

(निर्मन्थ्यशब्दस्य यौगिकत्वाधिकरणम्; निर्मन्थ्याधिकरणं
वा—६)

शिष्य जिज्ञासा करता है—'प्रोक्षणी' शब्द के समान एक अन्य शब्द 'निर्मन्थ्य' है। यह शब्द अग्नि के लिए प्रयुक्त देखा जाता है—'निर्मन्थ्येनेष्टकाः पचन्ति'—निर्मन्थ्य-अग्नि से ईंटें पकाते हैं। सन्देह है—क्या यह संस्कारनिमित्तक शब्द है? या जातिनिमित्तक? मन्थन द्वारा संस्कार किये अग्नि से ईंट पकाये जाने का कथन इसे संस्कारनिमित्तक शब्द प्रकट करता है। असंस्कृत अग्नि के लिए भी प्रयोग देखा जाता है—'निर्मन्थ्यमानय ओवनं पश्यामः' आग ले आओ, भात पकायेंगे। इससे 'निर्मन्थ्य' पद—संस्कृत-असंस्कृत सब प्रकार की आग के लिए प्रयोग के कारण—जातिनिमित्तक प्रतीत होता है। इस विषय में सिद्धान्त

क्या है ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

तथा निर्मन्थ्ये ॥१२॥

[तथा] उसी प्रकार—जिस प्रकार प्रोक्षणी शब्द के सम्बन्ध में कहा है—
[निर्मन्थ्ये] निर्मन्थ्य—अग्नि के सम्बन्ध में समझना चाहिए ।

यह प्रसंग अग्निचयन-यागविषयक है । आपस्तम्ब श्रौतसूत्र [१६।१३।७]
में पाठ है—‘निर्मन्थ्येन लोहिनीः पचन्ति’—निर्मन्थ्य-अग्नि से लाल-रंगी ईंटें
पकाते हैं । तात्पर्य है—पककर ईंट लाल हो जानी चाहिए । यही भाव ‘निर्मन्थ्ये-
नेष्टकाः पचन्ति’ वाक्य का है । यदि यह पद संस्कारनिमित्तक माना जाता है,
तो केवल संस्कारविशेष से उत्पन्न अग्नि में ईंट पकाना प्राप्त होगा । यदि इसे
जातवाचक माना जाता है, तो जैसे-तैसे किसी भी प्रकार से प्राप्त अग्नि में ईंटें
पकाना स्वीकार्य होगा । परन्तु इस पद का यह तात्पर्य नहीं है । इसका तात्पर्य
है—मन्थन करके सद्यः=तत्काल प्रादुर्भूत अग्नि में ईंटें पकाना । यह अर्थ ‘मन्थ’
धातु के मन्थनरूप धात्वर्थ पर आधारित है । अतः इसे प्रोक्षणी पद के समान
यौगिक शब्द मानना न्याय्य है । यद्यपि अग्नि सदा ही मन्थन द्वारा प्राप्त होता
है, परन्तु अन्य दाह्य द्रव्य में पहले से सुरक्षित अग्नि में ईंटें पकाना अभीष्ट
नहीं माना गया । यदि ऐसा होता, तो ‘निर्मन्थ्येनेष्टकाः पचन्ति’ के स्थान पर,
‘अग्निनेष्टकाः पचन्ति’ अधिक स्पष्ट होता । साक्षात् ‘निर्मन्थ्य’ पद का प्रयोग
मन्थन से सद्यः प्रादुर्भूत अग्नि का बोधक है, जो इसके यौगिक शब्द होने का
आधार है ॥१२॥ (इति निर्मन्थ्यशब्दस्य यौगिकत्वाधिकरणम्—६)।

(वैश्वदेवशब्दस्य नामधेयताधिकरणम्, वैश्वदेवाधिकरणं
वा—१०)

शिष्य जिज्ञासा करता है—गत अधिकरणों द्वारा अनेक सन्देहों का निवारण
होने पर ‘वैश्वदेवेन यजेत’ वाक्य में वैश्वदेव-विषयक सन्देह बना है—क्या
‘वैश्वदेव’ याग का नामधेय है ? अथवा गुणविधि है ? चातुर्मास्य यागों के
वैश्वदेव नामक प्रथम पर्व में आग्नेय आदि यागों के अनन्तर साथ ही ‘वैश्वदेवेन
यजेत’ वाक्य है । इससे प्रतीत होता है, ‘अग्नि’ आदि देवों का विश्वेदेवों के साथ
विकल्प है । इस प्रकार देवतारूप गुण का विधान होने से इसे गुणविधि मानना
उचित होगा । स्पष्ट प्रतिपादन की भावना से आचार्य ने शिष्य-जिज्ञासा को सूत्रित
किया—

वैश्वदेवे विकल्प इति चेत् ॥१३॥

[वैश्वदेवे] वैश्वदेव में [विकल्पः] विकल्प है, देवता का, [इति चेत्]

१. ‘वैश्वदेवाविशब्दानां’ इति रामेश्वरसूरिविरचित-सुबोधिनीवृत्ति पाठः ।

ऐसा यदि कहो (तो यह ठीक नहीं; इसका अगले सूत्र के साथ सम्बन्ध है) ।

मैत्रायणी संहिता [१।१०।१] में चातुर्मास्य यागों का वर्णन है। यह चातुर्मास्य याग चार पर्वों (भागों) का माना गया है। ये चार-चार महीने के अन्तर से किए जाते हैं। इनके नाम निम्न प्रकार हैं—

१. वैश्वदेव—चातुर्मास्य याग का यह प्रथम पर्व फाल्गुन मास की पूर्णिमा को किया जाता है।

२. वरुण प्रधास—यह दूसरा पर्व आषाढ़ की पूर्णिमा को सम्पन्न किया जाता है।

३. साकमेध—यह चातुर्मास्य याग का तीसरा पर्व कार्तिक की पूर्णिमा को अनुष्ठित होता है।

ध्यान देने पर ज्ञात होता है, ये याग ऋतुओं की सन्धियों में किए जाते हैं। वर्ष में साधारणरूप से तीन मुख्य ऋतु देश में प्रसिद्ध हैं—ग्रीष्म, वर्षा, शीत। ग्रीष्म ऋतु का प्रारम्भ शीत के अनन्तर आता है। चातुर्मास्य याग के 'वैश्वदेव' नामक पहले पर्व का समय फाल्गुन पूर्णिमासी शीत और ग्रीष्म का सन्धिकाल है। दूसरे पर्व 'वरुण प्रधास' का काल आषाढ़ की पूर्णिमा ग्रीष्म और वर्षा की सन्धि का काल है। तीसरे पर्व 'साकमेध' के अनुष्ठान का काल कार्तिक मास की पूर्णिमा है, जो वर्षा और शीत ऋतु की सन्धि में है, जब वर्षा समाप्त हो जाती है। ऋतुओं का यह सन्धिकाल प्रायः रोगोत्पादक होता है। ऐसे समय में ऋतु-अनुसारी हवि-द्रव्यों से यागों का अनुष्ठान जल-वायु आदि की शुद्धि द्वारा रोग-निवारण में अत्युपयोगी होता है; इसी आधार पर चातुर्मास्य यागों को 'भैषज्य यज्ञ' नाम भी दिया गया है।^१ यागों की यह परम्परा तो न जाने कब से नष्ट हो चुकी है, पर तीन यागों के अनुष्ठान के अनन्तर अपनी आरोग्य-स्थिति से हर्षोत्फुल्ल अवस्था में बड़े उल्लास के साथ पवित्र नदियों व सरोवरों में स्नान आदि का जो कार्यक्रम रहता है, सम्भवतः उसी परम्परा को निभाने के रूप में आज भी कार्तिकी पूर्णिमा का स्नान अपने ऐतिहासिक महत्त्व की याद दिलाता है।

४. शुनासोरीय नामक चातुर्मास्य याग का चौथा पर्व कार्तिक पूर्णिमा के अनन्तर इच्छानुसार फाल्गुन पूर्णिमा से पहले की चाहे जिस पूर्णिमा में कर लिया जाता है।

मैत्रायणी संहिता [१।१०।१] के 'चातुर्मास्य याग' प्रकरण के प्रारम्भ में पाठ

१. 'भैषज्ययज्ञा वा एते यच्चातुर्मास्यानि। तस्माद् ऋतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते। ऋतुसन्धिषु हि व्याधिर्जायते।' कौषी० ब्रा० ५।१।१। इस विषय में गोपथ ब्राह्मण [२।१।१६] भी द्रष्टव्य है।

है—“आग्नेयोऽष्टाकपालः, सौम्यश्चरुः, सावित्रो द्वादशकपालः, सारस्वतश्चरुः, पौष्णश्चरुः, मारुतः सप्तकपालः, वैश्वदेव्यामिक्षा, द्वावापृथिवीया एककपालः।” यह वचन वैश्वदेव पर्व में—अग्नि, सोम, सविता, सरस्वती, पूषा, भरतु, वैश्वदेव, द्वावापृथिवी—इन आठ देवताओं के उद्देय से आठ यागों का विधान करता है। इन यागों में अग्नि, सोम, सविता आदि जो देवता कहे हैं, उनके स्थान पर ‘वैश्वदेवेन यजेत’ वाक्य विश्वेदेव देवता का विधान करता है। इस प्रकार ‘आग्नेयोऽष्टाकपालः’ आदि वाक्य से अग्नि आदि का विधान किया; ‘वैश्वदेवेन यजेत’ से विश्वेदेव का। दोनों का विधान होने से ‘ग्रीहिभिर्यजेत, यवैर्यजेत’ के समान यहाँ विकल्प प्राप्त होता है। अग्नि आदि के स्थान पर विश्वेदेव के आने से ‘यह वैश्वदेव पर्व है’ यह प्रसिद्धि भी सार्थक होती है। तात्पर्य है—अग्नि आदि देवों के स्थान पर ‘वैश्वदेवेन यजेत’ यह वाक्य ‘विश्वेदेव’-देवतारूप गुण का विधायक होने से इसे गुणविधि क्यों न माना जाय? आचार्य सूत्रकार ने बताया—॥१३॥

न वा प्रकरणात् प्रत्यक्षविधानाच्च न हि प्रकरणं द्रव्यस्य ॥१४॥

[न वा] नहीं है—गुणविधि—वैश्वदेव शब्द, [प्रकरणात्] प्रकरण से [च] और [प्रत्यक्षविधानात्] अग्नि आदि देवों के प्रत्यक्ष विधान से, [न] नहीं है [हि] क्योंकि [प्रकरणम्] साधारण प्रकरण [द्रव्यस्य] हवि आदि द्रव्य का।

वैश्वदेव शब्द गुणविधि नहीं है, यह चातुर्मास्य यागों के इस प्रकरण से ज्ञात होता है; क्योंकि यह प्रकरण द्रव्य या देवतारूप गुण का विधान नहीं करता। ‘आग्नेयोऽष्टाकपालः’ वाक्य साक्षात् ही अष्टाकपाल पुरोडाश साधनवाले अग्नि-देवताक याग का विधान करता है। इस वाक्य का अर्थ होगा—‘अष्टाकपालेन पुरोडाशेन—यागसाधनेन देवमग्निं भावयेत्’। इसी प्रकार सोम, सविता आदि प्रत्येक देवता की भावना से यहाँ आठ यागों का कथन है। इन्हीं आठ में विश्वेदेव देवता भी हैं—[—वैश्वदेव्यामिक्षा]। ज्योतिष्^१ शास्त्र में गणना के अवसर पर १३ संख्या के लिए ‘विश्वेदेव’ पद का प्रयोग किया जाता है। इससे ज्ञात होता है, तेरह विश्वेदेव हैं। यहाँ पर आठ के उल्लेख से तेरहों का ग्रहण ‘छत्रि-न्याय’ अथवा ‘दण्डि-न्याय’ से हो जाता है। पाँच-सात व्यक्ति जा रहे हैं; उनमें

१. ज्योतिष्-ग्रन्थों में कतिपय विशेष पदों का किसी निर्धारित संख्या के लिए प्रयोग किया जाता है। इसका आधार उस पद से बोध्य अर्थ की निर्धारित संख्या है। जैसे—‘चन्द्र’ पद एक संख्या के लिए, ‘नेत्र’ दो के, ‘गुण’ तीन के, ‘वेद’ चार के, ‘प्राण’ पाँच के, ‘ऋतु’ छह के, ‘ऋषि’ सात के, ‘वसु’ आठ के, ‘अङ्ग’ नौ के लिए, इत्यादि।

से दो-एक के पास छतरी या लाठी है। उसी के कारण वे सब छतरीवाले या दण्ड (लाठी) वाले कहे जाते हैं। इसी आधार पर यह आठों का समुदाय 'वैश्वदेव' नामक कहा जाता है। इन आठों में 'विश्वेदेव' के होने से 'छत्रि-न्याय' के अनुसार 'वैश्वदेव' में सबका ग्रहण हो जाता है। इस प्रकार चातुर्मास्य यागों का प्रथम पर्व 'वैश्वदेव'-संज्ञक निश्चित होता है। इसी कारण 'वसन्ते वैश्वदेवेन' अथवा 'वैश्वदेवेन यजेत' इत्यादि वाक्यों का सामञ्जस्य है। अतः ये याग के नामधेय हैं, गुणविधि नहीं ॥१४॥

'वैश्वदेव' शब्द के गुणविधि न होने में सूत्रकार ने अन्य प्रकार प्रस्तुत किया—

मिथश्चानर्थसम्बन्धः ॥१५॥

[मिथः] एक-साथ, वैश्वदेव शब्द का [अनर्थसम्बन्धः] दोनों के साथ अर्थ-सम्बन्ध उपपन्न नहीं होता [च] और यह भी वैश्वदेव के गुणविधि मानने में बाधक है।

'वैश्वदेव' शब्द को यदि गुणविधि माना जाता है, तो यह चातुर्मास्य के आग्नेय आदि यागों का वाचक सान्निध्यमूलक लक्षणा वृत्ति के आधार पर ही हो सकता है। जैसे—'गंगायां घोषः' वाक्य में 'गंगा' पद—धारा में घोष की सम्भावना न होने से—गंगातीर का वाचक होता है; उसी काल वह गंगा की जलधारा का वाचक नहीं होता। इसी प्रकार चातुर्मास्य आग्नेय आदि यागों के मध्य पठित 'वैश्वदेवी-आमिक्षा' में 'वैश्वदेव' शब्द सान्निध्यमूलक लक्षणा से आग्नेय आदि का वाचक होता है, तो उसी समय वह वैश्वदेव याग का विधायक नहीं हो सकता, क्योंकि चातुर्मास्य के चार पर्वों में प्रथम पर्व वैश्वदेव की सम्भावना केवल 'वैश्वदेवी-आमिक्षा' याग में न होने से—उस शब्द को लक्षणा वृत्ति से आग्नेय आदि यागों का वाचक मानना पड़ता है। तब एक बार पठित वह शब्द एक अर्थ को कहकर चरितार्थ हो जाता है। उसी काल में वह 'वैश्वदेव' याग का विधायक नहीं हो सकता। इसलिए चातुर्मास्य यागों के प्रथम पर्व में आग्नेय आदि जितने याग हैं, उन सबका यह नामधेय है, यही मानना युक्त होगा।

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है, चातुर्मास्य यागों में प्रथम पर्व के आग्नेय आदि याग अपने रूप में नितान्त निराकांक्ष हैं। 'आग्नेयोऽष्टाकपालः' प्रथम याग में द्रव्य व देवता दोनों पठित हैं। इसका यही अर्थ है—'अष्टाकपालेन पुरोडाशेन अग्निं देवं भावयेत्'; इसमें अन्य कहीं से द्रव्य-देवता की आकांक्षा नहीं है। ऐसे ही अगले वाक्यों 'सौम्यश्चरुः, सावित्रो द्वादशकपालः' आदि में समझना चाहिए। तब यहाँ गुणविधि की कल्पना कर 'वैश्वदेव'-देवतारूप गुण का विधान असंगत है। देवता व द्रव्य के अविहित होने पर उनकी आकांक्षा की पूर्ति के लिए गुणविधि की

कल्पना की जाती है। पर यहाँ चातुर्मास्य यागों के प्रथम पर्व में पठित आग्नेय आदि यागों की ऐसी स्थिति नहीं है, अतः गुणविधि की कल्पना निराधार है। इसके फलस्वरूप यही मानना पड़ता है कि—‘वसन्ते वैश्वदेवेन यजेत’ वाक्य में ‘वैश्वदेव’ शब्द वसन्त में अनुष्ठेय समस्त ‘आग्नेय’ आदि यागों का नाशधेय है। गुणविधि से उनका संग्रह करना अन्याय्य है ॥१५॥

‘वैश्वदेव’ शब्द के गुणविधि न होने में अन्य हेतु सूत्रकार ने प्रस्तुत किया—

परार्थत्वाद् गुणानाम् ॥१६॥

[परार्थत्वाद्] पर—अन्य-प्रधान याग के लिए होने से [गुणानाम्] गुणों के—गुणविधियों के।

गुणविधि वाक्य, प्रधान यागों में द्रव्य (यागसाधन-सामग्री-द्रव्य), देवता आदि गुण का विधान करने के लिए होते हैं। यदि ‘वैश्वदेव’ शब्द को गुणविधि माना जाता है, तो वह अन्य आग्नेय आदि प्रधान यागों में ‘विश्वदेव’-देवतारूप गुण का विधान करेगा। वहाँ ‘अग्नि’ आदि अन्य सात देवताओं के स्थान में ‘विश्वदेव’ एक देवता को लक्ष्य कर हविद्रव्य की आहुतियाँ दी जायेंगी। वैश्वदेव पर्व के प्रधान आठ यागों के लिए अग्नि-सोम-सविता आदि देवों के उद्देश्य से अष्टाकपाल आदि हविद्रव्यों का अलग-अलग विधान होने के कारण उन-उन द्रव्यों की आठ आहुतियाँ दी जाती हैं। पर अब गुणविधि मानने पर एक ही देवता ‘विश्वदेव’ के उद्देश्य से आहुति दिये जाने की स्थिति में अष्टाकपाल आदि हविद्रव्य के आधार पर याग का आवर्त्तन नहीं किया जा सकता। तात्पर्य है—देवता एक होने पर यदि आहवनीय हविद्रव्य अनेक हैं, तो उन सबको मिलाकर एक आहुति दे देने की शास्त्रीय व्यवस्था है। ऐसी दशा में वैश्वदेव पर्व की आठ आहुतियों के स्थान में एक आहुति रह जायगी।

‘वैश्वदेव’ पर्व में कुल तीस आहुतियाँ होती हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण [१।६।३] में ये इस प्रकार बताई हैं—६ प्रयाज की, ६ अनुयाज की, ८ मुख्य याग की, २ आधार और २ आज्यभाग की; इस प्रकार तीस आहुतियाँ होती हैं। ऐसी दशा में ‘वैश्वदेव’ को गुणविधि माने जाने पर मुख्य याग की आठ आहुतियों के

१. जैसे पौर्णमास में आग्नेय पुरोडाश, उपांशु याग और अग्निषोमीय पुरोडाश का विधान होने से प्रधान याग की तीन आहुतियाँ होती हैं, पर दर्श-इष्टि में ऐन्द्र दधि, ऐन्द्र पयः और उपांशु यागरूप में तीन का विधान होने पर भी दधि और पयः हविद्रव्यों (दही-दूध) का इन्द्र एक देवता होने से दोनों को मिलाकर एक आहुति दे दी जाती है।

२. द्रष्टव्य—तै० ब्रा० १।६।३॥ तथा मैत्रा० सं० १।१०।८॥

स्थान पर एक आहुति रह जाने से तीस की जगह तेईस ही आहुतियाँ रह जायेंगी, जो शास्त्रीय विधान के प्रतिकूल होगा। अतः वैश्वदेव को गुणविधि न मानकर याग का नामधेय मानना संगत होगा। ऐसी स्थिति अग्नि आदि आठ देवताओं के उद्देश्य से 'अष्टाकपाल' आदि आठ हविद्रव्यों की पृथक् एक-एक आहुति दिये जाने से सब प्रकार शास्त्रीय अनुकूलता बनो रहती है ॥१६॥ (इति वैश्वदेवादि-शब्दानां नामधेयताधिकरणम्—१०)।

(वैश्वानरेष्टत्वादीनामर्थवादताधिकरणम्, वैश्वानरेष्टचधिकरणं वा—११)

शिष्य जिज्ञासा करता है—तैत्तिरीय संहिता [२।२।५] में पाठ है—'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते' इत्यादि। यह वैश्वानर इष्टि, काम्येष्टि प्रकरण में पठित है। पुत्र के उत्पन्न होने पर वैश्वानर देवतावाले बारह कपालों में संस्कार किये गये (पकाये गये) पुरोडाश का निर्वपण करे। उसी प्रसंग में आगे पाठ है—“यदष्टाकपालो भवति गायत्रियैवेनं ब्रह्मवर्चसेन पुनाति, यन्नवकपाल-स्त्रिवृत्तं वास्मिन् तेजो दधाति, यद्दशकपालो विराजं वास्मिन्नन्नाद्यं दधाति, यदेकादशकपालस्त्रिष्टुभं वास्मिन्नन्निद्रियं दधाति, यद् द्वादशकपालो जगत्पञ्च वास्मिन् पशून् दधाति, यस्मिन् जात एतामिष्टि निर्वपति पूत एव तेजस्वो अन्नाद् इन्द्रियावो पशुमान् भवति।”

यहाँ आठ कपाल, नौ कपाल आदि में संस्कृत पुरोडाश का निर्वपण विभिन्न फलों का देनेवाला बताया है। यहाँ अष्टत्व आदि कपालों का विकल्प सन्देह का जनक है। क्या अष्टत्व आदि को गुणविधि माना जाय? अथवा अर्थवाद? विस्तृत विवेचन की भावना से सूत्रकार ने प्रथम पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया—इन्हें गुणविधि मानना चाहिए, क्योंकि—

पूर्ववन्तोऽविधानार्थास्तत्सामर्थ्यं समाप्ताये ॥१७॥

[पूर्ववन्तः] पहले से ज्ञात अर्थ को कहनेवाले वाक्य [अविधानार्थाः]

१. 'निर्वपण' पद मीमांसा में पारिभाषिक जैसा है। गार्हपत्य अग्नि जहाँ स्थापित है, उसके पच्छिम की ओर किसी पात्रविशेष [लकड़ी, चमड़े या मिट्टी आदि के बने] में धान या जौ यज्ञिय उपयोग के लिए लाकर रक्खा जाता है। उस पात्र में से पुरोडाश बनाने योग्य अन्न का मन्त्रोच्चारणपूर्वक एक-एक मुट्ठी भरकर चार बार 'अग्निहोत्र हवणी' नामक पात्र में ग्रहण करना, उसका पुरोडाश तैयार कर निदिष्ट देवता के उद्देश्य से त्याग करना, अर्थात् अग्नि में आहुति देना,—इस सब प्रक्रिया का नाम 'निर्वपण' है।

विधान के लिए नहीं होते, अर्थात् वे विधायक न होकर अर्थवाद माने जाते हैं। परन्तु [तत्-सामर्थ्यम्] अज्ञात अर्थ के विधान का सामर्थ्य है, [समाम्नाये] अष्टाकपाल, नवकपाल आदि के समाम्नाय में।

‘वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्’ वाक्य—पुत्र उत्पन्न होने पर बारह कपालों में संस्कृत पुरोडाश के निर्वाप का निर्देश करता है। आगे जो ‘यदष्टाकपालो भवति’ इत्यादि सन्दर्भ से आठ कपाल एवं नौ कपाल आदि में संस्कृत पुरोडाश के निर्वाप का निर्देश अन्य किसी वाक्य से प्रथम जाना हुआ नहीं है, यदि किसी अन्य वाक्य से जाना हुआ होता, तो यह निर्देश उस वाक्य का शेष = अर्थवाद माना जाता। इससे स्पष्ट होता है, यह सन्दर्भ वैश्वानर याग में प्रथम प्राप्त द्वादशकपाल होने के स्थान पर अष्टाकपालतारूप आदि गुण का विधान करता है। इसलिए इन्हें गुणविधि मानना उपयुक्त है।

विभिन्न संख्यावाले कपालों में संस्कृत पुरोडाश के निर्वाप का फल उक्त सन्दर्भ में पृथक्-पृथक् बताया है। उस-उस फल की कामना की इष्टि से आठ, नौ आदि संख्यारूप गुण का विधान यहाँ किया है। इस प्रकार द्वादश संख्या के साथ वैश्वानर याग में अष्ट, नव, दश, एकादश संख्या विकल्प को प्राप्त होती हुई गुणविधियाँ हैं। इनके फल क्रमशः पूत (८), तेजस्वी (९), अन्नाद्य (१०), इन्द्रियावी (११), पशुमान् (१२) हैं। वस्तुतः गुणविधिपक्ष में प्रत्येक संख्या-विशिष्ट वाक्य को गुणविधि मानने पर उत्तरवाक्य उसका अर्थवाद जानना चाहिए। अर्थवादीकृत फल भी फलरूप से मीमांसा में स्वीकृत है।^१ इसलिए अर्थवाद से प्राप्त होनेवाले उस-उस फल की कामना की दृष्टि से अष्टत्व आदि संख्या गुण का विधान वैश्वानर याग के अष्टत्व आदि विकल्प में मानना युक्त है ॥१७॥

वैश्वानरयागविषयक विकल्प के सम्बन्ध में सूत्रकार ने सिद्धान्तपक्ष बताया—

**गुणस्य तु विधानार्थेऽतद्गुणाः प्रयोगे स्युरनर्थका न हि तं प्रत्यथ-
वत्तास्ति ॥१८॥**

सूत्र में [तु] पद पूर्वपक्ष के निवारण के लिए है। [गुणस्य] अष्टाकपाल आदि वाक्य से, अष्टाकपाल पुरोडाश गुण के [विधानार्थे] विधान के लिए माने जाने पर [अ-तद्गुणाः] ये (अष्टाकपाल आदि) वैश्वानर याग के गुण नहीं होंगे; क्योंकि श्रुति में वैश्वानर याग की द्वादशकपालता प्रत्यक्षनिर्दिष्ट है— (=वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्)। अतः अष्टाकपाल आदि के [प्रयोगे] अन्य

याग का विधान करने में असमर्थ होने से [स्युः] हो जायेंगे, ये—अष्टाकपाल आदि [अनर्थकाः] अनर्थक। [किं] योकि [तं प्रति] अन्य याग-विधान के प्रति [अर्थवत्ता] प्रयोजनता = फलवत्ता [न-अस्ति] नहीं है, इन अष्टाकपाल आदि की।

काम्य इष्टियों के प्रकरण [तै० सं० २।२।५] में प्रजाकाम व पशुकाम व्यक्ति के लिए वैश्वानर याग का निर्देश है। बारह कपालों में पकाये पुरोडाश हविद्रव्य से इस याग का अनुष्ठान किया जाता है। पुत्र-फल के उत्पन्न होने पर 'अष्टाकपाल' आदि का उल्लेख है। यहाँ केवल कपाल-संख्या का विकल्प है। हवि-द्रव्य वही रहता है, उसमें कोई अन्तर नहीं। केवल कपाल-संख्या-भेद के आधार पर ये वाक्य किसी अन्य याग के विधान का सामर्थ्य नहीं रखते। अष्टत्व आदि संख्यायें द्वादश संख्या में अन्तर्भुक्त हैं। प्रथम पठित श्रुतिवाक्य—'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्' से द्वादशकपाल वैश्वानर प्रधान याग का साक्षात् निर्देश है। अष्टाकपाल आदि वाक्यों से इसमें किसी द्रव्य व देवता आदि गुण की प्राप्ति ही नहीं। ऐसी दशा में यदि इन्हें मुख्य वैश्वानर इष्टि का स्तावक अर्थवाद नहीं माना जाता, तो ये वाक्य अनर्थक हो जाते हैं।

इनके—पूत, तेजस्वी, अन्नाद्य आदि—फलविशेष-निर्देश के आधार पर भी इनकी अर्थवत्ता = फलवत्ता या प्रयोजनता स्वीकार नहीं की जा सकती; क्योंकि आठ-नौ आदि संख्याओं के साथ जो यह फल-निर्देश है, वह सब द्वादशकपाल वैश्वानर याग का ही स्तावक है। आठ, नौ, दस, ग्यारह संख्या, बारह संख्या में अन्तर्निहित हैं, उनसे अतिरिक्त इनका स्वतन्त्र रूप से कोई अस्तित्व नहीं। इसलिए यह फलनिर्देश मुख्य काम्य—पुत्र व पशुरूप फल की स्तुति प्रस्तुत करता है। वे पुत्र-पशुरूप फल इस प्रकार के होते हैं। यह द्वादशकपाल वैश्वानर याग की स्तुति है; अतः ये अष्टाकपाल आदि अर्थवाद हैं, गुणविधि नहीं।

अर्थवाद का स्वार्थ कुछ नहीं होता; वह मुख्य विधि का स्तावक होता है। मीमांसाशास्त्र में अर्थवाद के साथ कथित फल, उसी दशा में फलरूप से स्वीकार किया जाता है, जब मुख्य विधिवाक्य के साथ फल का निर्देश न हुआ हो। उस दशा में तत्सम्बन्धी अर्थवाद के साथ पठित फल को मुख्य विधि का फल मान लिया जाता है ॥१८॥

शिष्य यथार्थ को न समझता हुआ पुनः आशंका करता है—बारह और आठ आदि संख्यायें परस्पर नितान्त भिन्न हैं, तब अष्टाकपाल आदि को द्वादशकपाल वाक्य का शेष अर्थात् अर्थवाद कहना युक्त प्रतीत नहीं होता। सूत्रकार ने आशंका को सूत्रित किया—

तच्छेषो नोपपद्यते ॥१६॥

[तत्-शेषः] द्वादशकपाल वाक्य का, अष्टाकपाल आदि वाक्य शेष = अर्थवाद है, यह [न] नहीं [उपपद्यते] उपपन्न होता।

‘वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्’ इस विधिवाक्य का, ‘अष्टाकपालो भवति’ इत्यादि वाक्य अर्थवाद है, यह कथन युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता; क्योंकि ‘द्वादशकपाल’ पद में स्थित द्वादश (= बारह) संख्या के साथ ‘अष्टाकपाल, नवकपाल’ आदि पदों में स्थित आठ, नौ आदि संख्याओं का कोई सम्बन्ध नहीं है। तब ‘अष्टाकपाल’ आदि वाक्य पहले वाक्य के शेष = अर्थवाद हैं, उसकी स्तुति करनेवाले हैं, यह कैसे उपपन्न होगा ?

यहाँ यह याद रखना चाहिए—प्रस्तुत प्रसंग में ‘द्वादशकपाल’ अथवा ‘अष्टाकपाल’ आदि पदों का अर्थ—बारह कपालों एवं आठ कपालों आदि में पकाया गया—पुरोडाश है। तात्पर्य है—‘द्वादशकपाल’ पद, द्वादश कपालों में संस्कृत किये गये—पुरोडाश हविद्रव्य का वाचक है। इसी प्रकार ‘अष्टाकपाल’ आदि पदों में समझना चाहिए ॥१६॥

आचार्य सूत्रकार ने आशंका का समाधान किया—

अविभागाद् विधानार्थं स्तुत्यर्थेनोपपद्येरन् ॥२०॥

[अविभागात्] अविभक्त—सम्मिलित—अन्तर्हित होने से अष्ट आदि संख्याओं के [विधानार्थं] विधायक वाक्यगत द्वादश संख्या में, उनके निर्देश [स्तुत्यर्थेन] स्तुति के प्रयोजन से [उपपद्येरन्] उपपन्न हो जाएँगे।

‘वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्’ यह वैश्वानर याग का विधायक वाक्य है। यहाँ ‘द्वादशकपाल’ पद में पठित द्वादश (बारह) संख्या के अन्तर्गत आ जाती हैं—आठ, नौ, दस, ग्यारह संख्या, जो उक्त विधायक वाक्य के आगे ‘अष्टाकपालः, नवकपालः’ आदि वाक्यों में पठित हैं। साक्षात् श्रुतिबोधित विधायक वाक्य की उपस्थिति में हविद्रव्य के एक होने के कारण ये वाक्य (‘अष्टाकपालः’ आदि) अन्य वैश्वानर याग का विधान करने में असमर्थ रह जाते हैं। अनन्यगतिक होने से इनकी सार्थकता का एक ही मार्ग है—इनको वैश्वानर विधिवाक्य का अर्थवाद माना जाय। आठ आदि संख्यायें (८-११) क्योंकि बारह संख्या के ही अवयव हैं, इसलिए उनके नाम पर की गई स्तुति अवयवी = बारह संख्या की ही समझनी चाहिए। जैसे पहिये के अवयवों की स्तुति—इसके पुट्टी, अरे और नेमि बड़े दृढ़ और सुन्दर हैं—इस प्रकार की जाती है, वहाँ पहिए की स्तुति है। तथा, जैसे पैदल, घुड़सवार, हाथीसवार, रथसवार सेनानियों का समूह सेना है,—जब घोड़े, हाथी, रथ व पैदल सिपाहियों की प्रशंसा व उनके कार्यकलापों की स्तुति की

जाती है, तो वह सेना के अवयवभूत हाथी-रथ-घोड़ों की नहीं, अपितु उनके समूह सेना की स्तुति होती है। आजकल सेना के अंगों में मुख्य नौसेना, वायुसेना एवं स्थलसेना की गणना होती है। इनमें दोनों प्रकार के जहाज व पैदल सेना के अन्य विशिष्ट साधनों की स्तुति व निन्दा, उन अंगों की न होकर सामूहिक सेना की मानी जाती है। इसी प्रकार वैश्वानर द्वादशकपाल अङ्गी के, अङ्गभूत अष्टकपाल आदि की स्तुति को अङ्गी की स्तुति ही समझना चाहिए ॥२०॥

अष्टाकपाल पुरोडाश आदि में कामनाविशेष के आधार पर इन्हें स्वतन्त्र विधि माने जाने की शिष्य-आशंका को आचार्य सूत्रकार ने सूत्रित किया—

कारणं स्यादिति चेत् ॥२१॥

[कारणम्] कारण-विशेष प्रवृत्तिनिमित्त ब्रह्मवर्चस आदि [स्यात्] है, अष्टाकपाल आदि के स्वतन्त्र विधि माने जाने का, [इति चेत्] ऐसा यदि कहा जाय तो (यह उपयुक्त न होगा; अगले सूत्र के साथ सम्बन्ध है)।

‘अष्टाकपाल’ आदि वाक्य स्वतन्त्र याग के विधायक हैं, इस विचार का निश्चयक कारण उसी प्रसंग में विद्यमान है। वह है—ब्रह्मवर्चस आदि विशेष फल की कामना, और यागानुष्ठान से फलप्राप्ति का निर्देश। तैत्तिरीय संहिता [२।२।५] में स्पष्ट निर्देश है—ब्रह्मवर्चस की कामनावाले का अष्टाकपाल पुरोडाश होता है, तेजस् की कामनावाले का नवकपाल, अन्नाद्य की कामनावाले का दशकपाल, ऐन्द्रिय कामनावाले का एकादशकपाल तथा पशुकामनावाले का द्वादशकपाल। ‘वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्’ वाक्य में द्वादशकपाल पुरोडाश का विधान केवल पशुकामनावाले के लिए है। अष्टाकपाल पुरोडाश आदि इससे भिन्न ब्रह्मवर्चस, तेज आदि कामनावालों के लिए हैं, इस कारण इन्हें कामविधि मानना संगत है। इससे यह भी लाभ होगा कि इन्हें गुणविधि मानने में जो पुरोडाश का आनर्थक्य प्राप्त होता है, वह न होगा; और लक्षणावृत्ति से इनके द्वारा द्वादशकपाल की स्तुति की जो कल्पना की जाती है, वह भी नहीं करनी पड़ेगी। अतः ‘अष्टाकपाल’ आदि को स्वतन्त्र कामविधि मानना चाहिए ॥२१॥

आचार्य सूत्रकार ने उक्त मान्यता को शास्त्रीय औचित्य न देकर उक्त आशंका का समाधान किया

आनर्थक्यादकारणं कर्तुं हि कारणानि गुणार्थे हि विधीयते ॥२२॥

[आनर्थक्यात्] अनर्थक हो जाने से ‘अष्टाकपाल’ आदि वाक्यों के, [अकारणम्] कारण नहीं हैं, वे अष्टाकपाल आदि पूत आदि के [कर्तुः] कर्त्ता

१. ‘हि’ इति नास्ति, ‘गुणार्थे विधीयन्ते’ इति पाठः; रामेश्वरसूरि विरचिता सुबोधिनी व्याख्या। अर्थ में कोई अन्तर नहीं है।

के फल के प्रति [हि] क्योंकि, [कारणानि] कारण होते हैं—गुण, [गुणार्थः] स्तुतिरूप गुण प्रयोजन के लिए [हि] ही [विधीयते] विधान किये जाते हैं।

‘यदि ‘यदष्टाकपालो भवति’ इत्यादि वाक्यों को स्वतन्त्र काम्य विधि माना जाता है, तो यहाँ विभिन्न अनेक वाक्य हो जायेंगे, परन्तु संहिता [तं० सं० २।२।५] में इसको एक वाक्य के रूप में पढ़ा है। वहाँ पाठ है—“वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वर्षेत् पुत्रे जाते यदष्टाकपालो भवति” यहाँ से प्रारम्भ होकर ‘यद् द्वादशकपालो भवति जगत्वंवास्मिन् पशून् दधाति, यस्मिन् जाते एतामिष्टिं निर्वर्षति पूत एव तेजस्थ्यन्ताव इन्द्रियावी पशुमान् भवति।” इसके मध्य पठित ‘अष्टाकपाल’ आदि को विधिवाक्य मानने पर वाक्यभेद-दोष स्पष्ट है,—‘अष्टाकपाल-नवकपाल’ आदि वाक्यों का द्वादशकपाल वैश्वानर याग के साथ तब सम्बन्ध न रहेगा। वाक्यभेद होने पर प्रसंग के उपक्रम व उपसंहार की एकवाक्यता का भी भङ्ग हो जायगा।

इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान देने की बात है कि ‘अष्टाकपाल’ आदि को गुणविधि मानने पर ये वाक्य वैश्वानर याग के द्वादश के स्थान पर अष्टत्व आदि गुण का विधान करेंगे, तो अष्टाकपाल आदि के पूतत्व आदि फल यागकर्त्ता से ही सम्बद्ध माने जायेंगे। पुत्र की कामना से वैश्वानर याग का कर्त्ता तो जायमान पुत्र का पिता है। ऐसी स्थिति में वास्तविकता का सर्वथा विपर्यास हो जायगा, क्योंकि प्रस्तुत प्रसंग में पूतत्व आदि फल जातपुत्र के कहे गये हैं। तब यागकर्त्ता के साथ पूतत्व आदि फलों का सम्बन्ध न होने से ‘अष्टाकपाल’ आदि वाक्यों को वैश्वानर याग का गुणविधि मानना व्यर्थ होगा; क्योंकि गुणविधि मुख्य विधि-वाक्य का उपकारक होता है; यहाँ यह सम्भव नहीं। ऐसी अवस्था में इन वाक्यों का आनर्थक्य स्पष्ट हो जाता है। इनकी सार्थकता के लिए इसके सिवाय अन्य कोई मार्ग नहीं रह जाता कि इन अष्टाकपाल आदि वाक्यों को द्वादशकपाल वैश्वानर याग का स्तुतिरूप अर्थवाद माना जाय।

वैश्वानर याग के अनुष्ठान से अनुष्ठाना के घर उत्पन्न हुआ पुत्र पूतत्व आदि से सम्पन्न होता है। इसी तथ्य को संहिता में बताया—इस उत्पन्न पुत्र को जिस कारण गायत्री द्वारा पवित्र करता है, उससे वह पूत = पवित्र है। जिस कारण त्रिवृत् द्वारा इसमें तेज को स्थापित करता है, उससे यह तेजस्वी है। जिस कारण विराट् से इसमें अन्नाद्य को स्थापित करता है, उससे यह अन्नाद्य है। जिस कारण त्रिष्टुप् से इसमें इन्द्रिय को स्थापित करता है, उससे यह इन्द्रियावी—श्रेष्ठ इन्द्रियोवाला होता है। जिस कारण जगती से इसमें पशुओं को स्थापित करता है, इससे वह पशुमान् होता है। इस प्रकार अष्टाकपाल आदि कामनामूलक

१. संहिता के इस विवरण में गायत्री, विराट्, त्रिष्टुप्, जगती छन्दों के नाम हैं। त्रिवृत्—तीन आवृत्तिरूप ‘स्तोम’ का नाम है। एक साम गान, तीन

विधिवाक्य नहीं हैं। यदि इन्हें विधिवाक्य का स्तुतिरूप अर्थवाद भी न माना जाय, तो ये अनर्थक ही रह जाएँगे। स्पष्ट है—ब्रह्मवर्चस आदि के—अष्टाकपाल आदि कारण नहीं हैं। अथवा यह कहें कि ब्रह्मवर्चस आदि—अष्टाकपाल आदि के फल नहीं हैं। तात्पर्य है—ब्रह्मवर्चसकामोऽष्टाकपालेन पुरोडाशेन यजेत—ब्रह्मवर्चस की कामनावाला अष्टाकपाल पुरोडाश से यजन करे—इस प्रकार का गुणविधिपरक अभिप्राय इन वाक्यों का सम्भव नहीं है। इसलिए 'यदष्टाकपालो भवति' इत्यादि वाक्यों को अर्थवाद मानना ही शास्त्रसम्मत है ॥२२॥ (इति वैश्वानरेऽष्टत्वाद्यर्थवादताऽधिकरणम्—११) ।

(यजमानशब्दस्य प्रस्तरादिस्तुत्यर्थताधिकरणम्, तत्सिद्ध्याधि-
करणं वा—१२)

शिष्य जिज्ञासा करता है—गत सन्देहों का समाधान हो जाने पर 'यजमानः प्रस्तरः, यजमान एककपालः' इत्यादि वाक्यों में सन्देह है—क्या इन्हें गुणविधि माना जाय, अथवा अर्थवाद? प्रस्तर यजमान है, एवं एककपाल में संस्कृत पुरोडाश यजमान है,—ये वाक्य प्रस्तर में एवं एककपाल-संस्कृत पुरोडाश में यजमानरूप गुण का विधान करते प्रतीत होते हैं। यहाँ पहले से अविदित अर्थ का, अर्थात् अपूर्व अर्थ का विधायक होने से इन वाक्यों को गुणविधि क्यों न माना जाय? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

तत्सिद्धिः ॥२३॥

[तत्-सिद्धिः] उससे=प्रस्तर व एककपाल-संस्कृत पुरोडाश से यजमान के कार्य की सिद्धि होती है।

गौण अर्थ के आश्रय से प्रस्तर व एककपाल में संस्कृत पुरोडाश को यजमान कहकर उसकी स्तुति की है, इस कारण ये अर्थवाद-वचन हैं।

दर्शपूर्णमास इष्टि में वेदि पर बिछाने के लिए खड़ी हुई कुशा को मुट्टी में

ऋचाओं पर गाया जाता है। इसकी तीन आवृत्तियाँ की जाती हैं, जिनका नाम 'पर्याय' है। पर्यायों में मन्त्रावृत्ति के संख्याभेद के आधार पर किये जानेवाले गान का नाम 'स्तोम' है। छन्दों में गायत्री छन्द त्रिपाद २४ अक्षर का, विराट् (पंक्ति) चतुष्पाद ४० अक्षर का, त्रिष्टुप् चतुष्पाद ४४ अक्षर का, जगती चतुष्पाद ४८ अक्षर का होता है। द्वादशकपाल वैश्वानर-इष्टि में इनके उपयोग के वैज्ञानिक आधार को समझने का प्रयास करना चाहिए।

इस विषय में अधिक जानकारी के लिए द्रष्टव्य है—शाबरभाष्य का हिन्दी अनुवाद, युधिष्ठिर मीमांसक-कृत; पृष्ठ १४१-४३ ॥

बाँधकर चार मुट्टी कुशा 'बर्हिर्देवसदनं दामि' [मै० सं० १।१।२] मन्त्र का उच्चारण करते हुए काटी जाती हैं। इनमें पहली मुट्टी की कुशाओं का 'प्रस्तर' है। इसे एक ओर सुरक्षित रख, शेष तीन मुट्टी कुशाओं को वेदि में इस प्रकार बिछा दिया जाता है कि उनका अग्रभाग पूर्व की ओर रहे। इन कुशाओं के ऊपर दो कुशातृण आड़े, अर्थात् उत्तर-दक्षिण रख दिये जाते हैं, जिनमें एक पूर्व और दूसरा पच्छिम की ओर रखा जाता है। इनके ऊपर पहली मुट्टी की काटी हुई 'प्रस्तर'-संज्ञक कुशाओं को—उनका सिरा पूर्व की ओर कर—बिछा दिया जाता है। इन दोनों बिछावनों के बीच में आड़े रखे गए दो तृणों का नाम 'विधृति' इस कारण है कि 'प्रस्तर'-संज्ञक बिछावन को अपने ऊपर धारण कर दोनों बिछावनों को आपस में मिलने नहीं देते, क्योंकि इष्टि के सम्पन्न हो जाने पर 'प्रस्तर'-संज्ञक कुशाओं को होमाग्नि में आहुत कर दिया जाता है। प्रस्तर का उपयोग यज्ञिय पात्र—जुहू, उपभृत्, स्रुवा आदि को—रखने के लिए होता है। प्रस्तर पर इनके रखे जाने से इनमें लगा हव्य-द्रव्य प्रस्तर पर लग जाता है। इसीलिए इसे इष्टि सम्पन्न होने पर होमाग्नि में आहुत कर दिया जाता है, ताकि हविद्रव्य अन्यथा नष्ट न हो। इसी प्रकार एककपाल में संस्कृत पुरोडाश इष्टि सम्पन्न हो जाने पर होमाग्नि में त्याग दिया जाता है।

अब विचारना चाहिए, यदि इन्हें गुणविधि माना जाता है, तो प्रस्तर-कार्य में यजमानगुण का विधान होगा, अथवा दोनों के सामानाधिकरण्य से यजमान में प्रस्तरकार्य-रूप गुण का विधान होगा ? इनमें पहला विधान इसलिए सम्भव नहीं कि यजमान के द्वारा किए जानेवाले अनुष्ठेय कर्म का प्रस्तर द्वारा किया जाना असम्भव है। दूसरा विधान इसलिए संगत नहीं कि प्रस्तर-कार्य यजमान द्वारा किए जाने पर जुहू-स्रुवा-उपभृत् आदि यज्ञिय पात्र यजमान के देह पर रखे जाएँगे; यजमान द्वारा अनुष्ठेय कार्य कौन करेगा ? तथा अन्त में इष्टि सम्पन्न होने पर यजमान को होमाग्नि में आहुत कर दिया जायगा। तब इष्टि का स्वरूप व अस्तित्व ही नष्ट हो जायगा। अतः इन वाक्यों को गुणविधि कहना सर्वथा असंगत है। इष्टि के सम्पन्न होने पर पुरोडाश को भी होमाग्नि में आहुत कर दिया जाता है। तब क्या यजमान को भी आहुत कर दिया जाएगा ? फलतः ये वाक्य अर्थवाद हैं, यही संगत है। प्रस्तर या पुरोडाश यजमान के इष्टि-सम्बन्धी कार्य में उत्तम सहयोग देते हैं; इसी आधार पर यजमान कहकर उनकी स्तुति की गई है। ऐसा मानने पर ही प्रस्तर-सम्बन्धी तथा पुरोडाश-सम्बन्धी इष्टिगत कार्य—यज्ञिय पात्रों का रखा जाना, एककपाल में संस्कृत होना तथा अन्त में आहुत होना आदि—यथायथ सम्पन्न हो सकते हैं।

इनको नामविधि कहना भी संगत नहीं। प्रस्तर यजमान का अथवा यजमान प्रस्तर का नामधेय है; इसी प्रकार यजमान पुरोडाश का अथवा पुरोडाश यजमान

का नामधेय है; यह भी सम्भव नहीं, क्योंकि इन पदों की भिन्नार्थता सर्वत्र ज्ञात है, जो नामधेय माने जाने में सर्वथा बाधक है। इस प्रकार इन वाक्यों का अर्थवाद होना निश्चित होता है ॥२३॥ (इति यजमानशब्दस्य प्रस्तरादिस्तुत्यर्थताऽधिकरणम्—१२)।

(अग्न्यादिशब्दानां ब्राह्मणादिस्तुत्यर्थताऽधिकरणम्, जात्यधिकरणं वा—१३)

शिष्य जिज्ञासा करता है—संहिता एवं ब्राह्मणग्रन्थों में 'आग्नेयो वै ब्राह्मणः' [तै० सं० २।३।३॥ तै० ब्रा० २।७।३॥ ताण्ड्य ब्रा० १।५।८], 'ऐन्द्रो वै राजन्यः' [ताण्ड्य ब्रा० १।५।८॥ तै० ब्रा० ३।८।२३], 'वैश्वदेवो हि वैश्यः' [तै० ब्रा० २।७।२] इत्यादि वाक्य पठित हैं। इन्हें तो गुणविधि मानना चाहिए। ये अपूर्व अर्थ के विधायक होंगे। ये वाक्य यथाक्रम—ब्राह्मण के साथ अग्नि देवता के सम्बन्ध का, क्षत्रिय के साथ इन्द्र देवता के सम्बन्ध का तथा वैश्य के साथ विश्वेदेव देवता के सम्बन्ध का—विधान करेंगे। तब इन्हें गुणविधि क्यों न माना जाय ? अर्थवाद मानने पर तो ये अनर्थक रह जाएँगे, क्योंकि तब इनका कोई सामञ्जस्य नहीं बैठता। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

जातिः ॥२४॥

[जातिः] जन्म अर्थात् उत्पत्ति समान होने के कारण गुणभूत अर्थ के आधार पर यहाँ ब्राह्मण आदि को आग्नेय आदि कहकर उनकी स्तुति की गई है; अतः ये अर्थवाद हैं।

इस विषय की स्पष्टता के लिए तैत्तिरीय संहिता [७।१।१] का प्रसंग द्रष्टव्य है। वहाँ बताया है, प्रजापति के किस अंग से कौन-कौन अर्थ उत्पन्न हुए। उन्हें निम्न प्रकार जानना चाहिए—

१. प्रजापति के मुख से—त्रिवृत् स्तोम, अग्नि देवता, गायत्री छन्द, रथन्तर नामक साम, मनुष्यों में ब्राह्मण, और पशुओं में अज (बकरा)। ये मुख से उत्पन्न होने के कारण मुख्य हैं। यह इनके पारस्परिक सम्बन्ध का द्योतक है।

२. प्रजापति के उर (छाती) व बाहुओं से—पञ्चदश स्तोम, इन्द्र देवता, त्रिष्टुप् छन्द, बृहत्-नामक साम, मनुष्यों में राजन्य—क्षत्रिय, तथा पशुओं में अवि (—भेड़)। छाती और बाहुओं से उत्पन्न होने के कारण ये वीर्यवान्, शक्तिशाली व अतिशय सामर्थ्य के प्रतीक हैं। उत्पत्ति का समान कारण, इनके पारस्परिक सम्बन्ध का परिचायक है।

३. प्रजापति के मध्यभाग ऊरुओं (जंघाओं) से—प्रथम सप्तदश स्तोम, विश्वेदेव देवता, जगती छन्द, वैरूप-नामक साम, मनुष्यों में वैश्य और पशुओं में गाय। जंघाओं से उत्पन्न होने के कारण—जंघा जैसे शरीर का आधार है, ऐसे

ही समाज-शरीर का अन्नाधान के कारण आधार है। यह आर्थिक दृष्टि से समाज का मेरुदण्ड है, इसीलिए समाज में सदा प्रतिष्ठित है।

संहिता का यह प्रसंग आलंकारिक रूप में जिस प्रकार महत्त्वपूर्ण सामाजिक संघटन का प्रतीक है, वहाँ वेद के उन मन्त्रों का वास्तविक अर्थ समझने में पूर्ण सहयोगी है, जिन मन्त्रों में देवता का साक्षात् स्पष्ट निर्देश नहीं रहता। वहाँ देवता के इन सहयोगियों (स्तोम, छन्द आदि) के सहारे देवता को जानने का प्रयास किया जाता है, क्योंकि देवता का ज्ञान मन्त्रार्थ को समझने का मुख्य आधार है। निरुक्तकार यास्क ने सप्तम अध्याय [खण्ड, ८-११] में संहिता की भावना के अनुरूप उक्त पदार्थों का विशेष प्रकार से वर्गीकरण प्रस्तुत किया है।

संहितागत उक्त वर्गीकरण के आधार पर 'आग्नेयो वै ब्राह्मणः' इत्यादि वाक्यों द्वारा अग्नि-सम्बन्ध से ब्राह्मण की तेजस्विता, क्षत्रिय के—इन्द्र-सम्बन्ध से—शक्ति-बल व प्रशासन-सामर्थ्य, तथा विश्वेदेव देवता के सम्बन्ध से वैश्य के अर्थाधानता की प्रशंसा की गई। इसलिए ये स्तुति-रूप अर्थवादवाक्य हैं ॥२४॥ (इति आग्नेयादिशब्दानां ब्राह्मणादिस्तुत्यर्थताऽधिकरणम्—१३)।

(यजमानादिशब्दानां यूपस्तुत्यर्थाऽधिकरणम्, सारूप्याधिकरणं
वा—१४)

शिष्य जिज्ञासा करता है—'यजमानो यूपः' [का० सं० २६।६], 'आदित्यो यूपः' [तै० ब्रा० २।१।५] इत्यादि वाक्यों में सन्देह है, क्या इन्हें गुणविधि माना जाय ? अथवा अर्थवाद ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

सारूप्यात् ॥२५॥

[सारूप्यात्] समान रूप होने से यूप को यजमान कहकर स्तुति की गई है। तेजस्विता गुण से यूप को आदित्य कहा गया है, अतः यह स्तुतिरूप अर्थवाद है।

पशुबन्धन के लिए यूप की स्थापना होती है, यजमान याग का अनुष्ठाता है। 'यजमानो यूपः' यहाँ 'यजमान' और 'यूप' दोनों समानाधिकरण पद हैं। यहाँ गुणविधि मानने पर यजमान में यूपगुण का, अथवा यूप में यजमानगुण का विधान प्राप्त होता है, जो दोनों रूपों में अशक्य है। यथाक्रम न यजमान में पशु-बन्धन शक्य है, और न यूप में याग का अनुष्ठान किया जाना। यूप ऊँचाई आदि (आरोह-परिणाम = लम्बाई-चौड़ाई आदि) में पुरुष के प्रमाण का बनाया जाता है। इसी समानता से यूप को यजमान कहकर उसकी स्तुति की गई है। यूप बन जाने पर 'देवस्य त्वा' [कात्या० श्रौ०, ६।३।२] इत्यादि मन्त्र को बोलते हुए उसे

१. 'सारूप्यम्' पाठ है, रामेश्वर सूरि विरचित 'सुबोधिनी' व्याख्या में।

घृत से अभ्यक्त किया (चुपड़ा) जाता है, इससे यूप में चमक आ जाती है। इसी तेजस्विता की समानता से यूप को आदित्य कहकर उसकी स्तुति की गई है। अतः ये स्तुतिरूप अर्थवादवाक्य हैं ॥२५॥ (इति यजमानादिशब्दानां यूपस्तुत्यर्थताधिकरणम्—१४) ।

(अपश्वदिशब्दानां गवादिप्रशंसाऽधिकरणम्, प्रशंसाधिकरणं वा—१५)

शिष्य जिज्ञासा करता है—‘अपशवो वा अन्ये गो-अश्वेभ्यः पशवो गो अशवाः’ [तै० सं० ५।२।६], ‘अयज्ञो वा एष योज्सामा’ [तै० सं० १।५।७], ‘असत्रं वा एतद् यदच्छन्दोयम्’ [तै० सं० ७।३।६, ८] इत्यादि वाक्यों में सन्देह है, क्या ये गुणविधि हैं ? अथवा अर्थवाद ? अपूर्व विधान होने से इन्हें गुणविधि मानना क्या युक्त न होगा ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

प्रशंसा ॥२६॥

[प्रशंसा] गाय-घोड़े से अन्य अजा-महिषी को अपशु कहकर गाय-घोड़े की प्रशंसा—स्तुति की गई है, अतः यह अर्थवाद है ।

तैत्तिरीय संहिता के उक्त उद्धृत वाक्यों में यथाक्रम अन्य पशुओं की निन्दा कर उनके मुकाबले में गो-अश्व की प्रशंसा की गई है। सामरहित यज्ञ की निन्दा कर उनके साम्मुख्य में सामयुक्त यज्ञ की प्रशंसा की है। छन्दोम-संज्ञक स्तोमों से रहित सत्रों की निन्दा कर छन्दोम-संज्ञक स्तोमों से युक्त सत्रों की प्रशंसा के लिए यह वाक्य है। अतः ये सब स्तुतिरूप अर्थवाद हैं ।

यदि इन्हें गुणविधि माना जाता है, तो गो-अश्व से अन्य अज-महिष आदि में अपशुत्व का विधान होगा, जो नितान्त असंगत व अस्वीकार्य है। इसी प्रकार सामरहित दर्शपूर्णमास आदि में अयज्ञत्व प्राप्त होकर उनके विधायक वाक्य अफल हो जायेंगे; यह अशास्त्रीय होगा। ऐसे ही छन्दोम नामक स्तोमों से रहित सत्रों के असत्र होने का विधान मानने पर उनके विधायक वाक्य निष्प्रयोजन हो जायेंगे; जो अशास्त्रीय होगा। यह अनर्थ प्रसक्त हो जाने के कारण इन्हें गुणविधि मानना अयुक्त होगा। ये ऐसे ही वाक्य हैं, जैसे लोक में कहा जाता है—‘जो घृतरहित है, वह भोजन नहीं है; जो मलिन है, वह वस्त्र नहीं है’। यह भोजन में घृत होने और वस्त्र के स्वच्छ होने की प्रशंसामात्र है।^१ यहाँ अज आदि अन्य

१. अमी भट्टिकाव्य का एक श्लोक याद आ गया, जिसमें ऐसे ही लौकिक उदाहरण हैं, तथा पद्य में ‘एकावली’ अलंकार है। श्लोक है—

पशुओं की निन्दा में वास्तविक तात्पर्य न होकर गो-अश्व आदि की प्रशंसा छोटन करना मुख्य तात्पर्य है ॥२६॥ (इति अपश्वादिशब्दानां गवादिप्रशंसासार्थताधि-करणम्—१५) ।

(बाहुल्येन सृष्टिव्यपदेशाधिकरणम्, भूमाधिकरणं वा—१६)

शिष्य जिज्ञासा करता है—‘सृष्टीरूपदधाति’ [तै० सं० ५।३।४] वाक्य संहिता में पठित है । इसे गुणविधि माना जाय, अथवा अर्थवाद ? यह सन्देह है । अपूर्व अर्थ का विधायक होने से इसे गुणविधि क्यों न माना जाय ? सूत्रकार ने समाधान किया—

भूमा ॥२७॥

[भूमा] उक्त प्रकरण में ‘सृज्’ धातुयुक्त मन्त्रों के बाहुल्य से यह वाक्य उस प्रकरण में पठित ‘सृज्’ धातुरहित मन्त्रों द्वारा भी इष्टकाओं के उपधान का विधान करता है ।

‘सृष्टीरूपदधाति’ वाक्य में ‘सृष्टीः’ पद ‘सृष्टि’ पद के द्वितीया बहुवचन का रूप है । ‘सृष्टि’ पद ‘सृज्’ धातु से—‘इक्षिपी धातुनिर्देशे’ [महाभाष्य, ३।३।१०८] इस नियम के अनुसार—‘क्षिप्’ प्रत्यय होकर सिद्ध होता है । इसका तात्पर्य है, जहाँ धातु का निर्देश करना हो, वहाँ विभक्तिपूर्वक निर्देश किया जा सके, इस सुविधा के लिए धातु के आगे ‘इक्’ अथवा ‘क्षिप्’ प्रत्यय लगाकर उसे पद का रूप दे दिया जाता है । तब उसका विभक्त्यन्त प्रयोग करने में कोई अड़चन नहीं रहती । फलस्वरूप प्रस्तुत प्रसंग में ‘सृष्टि’ पद से केवल ‘सृज्’ धातु का निर्देश करना अभिप्रेत है । वह ‘सृज्’ धातु—‘असृज्यत, असृज्येताम्, असृज्यन्त’ इत्यादि रूप से जिन मन्त्रों में पठित है, वे सृष्टिमत् मन्त्र—अर्थात् ‘सृज्’ धातु वाले मन्त्र—कहे जाते हैं । यागनिमित्त स्थण्डिल या वेदि बनाने के लिए इष्टकाओं के उपधान (= रखने) में इन मन्त्रों का प्रयोग किया जाता है । यहाँ ‘सृष्टि-मत्’ पद में—पाणिनीय [४।४।१२५] नियम के अनुसार उपधान अर्थ में, यदि

न तज्जलं यन्न सुचारुपङ्कजम्,

न पङ्कजं तद् यदलीनषट्पदम् ।

न षट्पदोऽसौ न जुगुञ्ज यः कलम्,

न गुञ्जितं तन्न जहार यन्मनः ॥

वह जल नहीं, जहाँ सुन्दर कमल न खिले हों; वह कमल नहीं, जिस पर भौरे न लिपटे हों; वह भौरा नहीं, जो सुन्दर गूँज न रहा हो; वह गुञ्जन नहीं, जो मन को हरण न करे ।

उपधानीय इष्टकाएँ हैं, तो—‘यत्’ प्रत्यय होकर ‘मनुप्’ का लोप हो जाता है; तथा ‘यत्’ प्रत्यय का भी छान्दस लोप होकर वाक्य के ‘सृष्टि’ पद का अर्थ वे इष्टकाएँ हैं, जो वेदि बनाने के लिए उक्त मन्त्र बोलकर रखी जाती हैं।

ये मन्त्र शुक्ल^१ यजुर्वेद माध्यन्दिनीय शाखा के १४ अध्याय की २८-३१ तक की चार कण्डिकाओं में पठित हैं। इनकी संख्या कुल १७ है। ‘एकयास्तुवत्’ से प्रारम्भ होकर ‘त्रयस्तिशत्’ संख्या तक विषम संख्या—‘एक, तीन, पाँच, सात’ आदि सत्रह बनती हैं। यह रहस्य यहाँ अन्वेष्ट्य है कि एक से तेतीस तक की सत्रह विषम संख्याओं के साथ पठित मन्त्रों का आधार क्या है? प्रस्तुत प्रसंग में केवल इतना जानना है कि इन सत्रह मन्त्रों में से पहले, चौदहवें और सत्रहवें में ‘सृज्’ धातु का ‘असृज्यत्’^२ आदि कोई रूप प्रयुक्त नहीं है; शेष सबमें उपयुक्त रूप प्रयुक्त हैं।

ऐसी दशा में यदि ‘सृष्टीरूपदधाति’ वाक्य को गुणविधि माना जाता है, तो इसका अर्थ होगा—सृष्टि (= ‘सृज्’ धातुयुक्त) मन्त्रवाली इष्टकाओं को रखता है। इष्टकाओं के अपने रूप में कोई भेद नहीं है कि इस रूपवाली इष्टकाएँ सृज् धातु (सृष्टि) मन्त्रवाली हैं, और इस प्रकार की सृष्टिमन्त्रवाली नहीं हैं। तब उक्त वाक्य से सृष्टि (= ‘सृज्’ धातुयुक्त) मन्त्ररूप गुण का विधान मानने पर इष्टकाओं के उपधान में सृष्टिलिङ्गवाले मन्त्र ही प्राप्त होंगे; शेष अनर्थक हो जायेंगे। तात्पर्य है—यज्ञाग्नि के लिए स्थण्डिल (—वेदि) निर्माण-निमित्त आवश्यक सभी इष्टकाओं का सृष्टिलिङ्ग मन्त्रों से उपधान हो जाने पर उस प्रकरण में पठित सृष्टिलिङ्गरहित मन्त्र निष्प्रयोजन हो जायेंगे। यदि सृष्टिलिङ्ग-मन्त्रों को सृष्टिलिङ्गरहित मन्त्रों का उपलक्षण माना जाता है, अर्थात् प्रकरण-पाठ-सान्निध्यरूप लक्षणा से सृष्टिलिङ्गरहित मन्त्रों का ग्रहण हो जायगा; तो यह कथन भी युक्त नहीं, क्योंकि विधिवाक्य में लक्षणा को मीमांसक दोष मानते हैं। अनुवाद में लक्षणा को दोष नहीं माना जाना; इसलिए ‘सृष्टीरूपदधाति’ में मन्त्रगत ‘सृज्’ का प्रयोग अग्नि-चयन प्रकरण के लिए सर्जन कर्म का अनुवाद-कथन है, अर्थात् सर्जन कर्म का स्तावक है। सृष्टिलिङ्ग-मन्त्रों का बाहुल्य, अत्यल्प सृष्टिलिङ्गरहित मन्त्रों को अन्तर्भुक्त कर लेता है। मीमांसकों का एक ‘दण्ड-न्याय’ है। जब अधिक व्यक्तियों के हाथों में दण्ड हों, और थोड़े व्यक्ति दण्डरहित हों, ऐसा गिरोह जब कहीं जा रहा हो, तो ‘दण्डिनो यान्ति’ प्रयोग होता है। अधिक दण्डधारियों में अत्यल्प दण्डरहित उन्हीं में अन्तर्हित हो जाते हैं। प्रस्तुत प्रसंग में

१. तैत्तिरीय संहिता [४।३।१०] में भी इन मन्त्रों को पढ़ा गया है।

२. पहला, चौदहवाँ और सत्रहवाँ, जिनमें ‘सृज्’ धातु का कोई उपयुक्त रूप प्रयुक्त नहीं है।

ऐसी ही स्थिति है। अतः उक्त वाक्य अर्थवाद है, गुणविधि नहीं ॥२७॥ (इति बाहुल्येन सृष्टिव्यपदेशाधिकरणम्, भूमाधिकरणं वा—१६) ।

(प्राणभृदादिशब्दानां स्तुत्यर्थताधिकरणम्, लिङ्गसमवायाधिकरणं वा—१७)

शिष्य जिज्ञासा करता है—गत वाक्यों के अतिरिक्त अन्य वाक्य हैं—‘प्राणभृत उपदधाति’, ‘अज्यानीरुपदधाति’ इत्यादि। इनमें सन्देह है—क्या ये गुणविधि हैं ? अथवा अर्थवाद ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

लिङ्गसमवायात् ॥२८॥

[लिङ्गसमवायात्] ‘प्राण’ रूप लिङ्ग के समवाय से अर्थात् सम्बन्ध से ‘प्राण’ लिङ्गरहित मन्त्रों का भी कथन हो जाता है।

प्राणभृत नामक इष्टकाएँ पचास हैं। इन इष्टकाओं के मन्त्र शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिनी शाखा^३ के अध्याय तेरह की पाँच कण्डिकाओं [५४ से ५८ तक] में पठित हैं। प्रत्येक कण्डिका के दस टुकड़े करके, अथवा दस बार आवृत्ति करके प्रत्येक मन्त्र से एक-एक इष्टका का उपधान किया जाता है। इस प्रकार पाँच कण्डिकाओं के पचास $[५ \times १० = ५०]$ टुकड़े अथवा आवृत्ति से प्राणभृत-संज्ञक पचास इष्टकाओं का उपधान होता है। इन पाँच कण्डिकाओं में से केवल पहली कण्डिका के दूसरे, तीसरे तथा दसवें टुकड़े या मन्त्र में ‘प्राण’ पद पठित होने से इन्हीं में ‘प्राण’ लिङ्ग का सम्बन्ध है। शेष सैंतालीस ‘प्राण’ लिङ्ग से रहित हैं। ऐसी स्थिति में यदि ‘प्राणभृत उपदधाति’ को गुणविधि माना जाता है, तो जिन मन्त्रों में ‘प्राण’-लिङ्गरूप गुण विद्यमान है, उन्हीं के द्वारा इष्टकाओं का उपधान प्राप्त होगा; शेष मन्त्र अनर्थक हो जाएँगे। अतः इसे गुणविधि न मानकर अर्थवाद मानना उपयुक्त होगा। उस दशा में प्रथम कण्डिका-पठित ‘प्राण’ लिङ्ग का,

१. इन वाक्यों का मूल स्थल यथाक्रम द्रष्टव्य है—तै० सं० ५।२।१०॥ तथा ५।७।२॥

२. हलायुध-कृत ‘मीमांसा शास्त्र सर्वस्व’ में २३ से २८ तक छह सूत्रों को एक सूत्र मानकर पाठ इस प्रकार दिया है—‘तत्सिद्धिजातिसारूप्यप्रशंसाभूम-लिङ्गसमवाया इति गुणाश्रयाः’ [बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी का जर्नल, सन् १९३१, पृष्ठ २७६ के अनुसार]। शाबर भाष्य में सूत्र के पदों को पृथक् सूत्ररूप में रखकर व्याख्या की है। पर शाबर भाष्य में ‘गुणाश्रयाः’ पद सूत्रगत नहीं है।

३. मन्त्रों के लिए तैत्तिरीय संहिता, ४।३।२ भी द्रष्टव्य है।

प्रथम पाठ-प्राधान्य से आगे पठित सभी कण्डिकागत मन्त्रों के साथ सम्बन्ध माना जायगा। पचास मन्त्रों में से तीन में पठित 'प्राण'-लिङ्ग शेष संतालीस को भी लक्षित करेगा। यह व्यवस्था 'छत्रिन्याय' के अनुसार समझनी चाहिए। दस व्यक्तियों में यदि एक-दो के पास छतरी है, शेष सब छतरी से रहित हैं, तब भी 'छत्रिणो यान्ति' छतरीवाले जा रहे हैं, प्रयोग होता है। एक-दो छतरीवाले से ही सब लक्षित हो जाते हैं।

इसी प्रकार 'अज्यायीरूपदधाति' दूसरा वाक्य है। अज्यानि नामक इष्टकाएँ केवल पाँच हैं। तैत्तिरीय संहिता [५।७।२] में वे मन्त्र हैं, जिनसे इन इष्टकाओं का उपधान किया जाता है। उन मन्त्रों के प्रथम प्रतीक पद इस प्रकार हैं— शतायुधाय; ये चत्वारः; ग्रीष्मो हेमन्तः; इदु वत्सराय; भद्रान्नः श्रेयः। इन मन्त्रों के निर्देश के अनन्तर वहाँ पड़ा है—'अज्यानीरेता उपदधाति'—अज्यानि नामक इन इष्टकाओं का उपधान करता है। इसके आगे यह अर्थवाद पठित है—'एता वै देवता अपराजितास्ता एव प्रविशति, नैव जीयते'—उक्त मन्त्रों में निर्दिष्ट इन्द्र आदि देवता अपराजित हैं; याग का अनुष्ठाता यजमान इन्हीं देवताओं में प्रवेश करता है, वह किसी से जीता नहीं जाता। इन पाँचों मन्त्रों में से केवल दूसरे मन्त्र में 'अज्यानिम्' पद पड़ा है। यदि 'अज्यानीरेता उपदधाति' को गुणविधि माना जाता है, तो पाँचों इष्टकाओं का उपधान उक्त मन्त्र की आवृत्ति द्वारा उसी एक मन्त्र से किया जाना प्राप्त होगा, शेष मन्त्र निरर्थक हो जाएँगे। अर्थवाद मानने पर दृष्टलिंग एक मन्त्र, शेष चार का भी उपलक्षण होगा। पाँच मन्त्रों के समुदाय में एक मन्त्रगत भी दृष्टलिङ्ग का सम्बन्ध शेष अलिङ्ग मन्त्रों को भी लक्षित करेगा, जैसे अनेक व्यक्ति-समुदाय में एक व्यक्ति के साथ छाते का सम्बन्ध, छातारहित अन्य सभी साथी व्यक्तियों को भी लक्षित करता है। छाताधारी एक ही होने पर 'छत्रिणो यान्ति' व्यवहार सर्वमान्य होता है ॥२८॥ (इति प्राणमृदादिशब्दानां स्तुत्यर्थताधिकरणम्—१७)।

(वाक्यशेषेण सन्दिग्धार्थनिरूपणाधिकरणम्, वाक्यशेषाधिकरणम्, अक्ताधिकरणं वा—१८)

शिष्य जिज्ञासा करता है—'अक्ताः शर्करा उपदधाति' वाक्य वैदिक साहित्य [तै० ब्रा० ३।१२।५] में पठित है। इसके उपसंहार में 'तेजो वै घृतम्' घृत का स्तुतिवाक्य है। चातुर्वर्ण्य चयन याग में सुवर्ण इष्टकाओं का उपधान होता है।

१. तैत्तिरीय ब्राह्मण [३।१२।५] का पाठ इस प्रकार है—'हिरण्येष्टको भवति। यावदुत्तममंगुलिकण्डं यज्ञपरुषा सम्मितम्। तेजो हिरण्यम्। यदि हिरण्यं न विन्वेत्, शर्करा अक्ता उपदध्यात्, तेजो घृतम्। स तेजसमेवाग्निं चिनुते।'।

अंगुलि के तीसरे पर्व के परिमाण की सुवर्ण इष्टकाएँ उपलब्ध न होने पर चिकनी की गई रोड़ी (—शर्करा) का वेदि में उपधान किया जाता है।^१ यहाँ उपक्रम में शर्करा का 'अक्ताः' विशेषण है, जिसका अर्थ है—'चिकनी की हुई'। यह सामान्य वचन है; चिकनी घृत से भी की जा सकती हैं, और तैल आदि से भी। परन्तु उपसंहार में चिकनाई के एक साधनद्रव्य घृत की स्तुति की गई है। यह चिकनाई के साधनद्रव्य घृत का विशेष कथन है। एक ही वाक्य के उपक्रम—आरम्भ में सामान्यकथन और उपसंहार में विशेषकथन होने से परस्पर विरुद्ध है। प्रस्तुत प्रसंग में यही सन्देह का कारण है। क्या उपक्रम के सामान्यकथन से उपसंहार के विशेषकथन 'घृत' को सामान्य चिकनाई-साधन द्रव्यपरक माना जाय? अथवा उपसंहार के चिकनाई-साधन विशेष द्रव्य घृत के कथन से उपक्रम के सामान्य कथन को उलटकर उसके स्थान पर विशेष कथन को स्वीकार किया जाय?

उपक्रम के अवसर पर विरोध का कोई आधार नहीं है; विरोध की भावना उपसंहार पर उभरती है। तब विरोध के परिहार के लिए यह उचित होगा कि उपक्रम के अनुसार उपसंहार के चिकनाई-साधन विशेष द्रव्य घृत को चिकनाई-साधन सामान्य द्रव्यपरक क्यों न मान लिया जाय? इससे चिकनाई-साधन घृत, तैल आदि सभी द्रव्यों का ग्रहण हो जाता है। यह ऐसा ही कथन है, जैसे—'सृष्टीरूपदधाति' में 'सृज्' धातु-सिद्ध सृष्टि शब्द सृष्टिपदघटित तथा सृष्टिपद-रहित सभी मन्त्रों के लिए व्यवहृत है; ऐसे ही 'घृत' पद घृत, तैल आदि सभी चिकनाई-साधन द्रव्यों के लिए प्रयुक्त माना जाय। आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

सन्दिग्धेषु वाक्यशेषात् ॥२६॥

[सन्दिग्धेषु] उपक्रम और उपसंहार के विरोध होने से सन्देहयुक्त वाक्यों में [वाक्यशेषात्] वाक्यशेष से अर्थात् उपसंहार-वाक्य से अर्थ का निश्चय करना चाहिए। उपसंहार में चिकनाई-साधनद्रव्य घृत की स्तुति होने से यह श्रुति-बोधित अर्थ स्पष्ट हो जाता है कि शर्कराओं का अञ्जन (चिकनापन) घृत से किया जाना चाहिए। घृत तेजोरूप है, घृताक्त शर्करा का चयन में उपधान यजमान में तेजस्विता का आधान करता है। अतः 'अक्ताः शर्करा उपदधाति' वाक्य स्तुतिरूप होने से अर्थवाद है, गुणविधि नहीं।

उपक्रम-उपसंहार में विरोध-परिहार के लिए यह कथन उपयुक्त न होगा कि 'अक्ताः शर्करा उपदधाति' में वर्तमानकालिक 'उपदधाति' क्रिया होने, तथा विधि-

क्रिया के न होने से उपक्रम में जो अञ्जन का सामान्य कथन है, वह विधि-निर्देश नहीं है। उपसंहार में अञ्जन-साधन विशेष द्रव्य धृत का स्तवन होने से वह श्रुति द्वारा अञ्जन-साधन बोधित होता है। ऐसी दशा में उपक्रम-उपसंहार के विरोध की सम्भावना ही नहीं रहती; तब यह अधिकरण-निर्देश अनावश्यक हो जाता है।

विरोध के परिहार की यह कल्पना युक्त नहीं है, क्योंकि वैदिक वाङ्मय में विधि-अर्थ के लिए 'लेट्' लकार का प्रयोग भी होता है। भाष्यकार शबर स्वामी ने प्रस्तुत उद्धृत वाक्य में लेट् लकार का प्रयोग किया प्रतीत होता है। विध्यर्थक लेट् लकार में 'उपदधाति' क्रियापद सिद्ध है; उस दशा में यह वाक्य विधायक होने से उपक्रम-उपसंहार के विरोध का उद्भावक होगा। तैत्तिरीय ब्राह्मण [३।१२।५] में 'उपदध्यात्' यह विधि लकार का ही क्रियापद है। इसलिए ऐसे विरोध-स्थलों में उसके परिहार का उपाय यही है कि उपसंहार-वाक्य के अनुसार अर्थ का निश्चय किया जाय।

इसी प्रकार के अन्य वाक्य हैं—'वासः परिधत्ते; एतद्वै सर्वदेवत्वं वासो यत् क्षौमम्' यहाँ उपक्रम में साधारण रूप से वस्त्र-धारण का विधान है; इससे यज्ञ में किसी भी प्रकार का वस्त्र धारण करना प्राप्त होता है; परन्तु उपसंहार में क्षौम वस्त्र की स्तुति होने से 'वासः परिधत्ते' वाक्य का 'वासः' पद क्षौम वस्त्र का विधायक है, अन्य किसी वस्त्र का नहीं। क्षुमा अतसी या लोकप्रसिद्ध अलसी पौधे का नाम है। उसके रेशों से बना वस्त्र 'क्षौम' कहा जाता है। इसके अनुसार यज्ञ में क्षौम वस्त्र के परिधान का विधान सिद्ध होता है। 'क्षौम' का अर्थ रेशमी वस्त्र नहीं है, क्योंकि वह कीड़े के द्वारा बनाये गये कोश के तन्तुओं से तैयार किया जाता है। उसके निर्माण में हिंसा के अनिवार्य होने से वह यज्ञिय परिधान के योग्य नहीं माना जाता। 'क्षौम' पद का अर्थ प्रायः रेशमी वस्त्र किया जाता है। उसका तात्पर्य क्षुमा = अलसी के रेशे से बनाये गये नकली रेशमी वस्त्र समझना चाहिए।

ऐसा ही एक अन्य वाक्य है—'इमां स्पृष्ट्वा उद्गायेत्, इमां हि औदुम्बरीं विवृणुतान्युपजीवन्ति।'—इसको स्पर्श कर सामगान करे; इस औदुम्बरी = गूलर वृक्ष की शाखा का सब प्राणी सहारा लेते हैं। यहाँ भी उपक्रम में 'इमां' सर्वनाम पद से सामान्य रूप में किसी भी वृक्ष की शाखा का स्पर्श—सामगान प्रारम्भ करने से पूर्व प्राप्त होता है। परन्तु उपसंहार में औदुम्बरी शाखा की स्तुति किये जाने से उपक्रम के 'इमां' सर्वनाम पद का—उदुम्बर शाखा के विधान में—तात्पर्य निश्चित होता है ॥२६॥ (इति वाक्यशेषेण सन्दिग्धार्थनिरूपणाधिकरणम्—१८)।

(सामर्थ्यानुसारेणाव्यवस्थितानां व्यवस्थाधिकरणम्, सामर्थ्याधिकरणं वा—१६)

शिष्य जिज्ञासा करता है—अन्य कतिपय वाक्य ऐसे हैं, जिनमें सन्देह है—‘स्रुवेणाऽवद्यति, स्वधितिनाऽवद्यति, हस्तेनाऽवद्यति’ आदि—स्रुव से अवदान करता है, स्वधिति=छुरी से अवदान करता है, हाथ से अवदान करता है, इत्यादि। रक्खे हुए पूरे आहवनीय द्रव्य में से उसका कुछ अंश अलग करने का नाम ‘अवदान’ है। आहवनीय द्रव्य तरल घृत आदि, दृढ़ पका हुआ पुरोडाश आदि, तथा ढेर के रूप में (संहत) रक्खा हुआ सामग्री आदि है। यहाँ सन्देह है, क्या प्रयोजन के अनुसार विशिष्ट आहवनीय द्रव्य का किसी स्रुव आदि विशिष्ट साधन से अवदान किया जाय, ऐसी व्यवस्था मानी जाय ? अथवा अव्यवस्थित रूप में किसी भी साधन से किसी भी आहवनीय द्रव्य का अवदान किया जा सकता है ? प्रस्तुत प्रसंग में इस विषय का कोई विशेष निर्देश न होने सामान्य रूप में यही प्राप्त होता है कि स्रुव आदि किसी भी साधन से किसी भी आहवनीय द्रव्य का अवदान कर लेना चाहिए। क्या यह युक्त है ? आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

अर्थाद्धा कल्पनैकदेशत्वात् ॥३०॥

[अर्थात्] अर्थ से—पदसामर्थ्य से [वा] ही, (अथवा ‘वा’ पद पूर्वोक्त अव्यवस्था के निराकरण का द्योतक है), तात्पर्य है—प्रयुक्त पद के सामर्थ्यानुसार जिस साधन से जिस द्रव्य का अवदान सम्भव है, उसकी [कल्पना] कल्पना करना युक्त है, क्योंकि [एकदेशत्वात्] सामर्थ्य, पदबोध्य वस्तु का एकदेश—अङ्ग होता है।

‘स्रुवेण अवद्यति’ आदि पदों में स्रुव आदि साधनों से किये जानेवाले कार्य के विषय में जो अव्यवस्था की बात कही गई, वह ठीक नहीं है। स्रुव आदि साधनगत सामर्थ्य के अनुसार जिस साधन से जिस आहवनीय द्रव्य का अवदान सम्भव है, उसके अनुरूप कार्य किया जाना चाहिए।

नामपद अथवा आख्यातपद जिस अभिधाशक्ति के आधार पर अभिमत अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं, अर्थ के स्पष्ट करने अथवा निश्चय करने में उसका सहयोग बराबर बना रहता है। अवदान के साधन स्रुव की बनावट यह स्पष्ट करती है कि उसके द्वारा—द्रव पदार्थ को उसमें भरकर, राशि से पृथक् कर सुविधापूर्वक उसका (आहवनीय द्रव्य का) यथोचित उपयोग किया जा सकता है। जो पुरोडाश आदि आहवनीय द्रव्य दृढ़ व कठिन है, उसके अवदान के लिए स्रुव-साधन सर्वथा अनुपयुक्त है; वहाँ तो स्वधिति—छुरी का ही प्रयोग करना

उपयुक्त होगा। आज्य अदि द्रव पदार्थ के लिए स्वधिति का प्रयोग सर्वथा अनुपयुक्त है। इसी प्रकार चरु—सामग्री आदि शुष्क-बिखरे आहवनीय द्रव्य उचित मात्रा में उठाकर प्रयोग के लिए हस्त-साधन अधिक उपयुक्त होगा। चरु के अवदान के लिए स्रुव अथवा स्वधिति-साधन नितान्त अनुपयुक्त हैं। ऐसे ही हस्त-साधन तरल आज्य तथा दृढ़ पुरोडाश आदि के अवदान के लिए अनुपयुक्त है। फलतः स्रुव आदि साधन जिस आहवनीय द्रव्य के अवदान के लिए उपयुक्त है, उसका प्रयोग वहाँ करना चाहिए; अन्य साधन का नहीं।

जैसे लोक में कहा जाता है—‘कटे मुङ्क्ते’ चटाई पर खाता है; इसका यही तात्पर्य है—थाली में परोसे खाद्य पदार्थ को चटाई पर बैठकर खा रहा है; अन्य कोई अर्थ नहीं। इसी प्रकार ‘स्रुवेण अवद्यति’ जब कहा जाता है, उसका यही तात्पर्य है—तरल आज्य का स्रुव-साधन के द्वारा अवदान करता है; अन्य कोई अर्थ इसका सम्भव नहीं। ऐसे ही ‘स्वधितिना अवद्यति’ का अर्थ है—दृढ़ पुरोडाश आदि द्रव्य का स्वधिति से अवदान करता है; अन्य अर्थ नहीं। इसी प्रकार ‘हस्तेन अवद्यति’ का अर्थ है—शुष्क-बिखरे चरु-सामग्री आदि का अवदान हस्त-साधन से करता है; उपयुक्त समझ से इस अर्थ का निर्धारण हो जाता है। यह साधन के अनुसार द्रव्य की अथवा द्रव्य के अनुसार साधन की व्यवस्था है ॥३०॥ (इति सामर्थ्यानुसारेणाव्यवस्थितानां व्यवस्थाधिकरणम्—१६)।

इति श्री पूर्णसिंहतनुजनुषा तोहफादेवीगर्भजातेन बलियामण्डलान्तर्गत
‘छाता’ नगरनिवासी श्रीकाशीनाथशास्त्रिपादाब्जसेवालब्ध-
विद्योदयेन, बुलन्दशहरमण्डलान्तर्गत-पहासूपकण्ठ-बनैल-
ग्रामाभिजनेन, साम्प्रतं गाजियाबादनगरनिवा-
सिना—उदयबोर शास्त्रिणा समुन्नीते
अमिनीयमीमांसादर्शन विद्योदयभाष्ये
प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः।
सम्पूर्णश्चायं प्रथमोऽध्यायः।

अथ द्वितीयाध्याये प्रथमः पादः

(अपूर्वस्याऽऽख्यातपदप्रतिपाद्यताऽधिकरणम्—१)

प्रथम अध्याय में प्रेरणात्मक धर्म-प्रमाण का निरूपण सम्पन्न हुआ। उन प्रसंगों में विधि, अर्थवाद, मन्त्र, स्मृति का तात्त्विक निर्णय तथा गुणविधि एवं कर्मनामधेय का विवेचन किया गया। सन्दिग्ध अर्थों का वाक्यशेष के आधार पर निर्णय किया जाना बताया। आगे के प्रसंगों को यथायथ समझने के लिए उनका स्मरण रखना आवश्यक है।

प्रथम अध्याय में प्रेरणात्मक धर्म-प्रमाण का निरूपण सम्पन्न हुआ। सूत्रकार द्वारा साक्षात् न कहने पर भी मीमांसाशास्त्र में अन्य आचार्यों द्वारा यद्यपि प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि छह प्रमाण स्वीकृत हैं, परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में 'प्रमाण' पद से प्रत्यक्षादि का ग्रहण अभिप्रेत न होकर प्रेरणालक्षण धर्म को ही प्रमाण कहा है। वह प्रेरणालक्षण प्रमाण वेद है। सूत्रकार ने इसका निर्देश प्रारम्भिक पाँचवें सूत्र में किया है। वेद के शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध की नित्यता तथा उनसे सम्बद्ध प्रसंगागत अन्य विषयों का वर्णन प्रथम पाद में किया है। वह प्रेरणालक्षण धर्मरूप प्रमाण विधि, अर्थवाद, मन्त्र, स्मृति आदि भेद से अनेक प्रकार का है। तदनुसार द्वितीय पाद में विधि, अर्थवाद एवं मन्त्र-विषयक विचार किया है। अनन्तर तृतीय पाद में स्मृतियों के प्रामाण्य-अप्रामाण्य का विवेचन है। चतुर्थ पाद में गुणविधि और नामधेय पदों की परीक्षा तथा सन्दिग्धार्थ पदों के यथार्थ निर्णय के लिए वाक्यशेष को आधार बताया गया है। इस प्रकार प्रथम अध्याय 'प्रमाणलक्षण' नाम से पुकारा जाता है।

अब द्वितीय अध्याय में कर्म के प्राधान्य-अप्राधान्य एवं भेद-अभेद के विषय में विवेचन प्रस्तुत किया जाता है।

प्रेरणालक्षण धर्म क्रियानुष्ठानरूप माना गया है। क्रिया अथवा कर्म के भेदबोधक साधन छह प्रकार के बताये हैं। उनके आधार पर कर्म का भेद छह प्रकार का कहा जाता है। उन साधनों का निर्देश भाष्यकार ने—शब्दान्तर, अभ्यास, संख्या, गुण, प्रक्रिया, नामधेय के रूप में किया है। ये कारण जहाँ भी

आएँ, उनका विवेचन इस अध्याय में किये जाने से द्वितीय अध्याय को 'नाना-कर्मलक्षण' नाम दिया गया है।

प्रथम विचारणीय है, शास्त्र के प्रारम्भ में प्रेरणा-क्रियारूप वाक्य को धर्म कहा गया है। वे वाक्य हैं—'सोमेन स्वर्गकामो यजेत, अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः, अहरहः सन्ध्यामुपासीत' इत्यादि। क्रिया अनुष्ठानरूप होने से अनित्य है। यह देखा जाता है, सोमयाग, अग्निहोत्र, सन्ध्योपासना के सद्यः अनन्तर स्वर्ग आदि फल प्राप्त नहीं होता। इससे सोमयाग आदि क्रिया तथा स्वर्ग आदि फल परस्पर असम्बद्ध हो जाते हैं। अनुष्ठान तक यागादि क्रिया का अस्तित्व है; कालान्तर में जाकर स्वर्ग आदि फल प्राप्त होता है। क्रिया के नष्ट हो जाने पर फलप्राप्ति कैसे सम्भव है? जब कारण (क्रियारूप) ही न रहा, तो फल (स्वर्गादि) कैसे प्राप्त होगा? तब क्या ये वैदिक वाक्य अनर्गल हैं? नहीं; ये वाक्य सर्वथा युक्त हैं।

शास्त्रकार आचार्यों ने बताया है—कर्मानुष्ठान से अनुष्ठाता-आत्मा में धर्मविशेष की उत्पत्ति होती है। मीमांसा में उसको 'अपूर्व' पद से कहा जाता है। क्रियानुष्ठान 'अपूर्व' को उत्पन्न करता है, और अपूर्व स्वर्गादि फल को। इस प्रकार वह चोदनालक्षण क्रियानुष्ठान अपूर्वोत्पत्ति द्वारा स्वर्गादि फलप्राप्ति का कारण होता है।

उस प्रेरणालक्षण प्रत्येक वाक्य में पद अनेक होते हैं, और पदों का अपना अर्थ है। यहाँ सन्देह होता है, क्या वाक्यगत प्रत्येक पद पृथक्-पृथक् उस अपूर्व-संज्ञक धर्म का निर्देश करता है, अथवा वाक्य के सब पद मिलकर एक ही धर्म का निर्देश करते हैं? इसका समाधान करते हुए शास्त्रकार आचार्यों ने बताया, प्रत्येक वाक्य में पद दो प्रकार के होते हैं—एक नाम-पद, दूसरे आख्यात-पद। जैसे उक्त वाक्यों में सोम, अग्निहोत्र, सन्ध्या आदि नाम-पद हैं; यजेत, जुहुयात्, उपासीत आदि आख्यात-पद हैं। वह अपूर्व आख्यात-पदों से कहा जाता है। केवल आख्यात-पद क्रिया, भाव, भावना, उत्पादना का निर्देश करता है; वाक्यगत अन्य पद उसके सहयोगी रहते हैं। यद्यपि उक्त वाक्यों को किसी पद का साक्षात् अर्थ 'अपूर्व' नहीं है, परन्तु क्रिया के अनित्य होने, अर्थात् अनुष्ठानक्षण तक ही अवस्थायी होने एवं फल के कालान्तर में होने के कारण—वैदिक वाक्यों के सार्थकताहेतु—उनके पारस्परिक सम्बन्ध के लिए क्रिया और फल के अन्तराल में अपूर्व के अस्तित्व का अनुमान किया जाता है। इस प्रकार द्रव्य या गुण के वाचक नाम-पद क्रिया के निर्देशक न होकर केवल आख्यात-पद क्रिया का निर्देश करते हैं, इसी तथ्य को सूत्रकार ने स्पष्ट किया—

भावार्थाः कर्मशब्दास्तेभ्यः क्रिया प्रतीयेत, एष ह्यर्थो विधीयते ॥१॥

[भावार्थाः] भाव = क्रिया अर्थवाले 'यजेत, जुहुयात्' इत्यादि आख्यात-पद [कर्मशब्दाः] क्रिया के बोधक शब्द हैं। [तेभ्यः] उनसे [क्रिया] फल का किया जाना [प्रतीयेत] प्रतीत होवे, जाना जाए (तात्पर्य है, 'यजेत, जुहुयात्' आदि पद याग होम से सम्बद्ध स्वर्गादि फलों की सिद्धि को कहते हैं)। [एषः] यह [हि] क्योंकि [अर्थः] अर्थ—उक्त क्रियारूप धर्म [विधीयते] विधान किया गया है।

'यजेत' इत्यादि आख्यात-पद याग आदि अनुष्ठानरूप कर्म का बोध कराते हैं। वे कर्मानुष्ठान, उनसे (—कर्मों से) होने अर्थ के प्रयोजक हैं। सूत्र में 'क्रिया' पद कर्मानुष्ठानों से उत्पन्न होनेवाले 'अपूर्व' का संकेत करता है। 'तेभ्यः क्रिया प्रतीयेत'—इस पूरे वाक्य का यही अर्थ होता है कि—उन कर्मानुष्ठानों से उत्पन्न होनेवाला [क्रिया = किया जानेवाला] अपूर्व बोधित होता है। आख्यात-पदबोध्य याग आदि कर्मों का अनुष्ठान धर्म है, वह धर्म अपूर्व को उत्पन्न करता है, अपूर्व द्वारा स्वर्ग प्राप्त होता है, स्वर्ग की कामनावाला व्यक्ति इसी अभिप्राय से कर्मानुष्ठान में प्रवृत्त होता है। 'श्येनेन अभिचरन् यजेत, चित्रया यजेत पशुकामः, दर्श-पूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वाक्यों में आख्यात-पद के अतिरिक्त जो द्रव्य या गुणवाचक पद हैं, उनके अपने जो भी अर्थ हैं, उनके साथ—स्वर्ग या पशु आदि किसी भी कामनावाले व्यक्ति का सीधा सम्बन्ध नहीं होता; उसका सीधा सम्बन्ध आख्यात-पदबोध्य याग आदि के साथ होता है। द्रव्य या गुण-वाचक पद भी कोई साधनरूप से, कोई इतिकर्तव्य्यतारूप से याग के साथ सम्बद्ध होते हैं; वे अपूर्व के विधायक नहीं होते। फलतः आख्यात-पद अपूर्व के बोधक हैं, अन्य अपने निजी रूप से यागादि के सहयोगी ॥१॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—यदि द्रव्य-गुणवाचक पद याग आदि के सहयोगी हैं, तो उनको भी अपूर्व के विधायक व भावार्थक क्यों न माना जाय? आचार्य सूत्रकार ने शिष्यजिज्ञासा को सूत्रित किया—

सर्वेषां भावोऽर्थ इति चेत् ॥२॥

[सर्वेषाम्] 'सोमेन यजेत स्वर्गकामः' इत्यादि वाक्यगत द्रव्यवाचक एवं गुणवाचक सभी पदों का [भावः] भाव-भावना-उत्पादना, क्रिया [अर्थः] अर्थ है, [इति चेत्] यदि ऐसा कहो तो—(वह ठीक नहीं, अगले सूत्र के साथ सम्बन्ध है)।

जिज्ञासु का अभिप्राय है—'यजेत' इस आख्यात-पद में 'यज्' धात्वर्थ 'याग'

प्रत्यय 'त' से बोधित भावना की अपेक्षा करता है—'यजेत=यागेन भावयेत्'—याग से निष्पन्न करे, कुछ उत्पन्न करे। जैसे धात्वर्थ भावना की अपेक्षा करता है, ऐसे ही उक्त वाक्यों में—'श्येन, दर्श-पूर्णमास, स्वर्गकाम, सोम, अभिचरन्, चित्रा, पशुकाम' आदि पठित द्रव्यवाचक, गुणवाचक, कामनापरक आदि पद भी 'त' प्रत्ययबोधित भावना की अपेक्षा करते हैं। यदि ऐसा न माना जाय, तो वाक्य में इनका पठित होना असंगत हो जायगा। इसलिए 'यजेत' के समान श्येन आदि अन्य पदों को भी भावार्थक, अर्थात् अपूर्व का विधायक मानना चाहिए। धात्वर्थ के समान सोम, श्येन आदि पद भी अपने प्रयोग की सार्थकता के लिए साकांक्ष हैं; इनके उपयोग के बिना न क्रियानुष्ठान सम्भव है, न स्वर्गादि फलसिद्धि की आशा। अतः आकांक्षारूप उक्त समानता के रहते, आख्यात की सीमा से अन्य पदों को बाहर निकाल देना उचित न होगा ॥२॥

जिज्ञासा के आधार को लक्ष्य कर नाम और आख्यात के स्वरूप का यथाक्रम उपपादन करते हुए सूत्रकार ने अग्रिम दो सूत्रों से जिज्ञासा का समाधान किया—

**येषामुत्पत्तौ स्वे प्रयोगे रूपोपलब्धिस्तानि नामानि,
तस्मात्तेभ्यः पराकाङ्क्षा भूतत्वात् स्वे प्रयोगे ॥३॥**

[येषाम्] जिन 'सोमेन-यजेत' आदि पदों के [उत्पत्तौ] उत्पत्ति—अभिव्यक्ति—उच्चारण में [स्वे] अपने सोम आदि अर्थ को प्रकट करते समय [प्रयोगे] प्रयोग किये जाने पर [रूपोपलब्धिः] अपने अभिधेयरूप सोम की उपलब्धि हो जाती है, अर्थात् उसमें प्रत्यक्ष योग्यता होती है, [तानि] ऐसे पद [नामानि] नाम कहे जाते हैं। [तस्मात्] इस कारण (रूपोपलब्धि हो जाने के कारण) [तेभ्यः] उनके लिए [पराकाङ्क्षा] पर-अ-कांक्षा अन्य की—अन्य निष्पाद्य की काङ्क्षा नहीं रहती, [भूतत्वात्] सिद्ध होने से [स्वे प्रयोगे] अपने अभिधेय अर्थ की अभिव्यक्ति-समय प्रयोग किये जाने पर।

प्रत्येक पद का अपना अभिधेय अर्थ होता है; उस अर्थ को प्रकट करने के लिए जब उस पद का प्रयोग उच्चारण आदि रूप में किया जाता है, तब उसका वह अभिधेय अर्थ विद्यमान होने से प्रत्यक्ष रूप में उपलब्ध होने के योग्य है, तो वह पद अपने विद्यमान अर्थ को अभिव्यक्त कर निराकांक्ष हो जाता है। अपने विद्यमान अर्थ की अभिव्यक्ति कर देना पद-प्रयोग का प्रयोजन है। यही उसकी आकांक्षा है। अर्थ बोधित हो जाने पर उसकी आकांक्षा की पूर्ति हो जाती है। ऐसे सोम, श्येन, चित्रा, स्वर्गकाम, पशुकाम आदि पदों के अर्थ स्थायी हैं, विद्यमान हैं। इन पदों के प्रयोग होने पर इन अर्थों को उत्पन्न करने की अपेक्षा नहीं रहती। ऐसी दशा में जिज्ञासु ने ऐसे पदों को आख्यात-पदों की सीमा में लाने के लिए जो

एतत्सम्बन्धी आकांक्षा का निर्देश किया था, वह निराधार व असंगत हो जाता है ॥३॥

इसी प्रसंग में आख्यात का स्वरूप क्या है ? सूत्रकार ने बताया—

**येषां तूत्पत्तावर्थे स्वे प्रयोगो न विद्यते तान्याख्यातानि,
तस्मात्तेभ्यः प्रतीयेताश्रितत्वात् प्रयोगस्य ॥४॥**

[येषाम्] जिन पदों का [तु] तो [उत्पत्तौ] उच्चारणरूप उत्पत्ति के अवसर पर [अर्थे स्वे] अपने वाच्य अर्थ में [प्रयोगो न विद्यते] प्रयोग नहीं होता, अर्थात् पदों के उच्चारण-काल में उनका अर्थ विद्यमान नहीं रहता [तानि आख्यातानि] वे पद आख्यात = भाववाचक कहे जाते हैं। [तस्मात्] इस कारण [तेभ्यः] उन आख्यात-पदों से अपूर्व की [प्रतीयेत] प्रतीति-जानकारी की जाती है, [आश्रितत्वात्] आश्रित होने से, पुरुष के अधीन होने से [प्रयोगस्य] प्रयोग-यागानुष्ठान के।

‘यजेत’ पद के उच्चारण-काल में इसका अर्थ—क्रियानुष्ठानरूप याग तथा उससे निष्पाद्य अपूर्व—अपने वस्तु सत्-रूप में विद्यमान नहीं रहते। वह यागानुष्ठान पुरुष-प्रयत्न के अधीन है। पुरुष द्वारा यागानुष्ठान किये जाने पर ही उससे अपूर्व (संस्कारविशेष) की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार ‘यजेत’ पद स्वर्गकामना-वाले पुरुष को प्रेरित करता है कि वह यागानुष्ठान द्वारा अपूर्व को उत्पन्न करे। ‘यजेत’ का यही अर्थ है—‘यागेन भावयेत्’—यागसाधन से ‘भावना’ करे। भावना = अपूर्व का निष्पादन, यागानुष्ठान से अपूर्व का उत्पादन होकर, वह स्वर्गकामना को पूर्ण कराता है। इसके विपरीत सोम आदि द्रव्यवाचक एवं अन्य गुणवाचक पदों के अर्थ—सोम आदि द्रव्यों की वस्तुसत्ता—विद्यमानता—अपने अस्तित्व में आना अथवा अस्तित्व का लाभ करना पुरुष-प्रयत्न के अधीन नहीं है। सोम पद के उच्चारण से पहले ही उसके अर्थ सोम-वस्तु का अस्तित्व बना रहता है, उच्चारण के समय वह विद्यमान है। उस अर्थ की सत्ता के लिए पुरुष को कोई प्रयत्न नहीं करना, फलतः वह पद अपने अर्थ को बोधित कर निराकांक्ष हो जाता है, पुरुष को अपनी सिद्धि में प्रेरित नहीं करता; जबकि ‘यजेत’ पद धात्वर्थ—याग से निष्पाद्य ‘अपूर्व’ (जो अभी तक अपने अस्तित्व में नहीं है, इसीलिए अपूर्व है) के निष्पादन के लिए पुरुष को प्रेरित करता है। इसी कारण आख्यात-पदों को अपूर्व का उपपादक माना गया है। अन्य द्रव्य-गुणवाचक पद याग के साधनद्रव्यों व प्रक्रिया आदि को प्रस्तुत कर यागानुष्ठान में सहायक होते हैं ॥४॥ (इति अपूर्वस्य आख्यातपदप्रतिपाद्यताधिकरणम्—१)।

(अपूर्वस्यास्तित्वाधिकरणम्—२)

शिष्य जिज्ञासा करता है—अपूर्व आख्यात-पदप्रतिपाद्य है, यह तो बाद की बात है; पहले यह तो निश्चय किया जाय कि अपूर्व का अस्तित्व भी है, या नहीं? सूत्रकार ने बताया—

चोदना पुनरारम्भः ॥५॥

[चोदना] अपूर्व है, [पुनः] क्योंकि [आरम्भः] वैदिक वाङ्मय में स्वर्ग-साधन याग (=स्वर्गकामो यजेत) का आरम्भ = उपदेश किया गया है।

सूत्र के प्रथम पद का अर्थ यहाँ वह 'अपूर्व' है, जो यागानुष्ठान से निष्पन्न किया जाता अथवा उभारा जाता है। इस पद का कर्मवाचक विग्रह करने से उक्त अर्थ का लाभ होता है—'चोद्यते-आक्षिप्यते-उद्भाव्यते या सा चोदना'। यागानुष्ठान से चोदित, आक्षिप्त अथवा उद्भावित होती है, वह चोदना है। ऐसा तत्त्व केवल वह अपूर्व है। 'पुनः' पद 'यतः' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यह आज के भाषागत प्रयोगों से अनुमोदित है। अपूर्व का अस्तित्व क्यों मानना पड़ता है? क्योंकि वैदिक वाङ्मय में स्वर्ग की कामनावालों के लिए याग का विधान किया गया है। याग अनुष्ठानरूप क्रिया है; क्रिया केवल अनुष्ठान तक जीवित है, अपना अस्तित्व रखती है, आगे नष्ट हो जाती है। परन्तु वैदिक वाङ्मय में बताया गया याग का फल स्वर्ग, कालान्तर में प्राप्त होता है; उससे बहुत पहले यागरूप क्रियानुष्ठान के न रहने से स्वर्गफल का लाभ असम्भव होगा, क्योंकि कोई फल-कार्य बिना कारण के नहीं मिलता। तब वैदिक वाक्य—'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि अनर्थक—असंगत हो जाएगा, जो अभीष्ट नहीं, अथवा अनिष्ट है। उसकी सार्थकता व संगति को अक्षुण्ण रखने के लिए यह मानना न्याय्य है कि कर्मानुष्ठान अपूर्व-उद्भावन द्वारा स्वर्गफल को लाभ कराने में कारणरूप से विद्यमान रहता है।

यदि द्रव्य-गुणवाचक पदों को अपूर्व का विधायक माना जाता है, तो वह द्रव्यादि ही विधायक होगा, जिसका नामोल्लेखपूर्वक निर्देश किया गया है। यदि वह संस्कृत द्रव्य नष्ट हो जाय, अथवा उपलब्ध ही न हो, जैसे अब सोम उपलब्ध नहीं है, अथवा किसी प्रकार दूषित हो जाय, तो आधार द्रव्य आदि के न रहने से अपूर्व की उद्भावना ही न हो पाएगी। ऐसी अवस्था में आचार्यों ने यज्ञानुष्ठान की पूर्ति के लिए तो नष्ट, दूषित या अनुपलब्ध द्रव्य के प्रतिनिधि अन्य द्रव्य का विधान किया है; परन्तु वे यथाश्रुत द्रव्यादि न होने पर अपूर्व के उद्भावक नहीं माने जा सकते, अतः भाववाचक (=आख्यात) पद ही अपूर्व के बोधक है, यह सिद्धान्त निश्चित होता है। इससे अपूर्व का अस्तित्व निर्बाध प्रमाणित है ॥५॥ (इति अपूर्वस्यास्तित्वाधिकरणम्—२)।

(कर्मणां गुणप्रधानभावविभागाधिकरणम्—३)

शिष्य जिज्ञासा करता है—यह तो ज्ञात हो गया कि भाव पद ही कर्मजन्य अपूर्व के बोधक हैं; परन्तु भाव पद अनेक प्रकार के हैं—‘यजति, जुहोति, ददाति’ इत्यादि एक प्रकार है, तथा ‘दोग्धि, पिनष्टि, विलापयति’ इत्यादि दूसरा प्रकार है। उनमें सन्देह है—क्या ये सब प्रधान कर्मजन्य अपूर्व के बोधक हैं? अथवा इनमें कतिपय संस्कार-कर्म के ज्ञापक हैं? भावार्थक होने की समानता से सभी को प्रधान कर्म का वाचक क्यों न माना जाय? सूत्रकार आचार्य ने समाधान किया—

तानि द्वैधं गुणप्रधानभूतानि ॥६॥

[तानि] आख्यातपद-बोधित वे कर्म [द्वैधम्] दो प्रकार के हैं—[गुणप्रधान-भूतानि] गुणभूत = गौण और प्रधानभूत = मुख्य।

दो प्रकार के जो भाववाचक पद बताये हैं, उनमें कतिपय ‘यजति, जुहोति, ददाति’ प्रधान कर्म के वाचक हैं; कतिपय—‘दोग्धि, पिनष्टि, विलापयति’ संस्कार-कर्म के वाचक हैं। ये दो विभाग हैं—पहला मुख्य, दूसरा गौण। ये सभी भाववाचक पद अर्थवाले हैं, अथवा विशेष प्रयोजन रखते हैं। जैसे प्रधान भाववाचक पद स्वर्गसाधन अपूर्व का बोध कराते हैं, ऐसे ही गौण भाववाचक पद याग में उपयोगी द्रव्यों के संस्कार आदि से आंशिक अपूर्व का बोध कराते हैं। संस्कृत होकर निर्दोष द्रव्य का ही याग में उपयोग किया जाना शास्त्र-विहित है। प्रधान कर्म के अङ्गभूत होने से ये कर्म तत्सम्बन्धी अपूर्व के ज्ञापक तो होते हैं, परन्तु स्वर्ग के साधन अपूर्व के साक्षात् बोधक नहीं होते ॥६॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—इसमें निश्चायक हेतु क्या है कि एक प्रकार स्वर्ग-साधन अपूर्व का बोधक है, दूसरा नहीं? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

यैर्द्रव्यं न चिकीर्ष्यते तानि प्रधानभूतानि द्रव्यस्य गुणभूतत्वात् ॥७॥

[यैः] आख्यात-पदबोध्य जिन कर्मों के द्वारा [द्रव्यम्] याग-होम आदि में आहुति आदि रूप से प्रयुक्त होनेवाले द्रव्य—घृतसामग्री, चरु, पुरोडाश आदि [चिकीर्ष्यते] संस्कृत किए जाने के रूप में चिकीर्षित [न] नहीं हैं, [तानि] वे आख्यात-पद [प्रधानभूतानि] प्रधानभूत माने जाते हैं। क्योंकि याग, होम आदि की दृष्टि से [द्रव्यस्य] द्रव्य के [गुणभूतत्वात्] संस्कार आदि कार्य गौण होने से।

पूर्वोक्त आख्यात-पदों के विभाग के अनुसार कतिपय आख्यात-पदबोध्य कर्म

उन द्रव्यों के—कूटने, छानने, शोधने, पकाने आदि का विधान करते हैं, जो द्रव्य याग आदि अनुष्ठान के समय उपयोग में आते हैं। इसके विपरीत जो आख्यात-पद द्रव्य-संस्कार आदि कार्यों का विधान नहीं करते, ऐसे आख्यात-पदों से बोध्य कर्म प्रधान विभाग में आते हैं। उनका अनुष्ठान साक्षात् अपूर्वोत्पत्ति द्वारा स्वर्गफल-प्राप्ति का साधन होता है। यह प्रधान कर्म का लक्षण किया गया ॥७॥

अब गुणकर्म का लक्षण सूत्रकार ने बताया—

**यैस्तु द्रव्यं चिकीर्ष्यते गुणस्तत्र प्रतीयेत तस्य
द्रव्यप्रधानत्वात् ॥८॥**

[यैः] जिन आख्यात-पदों के द्वारा [तु] तो फिर [द्रव्यम्] द्रव्य-सम्बन्धी [चिकीर्ष्यते] संस्कार आदि करना अभीष्ट होता है, [गुणः] गुणकर्म [तत्र] वहाँ—ऐसे आख्यात-पदों में [प्रतीयेत] जाना जाता है। [तस्य] उस आख्यात-पदबोध्य कर्म के [द्रव्यप्रधानत्वात्] द्रव्यप्रधान होने से, द्रव्य का संस्कार ही उनका मुख्य लक्ष्य होने से।

ऐसे आख्यात-पदबोध्य कर्म गौण विभाग में आते हैं, जिनका मुख्य लक्ष्य—याग आदि प्रधान कर्मों के उपयोग में आनेवाले द्रव्यों का संस्कारमात्र है, जैसे—‘ब्रीहीन् अवहन्ति’ वाक्य है—धान कूटता है। यहाँ ‘अवहन्ति’ आख्यात का अर्थ धान कूटने तक सीमित है, इसका इतना ही प्रयोजन है—धान कूटकर चावल अलग और तुष—छिलका अलग कर दिया जाय। इसी प्रकार अन्य वाक्य है—‘तण्डुलान् पिनष्टि’—चावल पीसता है। यहाँ ‘पिनष्टि’ क्रिया चावल के पीस जाने पर सार्थक, सफल हो जाती है। ये इनके इष्ट फल हैं। अपने प्रयोग का फल सम्पन्न हो जाने से ये अन्य किसी फलोत्पत्ति की कल्पना के लिए षण्ड हैं। ये केवल प्रधान कर्म के लिए संस्कृत द्रव्यों को प्रस्तुत कर उनके उपयोगी मात्र हैं, परार्थ हैं। अतः ये गौण कर्म माने जाते हैं ॥८॥ इति कर्मणां गुणप्रधानभाव-विभागाधिकरणम्—३)।

(सम्मार्जनादीनामप्रधानताधिकरणम्—४)

शिष्य जिज्ञासा करता है—कर्मों के गुण-प्रधान भाव का विभाग होने पर भी कतिपय वाक्यों में सन्देह है। वाक्य हैं—‘स्रुचः सम्मार्ष्टि, अग्निं सम्मार्ष्टि, परिधिं सम्मार्ष्टि’—स्रुचों का, अग्नियों का, परिधियों का सम्मार्जन करता है, उन्हें साफ़ करता है; तथा ‘पुरोडाशं पर्यग्निकरोति’—पुरोडाश का पर्यग्निकरण करता है, अर्थात् पुरोडाश के चारों ओर अंगारों को प्रदक्षिणा के समान दाहिनी ओर से लगाकर चारों ओर घुमाता है। इनके विषय में सन्देह है—क्या ये सम्मार्जन और पर्यग्निकरण प्रधान कर्म हैं, अथवा गुणकर्म? सातवें सूत्र में

बताए नियम के अनुसार इनका कोई दृष्टफल प्रतीत न होने से इन्हें प्रधान कर्म क्यों न माना जाय ? सूत्रकार ने प्रथम शिष्य-जिज्ञासा को सूत्रित किया—

धर्ममात्रे तु कर्म स्यादनिर्वृत्तेः प्रयाजवत् ॥६॥

[धर्ममात्रे] धर्म—अपूर्व की उत्पत्ति के विषय में [तु] तो [कर्म] सम्मार्जन आदि कर्म [स्यात्] होंगे, अर्थात् सम्मार्जन आदि कर्म भी अपूर्व के उत्पादक होने से प्रधानकर्म माने जाने चाहिए। [अ-निर्वृत्तेः] सम्मार्जन आदि स्मृत् आदि द्रव्य के उपकारक हैं, इस बात की निर्वृत्ति—सिद्धि न होने से।

स्मृत् = जुहू, उपभृत् और ध्रुवा नामक तीनों यज्ञिय पात्रों का कुशा-तृणों से सम्मार्जन किया जाता है, इनके आगे-पीछे कुशा-तृण फिराकर इन्हें साफ किया जाता है। इसी प्रकार अग्नि के अंगारों पर राख आदि आ जाने से कुशा-तृणों द्वारा उसे भाड़ दिया जाता है, यही उसका सम्मार्जन है। ऐसे ही परिधियों का सम्मार्जन^१ होता है। पुरोडाश के पर्यग्निकरण^२ में तथा स्मृत् आदि के सम्मार्जन में कोई दृष्ट फल प्रतीत नहीं होता; अतः सप्तम सूत्र में बताई व्यवस्था के अनुसार इन कर्मों को अदृष्ट (अपूर्व) का उत्पादक प्रधानकर्म मानना चाहिए। जैसे 'प्रयाजान् यजति' वाक्य में 'प्रयाज कर्म से अपूर्व का उत्पादन करे' यह अर्थ जाना जाता है, ऐसे ही 'स्मृचः सम्मार्ष्टि' इत्यादि वाक्यों में 'स्मृच् आदि पात्रों के सम्मार्जन से अपूर्व को उत्पन्न करे' अर्थ विदित होता है; अतः इनको भी अपूर्वोत्पादक कर्म के विधायक वाक्य माना जाना उपयुक्त होगा ॥६॥

आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

तुल्यश्रुतित्वाद्वा इतरैः सधर्म^३ स्यात् ॥१०॥

[तुल्यश्रुतित्वात्] तुल्यश्रवण होने से, द्रव्यों में द्वितीया विभक्ति का, [वा] पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है—सम्मार्जन आदि प्रधान कर्म नहीं।

१. स्मृच् आदि के सम्मार्जन के विषय में वैदिक वाङ्मय के ये स्थल द्रष्टव्य हैं—
श० ब्रा०, १।३।१।१॥ तै० ब्रा० ३।३।१।१॥ कात्या० श्रौत० ३।१।१२॥
तै० ब्रा० ३।३।७।४॥ परिधि उन बसाद व ढाक की समिधाओं का नाम है, जो यज्ञकुण्ड के चारों पात्रोपयोग के लिए रक्खी जाती हैं।

यज्ञकुण्ड की आग को सुरक्षित रखने के लिए उसे ढाँपने के साधन या पात्र की नाम भी 'परिधि' है।

२. कात्या० श्रौत० २।१।२२॥ श्रौत पदार्थ निर्वचन, द्वितीया संस्करण, पृष्ठ १८, संख्या १४४; यु० मी० ।

३. 'सधर्मा' इति सुबोधिनीपाठः ।

[इतरैः] अन्य 'अवहनन' आदि गौण कर्मों के साथ [सधर्म] समान धर्मवाला [स्यात्] है।

'स्रुचः सम्मार्ष्टि' आदि वाक्यों में 'स्रुच्' आदि पद द्वितीया विभक्ति के साथ प्रयुक्त हैं। इन वाक्यों में द्वितीया विभक्ति 'ब्रीहीन् अवहन्ति, तण्डुलान् पिनष्टि' इत्यादि वाक्यों के समान ही सुनी जाती है। इन वाक्यों के सम्बन्ध में यह निश्चय किया गया है^१ कि द्वितीया विभक्ति कर्म कारक में होती है; पाणिनीय नियम [१।४।४६] के अनुसार 'कर्म' संज्ञा उसकी है, जो कर्त्ता को ईप्सिततम हो; अर्थात् कर्त्ता के अत्यन्त अभिलषित साधनद्रव्य की कर्म संज्ञा होती है। 'ब्रीहीन् अवहन्ति' में कर्त्ता को—अवहनन=कूटना क्रिया द्वारा—ब्रीहि-धानों को तुषरहित करना ही अत्यन्त अभीष्ट है, यह द्वितीया विभक्ति का प्रयोग स्पष्ट करता है। अवहनन द्वारा ब्रीहि का यह संस्कार दृष्टफल है। जहाँ दृष्टफल क्रिया का स्पष्ट प्रतीत होता है, वहाँ अदृष्ट (अपूर्व) की कल्पना अन्याय्य मानी गई है। इस प्रकार जैसे 'ब्रीहीन् अवहन्ति' इत्यादि वाक्य द्रव्य-संस्कार के विधायक होने से द्रव्यप्रधान हैं, और इसी आधार पर गौण कर्म माने जाते हैं, ठीक इसी प्रकार 'स्रुचः सम्मार्ष्टि' इत्यादि वाक्यों में भी 'स्रुच्' आदि पदों के साथ द्वितीया विभक्ति का श्रवण यह स्पष्ट करता है कि कर्त्ता को सम्मार्जन-क्रिया के प्रति 'स्रुच्' आदि साधनद्रव्य अत्यन्त अभिलषित हैं, और सम्मार्जन आदि द्वारा उनका संस्कार करना (सफाई आदि करना) ही उसे अभीष्ट है। अतः सम्मार्जन आदि का दृष्टफल स्पष्ट प्रतीत होने से उनके अदृष्ट फल की कल्पना करना अन्याय्य होगा। फलतः 'ब्रीहीन् अवहन्ति' इत्यादि वाक्यों के समान 'स्रुचः सम्मार्ष्टि' इत्यादि वाक्यों में भी द्वितीया विभक्ति के तुल्य श्रवण से उनके समान इन्हें भी प्रधान कर्म नहीं माना जा सकता ॥ १०॥

शिष्य पुनः जिज्ञासा करता है—क्या द्वितीया विभक्ति प्रधानकर्म में ही होती है, गौण कर्म में नहीं? सूत्रकार ने शिष्य-जिज्ञासा को सूत्रित किया—

द्रव्योपदेश इति चेत् ॥११॥

[द्रव्योपदेशः] द्रव्य का उपदेश=द्रव्य की प्रधानता का निर्देश 'स्रुचः सम्मार्ष्टि' इत्यादि वाक्यों में है, [इति चेत्] ऐसा यदि मानते हो, तो यह ठीक नहीं।

द्वितीया विभक्ति सर्वत्र प्रधान कर्म में ही हो, ऐसा नियम नहीं है; गुणभूत कर्म में भी द्वितीया विभक्ति देखी जाती है, जैसे—'सक्तुन् जुहोति' वाक्य है—सत्तुओं को आहुत करता है, अग्नि में उनकी आहुति देता है। यहाँ 'सक्तु' पद

गुणभूत है, प्रधान नहीं; क्योंकि यह याग या होम के लिए है; याग या होम प्रधान है, सक्तु नहीं। यहाँ गुणभूत में द्वितीया विभक्ति है। ऐसा ही 'स्रुचः सम्मार्ष्टि' आदि वाक्यों में मान लेना चाहिए। इसी प्रकार अन्य भी वाक्य हैं—'मारुतान् जुहोति'—मरुतों के लिए उद्दिष्ट पुरोडाशों को अग्नि में होमता है। यहाँ पर भी मारुत पुरोडाश होम के लिए हैं, होम प्रधान है, द्रव्य गुणभूत है; वहाँ द्वितीया विभक्ति है। ऐसा ही अन्य वाक्य—'एककपालं जुहोति' है। एक कपाल में संस्कृत पुरोडाश को अग्नि में होमता है। यहाँ होम के प्रधान होने पर गुणभूत द्रव्य पुरोडाश के लिए प्रयुक्त पद 'एककपाल' में द्वितीया विभक्ति है।

गुणभूत द्रव्य में द्वितीया विभक्ति के माने जाने से द्रव्य की अप्रधानता और सम्मार्जन-क्रिया की प्रधानता अवगत होती है। इससे सम्मार्जन को अपूर्व का उत्पादक क्यों न माना जाय ? ॥११॥

आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

न तदर्थत्वाल्लोकवत् तस्य च शेषभूतत्वात् ॥१२॥

[न] गुणभूत में द्वितीया विभक्ति होती है, यह कथन ठीक नहीं, [तदर्थत्वात्] होम के लिए होने से, [लोकवत्] लोक के समान, लोक में भी तदर्थ में द्वितीया विभक्ति देखी जाती है। [तस्य च] और उस स्रुच् आदि के [शेषभूतत्वात्] अङ्गभूत होने से; याग के लिए उपयोगी साधन आज्य आदि हवि के धारण करने में स्रुच् आदि अपेक्षित होने से उसके अङ्ग हैं।

द्वितीया विभक्ति गुणभूत में नहीं होती, यह प्रथम स्पष्ट किया जा चुका है। द्वितीया विभक्ति कर्म कारक में होती है; कर्म संज्ञा उसी पद की होती है, जिसका बोध्य अर्थ कर्ता को अत्यन्त अभिलषित हो। प्रश्न उठता है—याग या होम में द्रव्य गुणभूत है, और गुणभूत में द्वितीया विभक्ति नहीं होती, तो 'सक्तुन् जुहोति' वाक्य में गुणभूत 'सक्तु' द्रव्य पद से द्वितीया विभक्ति कैसे ? उत्तर स्पष्ट है—'सक्तुन् जुहोति' वाक्य का अर्थ है—'सक्तुभिर्हविर्द्रव्यैः होमं भावयेत्' सक्तु-संज्ञक हविर्द्रव्यों से होम को भावित करे—सिद्ध करे। 'जुहोति' क्रियापद में 'हु' का अर्थ 'होम' और 'ति' का अर्थ 'भावना' है। यहाँ पर कर्ता को अत्यन्त अभिलषित अर्थ होम है, जो 'जुहोति' में अन्तर्हित है। उस अत्यन्त ईप्सित होम का अनिवार्य साधनद्रव्य सक्तु है। यहाँ होम प्रधान और सक्तु गुणभूत हैं; परन्तु सक्तुओं के होमार्थ होने के कारण [तदर्थत्वात्] सक्तु पद के आगे द्वितीया विभक्ति औपचारिक है, गौण है। होम का अनिवार्य साधन होना ही यहाँ औपचारिकता है। तात्पर्य है—होम अपूर्व का उत्पादक है, वह प्रधानभूत है, सक्तु